# सिंघी जैन ग्रन्थमाला

## अद्यावधि मुद्रितग्रन्थनामावलि

१ मेरुतुङ्गाचार्यरचित **प्रबन्धचिन्तामणि** मूल-संस्कृत ग्रन्थ.
२ **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** बहुविध ऐतिह्यतथ्य-परिपूर्ण अनेक निबन्ध संचय.
३ राजशेखरसूरिरचित **प्रबन्धकोश.**
४ जिनप्रभसूरिकृत **विविधतीर्थकल्प.**
५ मेघविजयोपाध्यायकृत **देवानन्दमहाकाव्य.**
६ यशोविजयोपाध्यायकृत **जैनतर्कभाषा.**
७ हेमचन्द्राचार्यकृत **प्रमाणमीमांसा.**
८ भट्टाकलङ्कदेवकृत **अकलङ्कग्रन्थत्रयी.**
९ **प्रबन्धचिन्तामणि-हिन्दी भाषान्तर.**
१० प्रभाचन्द्रसूरिरचित **प्रभावकचरित.**
११ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायरचित **भानुचन्द्रगणि-चरित.**
१२ यशोविजयोपाध्यायविरचित **ज्ञानबिन्दुप्रकरण.**
१३ हरिषेणाचार्यकृत **बृहत्कथाकोश.**
१४ **जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग.**
१५ हरिभद्रसूरिविरचित **धूर्ताख्यान.**
१६ दुर्गदेवकृत **रिष्टसमुच्चय.**
१७ मेघविजयोपाध्यायकृत **दिग्विजयमहाकाव्य.**
१८ कवि अब्दुल रहमानकृत **सन्देशरासक.**
१९ भर्तृहरिकृत **शतकत्रयादि सुभाषितसंग्रह.**
२० शान्त्याचार्यकृत **न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति.**
२१ कवि धाहिल रचित **पउमसिरीचरिउ.**
२२ महेश्वरसूरिकृत **नाणपंचमीकहा.**
२३ **भद्रबाहुसंहिता.**
२४ जिनेश्वरसूरिकृत **कथाकोषप्रकरण.**

Life of Hemachandrāchārya: By Dr. G. Bühler.

## संप्रति मुद्र्यमाणग्रन्थनामावली

१ **खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि.**
२ **कुमारपालचरित्रसंग्रह.**
३ **विविधगच्छीयपट्टावलिसंग्रह.**
४ **जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, भाग २.**
५ **विज्ञप्तिसंग्रह** विज्ञप्ति महालेख-विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि अनेक विज्ञप्तिलेख समुच्चय.
६ उद्योतनसूरिकृत **कुवलयमालाकथा.**
७ उदयप्रभसूरिकृत **धर्माभ्युदयमहाकाव्य.**
८ **कीर्तिकौमुदी** आदि वस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह.
९ दामोदरकृत **उक्तिव्यक्ति प्रकरण.**
१० महामुनि गुणपालविरचित **जंबूचरित्र** (प्राकृत)
११ **जयपाहुडनाम** निमित्तशास्त्र.
१२ कोऊहलविरचित **लीलावतीकथा** (प्राकृत).
१३ गुणचन्द्रविरचित **मंत्रीकर्मचन्द्रवंशप्रबन्ध.**
१४ नयचन्द्रविरचित **हम्मीरमहाकाव्य.**
१५ महेन्द्रसूरिकृत **नर्मदासुन्दरीकथा.**
१६ **जिनदत्ताख्यानद्वय** (प्राकृत).
१७ स्वयंभूविरचित **पउमचरिउ** (अपभ्रंश).
१८ सिद्धिचन्द्रकृत **काव्यप्रकाशखण्डन.**
१९ जयसिंहसूरिकृत **धर्मोपदेशमाला.**
२० कौटल्यकृत **अर्थशास्त्र-सटीक.**

## मुद्रणार्थ निर्धारित एवं सज्जीकृतग्रन्थनामावलि

१ भानुचन्द्रगणिकृत विवेकविलासटीका. २ पुरातन रास-भासादिसंग्रह. ३ प्रकीर्ण वाङ्मय प्रकाश. ४ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायविरचित वासवदत्ताटीका. ५ देवचन्द्रसूरिकृत मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति. ६ रत्नप्रभाचार्यकृत उपदेशमाला टीका. ७ यशोविजयोपाध्यायकृत अनेकान्तव्यवस्था. ८ जिनेश्वराचार्यकृत प्रमालक्षण. ९ महानिशीथसूत्र. १० तरुणप्रभाचार्यकृत आवश्यकबालावबोध. ११ राठोडवंशावलि. १२ उपकेशगच्छप्रबन्ध. १३ वर्द्धमानाचार्यकृत गणरत्नमहोदधि. १४ प्रतिष्ठासोमकृत सोमसौभाग्यकाव्य. १५ नेमिचन्द्रकृत षष्ठीशतक (पृथक् पृथक् ३ बालावबोधयुक्त). १६ शीलांकाचार्य विरचित महापुरुषचरित्र (प्राकृत महाग्रन्थ). १७ चंदप्पहचरियं (प्राकृत). १८ नेमिनाहचरित्र (अपभ्रंश महाग्रन्थ). १९ उपदेशपदटीका (वर्द्धमानाचार्यकृत). २० निर्वाणलीलावती कथा (सं. कथा ग्रन्थ). २१ सनत्कुमारचरित्र (संस्कृत काव्यग्रन्थ). २२ राजवल्लभ पाठककृत भोजचरित्र. २३ प्रमोदमाणिक्यकृत वाग्भटालंकारवृत्ति. २४ सोमदेवादिकृत विदग्धमुखमण्डनवृत्ति. २५ समयसुन्दरादिकृत वृत्तरत्नाकरवृत्ति. २६ पाण्डित्यदर्पण. २७ पुरातन प्रबन्धसंग्रह–हिन्दी भाषान्तर. २८ भुवनभानुचरित्र बालावबोध. २९ भुवनसुन्दरी चरित्र (प्राकृतकथा) इत्यादि, इत्यादि.

# विषयानुक्रमणिका


स्व० बाबू श्री बहादुरसिंहजी सिंघी और सिंघी जैन ग्रन्थमाला – स्मरणांजलि

प्रास्ताविक वक्तव्य ११–१६

पृष्ठ

* कथाकोष प्रकरण और जिनेश्वरसूरि *

१ प्रस्तुत कथाकोष प्रकरणका प्रकाशन १–२
- प्रस्तुतग्रन्थकी प्राप्त प्रतियां १

२ जिनेश्वर सूरिका समय और तत्कालीन परिस्थिति २–७
- जिनेश्वर-सूरिके समयमें जैन यतिजनोंकी अवस्था ३
- अणहिल्लपुरमें चैत्यवासियोंका प्रभाव ३
- जिनेश्वर सूरिका चैत्यवासियोंके विरुद्ध आन्दोलन ४
- विधिपक्ष अथवा खरतरगच्छका प्रादुर्भाव और गौरव ५
- जिनेश्वर सूरिके जीवनका अन्य यतिजनोंपर प्रभाव ६
- जिनेश्वरसूरिसे जैनसमाजमें नूतन युगका आरंभ ६

३ जिनेश्वर सूरिके जीवनचरितका साहित्य ७–१९
- बुद्धिसागराचार्यकृत उल्लेख ८
- जिनभद्राचार्यकृत उल्लेख १०
- जिनचन्द्रसूरिकृत उल्लेख ११
- अभयदेवसूरिकृत उल्लेख १२
- वर्द्धमानाचार्यकृत उल्लेख १३
- देवभद्राचार्यकृत उल्लेख १४
- जिनदत्तसूरिकृत उल्लेख १५

४ जिनेश्वरसूरिके चरितकी साहित्यिक सामग्री २१

५ जिनेश्वरसूरिकी पूर्वावस्थाका परिचय २२–२६

६ जिनेश्वरसूरिके चरितका सार २६–४३

पृष्ठ

- गणधरसार्धशतक तथा बृहद्गुर्वावलिके वर्णनका सार २६–३३
- सोमतिलकसूरि वर्णित जिनेश्वर सूरिके चरितका सार ३३–३५
- वृद्धाचार्य प्रबन्धावलिगत जिनेश्वर सूरिके चरितका सार ३६–३७
- कथाओंके सारांशका तारण ३७
- अणहिल्लपुरके प्रसिद्ध जैन मन्दिर और जैनाचार्य ३८–४१
- जिनेश्वर सूरिकी कार्यसफलता ४१–४३

७ जिनेश्वर सूरिकी ग्रन्थरचना ४३–७२
- जिनेश्वरीय ग्रन्थोंके विषयमें कुछ विशेष विवेचन ४४
- (१) हारिभद्रीय अष्टकप्रकरणवृत्ति ४४
- (२) चैत्यवन्दनविवरण ४७
- (३) षट्स्थानक प्रकरण ४९
- (४) पंचलिंगी प्रकरण ५४
- (५) प्रमालक्ष्म अथवा प्रमालक्षण ५७
- (६) निर्वाणलीलावती कथा ६०
  - जैनकथासाहित्यका कुछ परिचय ६७
  - निर्वाणलीलावती कथासारका संक्षिप्त परिचय ७०

(७) कथाकोश प्रकरण ७३–१२४
- शालिभद्रकी कथाका सार ७५
- सिंहकुमार नामक राजकुमारकी कथाका सार ७९
- जैनसांप्रदायिक विचारोंकी चर्चाका कुछ चित्रण ८२

| | पृष्ठ |
|---|---|
| मनोरथश्रावककी कथाका सार | ८३ |
| रामका कहा हुआ लौकिक आख्यान | ८४ |
| दत्तका कहा हुआ आख्यान | ८५ |
| पार्श्वश्रावकका कहा हुआ कथानक | ८७ |
| ,, ईश्वरकथानक | ८८ |
| यक्ष श्रावकका कथानक | ९१ |
| वस्त्रदानपर धनदेवकी कथा | ९२ |
| जैनमन्दिरोंकी पूजाविधिके विषयमें कुछ विचारणीय चर्चा | ९३ |
| जिनमन्दिरके विधान विषयमें धवलवणिकूपुत्रकी कथा | ९४ |
| कुन्तला रानीका आख्यान | ९८ |
| सावद्याचार्यका आख्यान | ९९ |
| वणिकपुत्र दृष्टान्त | १०० |
| संप्रदायभेद होनेके सूचक कथानक | १०६ |
| गुरुविरोधी मुनिचन्द्र साधुका कथानक | १०७ |
| श्वेताम्बर-दिगम्बर संघर्ष सूचक कथा | ११० |
| जैन और बौद्ध भिक्षुओंके संघर्षकी कथा | १११ |
| ब्राह्मण धर्मीय सांप्रदायिकोंके साथ जैन साधुओंका संघर्ष | ११६ |
| त्रिदंडी भक्त कमलवणिकूका कथानक | ११६ |
| शौचवादी ब्राह्मण भक्त कौशिक वणिकूका कथानक | ११९ |
| ब्राह्मणके उपद्रवसे जैन साधुकी रक्षा करनेवाले धनदेव श्रावकका कथानक | १२० |
| जिनेश्वर सूरिका विविध विषयक शास्त्रोंका परिज्ञान | १२३ |


## परिशिष्टात्मक


| | |
|---|---|
| गणधरसार्धशत प्रकरणान्तर्गत जिनेश्वर-सूरि चरितवर्णनम् | १–२२ |
| खरतरगच्छपट्टावलिगतोल्लेख | २३–२४ |


## ❀ कथाकोषप्रकरण मूलग्रन्थानुक्रम ❀


| | | | | पृष्ठ |
|---|---|---|---|---|
| ग्रन्थकारसूचितअभिधेयप्रयोजनादिकम् | | | | १ |
| १ | जिनपूजाविषयक | शुकमिथुनककथानकम् | | २–११ |
| २ | ,, | नागदत्तकथानकम् | | ११–२१ |
| ३ | ,, | जिनदत्त | ,, | २१–२७ |
| ४ | ,, | सूरसेना | ,, | २७–३४ |
| ५ | ,, | श्रीमाली | ,, | ३४–३६ |
| ६ | ,, | रोरनारी | ,, | ३७–३८ |
| ७ | जिनवन्दने | विष्णुदत्त नागदत्तकथानकम् | | ३८–३ |
| ८ | जिनगुणगाने | सिंहकुमार | ,, | ३९–४ |
| ९ | साधुवैयावृत्त्ये | भरतचक्रवर्ति | ,, | ५०–५ |
| १० | साधुदानफले | शालिभद्र | ,, | ५५–६ |
| ११ | ,, | कृतपुण्य | ,, | ६४–६ |
| १२ | ,, | आर्याचन्दना | ,, | ७०–७ |
| १३ | ,, | मूलदेव | ,, | ७२–७ |
| १४ | ,, | पूर्णश्रेष्ठि | ,, | ७४–७ |
| १५ | ,, | सुन्दरी | ,, | ७६–७ |
| १६ | ,, | मनोरथ | ,, | ७८–८१ |
| [ रामकथितलौकिकाख्यानकम् ] | | | | ७९–८० |
| [ दत्तश्रावककथिताख्यानकम् ] | | | | ८०–८ |
| [ पार्श्वश्रावकोक्त पुण्डरीकाख्यानम् ] | | | | ८२–८ |
| [ पार्श्वश्रावककथितमीश्वराख्यानम् ] | | | | ८३–८ |
| १७ | ,, | हरिणकथानकम् | | ८५–९० |
| १८ | ,, | घृतदान | ,, | ९१–९ |
| १९ | ,, | वसतिदान | ,, | ९२–९ |
| २० | ,, | वस्त्रदान | ,, | ,, |
| २१ | ,, | वरश्राद्ध | ,, | ९४–९५ |
| २२ | ,, | सुभद्रा | ,, | ९५–१०१ |
| २३ | ,, | मनोरमा | ,, | १०१–१० |
| २४ | शासनोन्नतिकरणविषयक | श्रेणिक | ,, | १०४–१०५ |
| २५ | ,, ,, | दत्त | ,, | ,, |
| २६ | शासनदोषोद्भावने | जयदेव | ,, | १०६–१०९ |
| २७ | ,, ,, | देवड | ,, | १०९–११२ |
| २८ | ,, ,, | दुद्द | ,, | ११२–११३ |
| २९ | साधुगणदोषदर्शने | कौशिकवणिक् | ,, | ११३–११४ |
| ३० | ,, ,, | कमल | ,, | ११५–११६ |
| ३१ | साधुजनापमाननिवारणे | धनदेव | ,, | ११७–१२५ |
| ३२ | विपरीतज्ञानफले | धवल | ,, | १२५–१३५ |
| [ सावद्याचार्यकथानकम् ] | | | | १३१ |
| [ वणिग्दारकदृष्टान्तः ] | | | | ,, |
| ३३ | जैनधर्मोत्साहप्रदाने | प्रद्युम्नराज | ,, | १३५–१५० |
| ३४ | विपरीतधर्मकथाकरणे | मुनिचन्द्रसाधु | ,, | १५०–१६० |
| ३५ | शासनोन्नतिकरणे | जयसेनसूरि | ,, | १६०–१७१ |
| ३६ | जैनधर्मोत्साहप्रदाने | सुन्दरीदत्त | ,, | १७१–१७९ |
| कथानकगतवक्तव्यशेषम् | | | | १७९ |
| ग्रन्थलेखकप्रशस्तिः | | | | १८१ |
| कथानककोशप्रकरण-मूलसूत्रपाठ | | | | १८२–१८४ |

# समर्पण

३५ वर्ष जितने जीवनके विशिष्ट कालव्यापी

शास्त्रावगाहक, सौहार्दपूर्ण, सहचार एवं सहकार

की

सुखद स्मृतिके समुपलक्ष्यार्थ

प्र ज्ञा न न य न - प ण्डि त प्र व र

## *श्री सु ख ला ल जी*

के

करकमलमें

*

—जि न वि ज य

# स्व० बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी
# और
# सिंघी जैन ग्रन्थमाला

*

## [स्मरणाञ्जलि]

मेरे अनन्य आदर्शपोषक, कार्यसाधक, उत्साहप्रेरक और सहृदय स्नेहास्पद बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी, जिन्होंने मेरी विशिष्ट प्रेरणासे, अपने स्वर्गवासी साधुचरित पिता श्री डालचंदजी सिंघीके पुण्यस्मरण निमित्त, इस 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' की कीर्तिकारिणी स्थापना करके, इसके लिये प्रतिवर्ष हजारों रुपये खर्च करनेकी आदर्श उदारता प्रकट की थी; और जिनकी ऐसी असाधारण ज्ञानभक्तिके साथ अनन्य आर्थिक उदारवृत्ति देख कर, मैंने भी अपने जीवनका विशि॰ शक्तिशाली और बहुत ही मूल्यवान् अवशेष उत्तर काल, इस ग्रन्थमालाके ही विकास और प्रकाश॰ लिये सर्वात्मना रूपसे समर्पित कर दिया था; तथा जिन्होंने इस ग्रन्थमालाका विगत १३-१४ वर्षोंमें ऐसा सुंदर, समृद्ध और सर्वादरणीय कार्यफल निष्पन्न हुआ देख कर, भविष्यमें इसके कार्यको और अधिक प्रगतिमान तथा विस्तीर्ण रूपमें देखनेकी अपने जीवनकी एक मात्र परम अभिलाषा रखी थी; और तदनुसार, मेरी प्रेरणा और योजनाका अनुसरण करके प्रस्तुत ग्रन्थमालाकी प्रबन्धात्मक कार्यव्यवस्था 'भारतीय विद्याभवन' को समर्पित कर देनेकी महती उदारता दिखा कर, जिन्होंने इसके भावीके सम्बन्धमें निश्चिंत हो जानेकी आशा की थी; वह पुण्यवान्, साहित्यरसिक, उदारमनस्क, अमृताभिलाषी, अभिनन्दनीय आत्मा, अब इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनोंको प्रत्यक्ष देखनेके लिये इस संसारमें विद्यमान् नहीं है। सन् १९४४ की जुलाई मासकी ७ वीं तारीखको, ५९ वर्षकी अवस्थामें वह महान् आत्मा इस लोकमेंसे प्रस्थान कर गया। उनके भव्य, आदरणीय, स्पृहणीय, और श्लाघनीय जीवनको अपनी कुछ स्नेहात्मक 'स्मरणांजलि' प्रदान करनेके निमित्त, उनके जीवनका थोडासा संक्षिप्त परिचय आलेखित करना यहां योग्य होगा।

सिंघीजीके जीवनके साथके मेरे खास खास स्मरणोंका विस्तृत आलेखन, मैंने उनके ही 'स्मारक ग्रन्थ' के रूपमें प्रकाशित किये गये 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिकाके तृतीय भागकी अनुपूर्तिमें किया है। उनके सम्बन्धमें विशेष जाननेकी इच्छा रखने वाले वाचकोंको वह 'स्मारक ग्रन्थ' देखना चाहिये।

*

बाबू श्री बहादुर सिंहजीका जन्म बंगालके मुर्शिदाबाद परगनेमें स्थित अजीमगंज नामक स्थानमें संवत् १९४१ में हुआ था। वह बाबू डालचंदजी सिंघीके एकमात्र पुत्र थे। उनकी माता श्रीमती मन्नु-कुमारी अजीमगंजके ही बैद कुटुम्बके बाबू जयचंदजीकी सुपुत्री थी। श्री मन्नकुमारीकी एक बहन जगतसेठजीके यहाँ ब्याही गई थी और दूसरी बहन सुप्रसिद्ध नाहर कुटुम्बमें ब्याही गई थी। कलकत्ताके स्व० सुप्रसिद्ध जैन स्कॉलर और अग्रणी व्यक्ति बाबू पूरणचंदजी नाहर, बाबू बहादुर सिंहजी सिंघीके मौसेरे भाई थे। सिंघीजीका ब्याह बालुचर-अजीमगंजके सुप्रसिद्ध धनाढ्य जैनगृहस्थ लक्ष्मीपत सिंहजीकी पौत्री और छत्रपत सिंहजीकी पुत्री श्रीमती तिलकसुंदरीके साथ, संवत् १९५४ में हुआ था। इस प्रकार श्री बहादुर सिंहजी सिंघीका कौटुम्बिक सम्बन्ध बंगालके खास प्रसिद्ध जैन कुटुम्बोंके साथमें प्रगाढ रूपसे संकलित था।

बाबू श्री बहादुर सिंहजीके पिता बाबू डालचंदजी सिंघी बंगालके जैन महाजनोंमें एक बहुत ही प्रसिद्ध और सच्चरित पुरुष हो गये हैं। वह अपने अकेले स्वपुरुषार्थ और स्वउद्योगसे, एक बहुत ही साधारण स्थितिके व्यापारीकी कोटिमेंसे कोट्यधिपतिकी स्थितिको पहुँचे थे और सारे बंगालमें एक सुप्रतिष्ठित और प्रामाणिक व्यापारीके रूपमें उन्होंने विशिष्ट ख्याति प्राप्त की थी। एक समय वे बंगालके सबसे

मुख्य व्यापार जूटके सबसे बड़े व्यापारी हो गये थे। उनके पुरुषार्थसे उनकी व्यापारी पेढी जो हरिसिंह निहालचंदके नामसे चलती थी, वह बंगालमें जूटका व्यापार करनेवाली देशी तथा विदेशी पेढीयोंमें सबसे बड़ी पेढी गिनी जाने लगी।

बाबू डालचंदजी सिंघीका जन्म संवत् १९२१ में हुआ था और १९३५ में उनका श्रीमन्नुकुमारीके साथ विवाह हुआ। १४–१५ वर्षकी अवस्थामें डालचंदजीने अपने पिताकी दुकानका कारभार, जो कि उस समय बहुत ही साधारणरूपसे चलता था, अपने हाथमें लिया। वह अजीमगंज छोड कर कलकत्ता आये और वहाँ उन्होंने अपनी परिश्रमशीलता तथा उच्च अध्यवसायके द्वारा कारभारको धीरे धीरे बहुत ही बढाया और अंतमें उसको एक सबसे बड़े 'फर्म'के रूपमें स्थापित किया। जिस समय कलकत्तामें 'जूट बेलर्स एसोसिएशन'की स्थापना हुई, उस समय बाबू डालचंदजी सिंघी उसके सर्वप्रथम प्रेसिडेण्ट बनाये गये। जूटके व्यापारमें इस प्रकार सबसे बड़ा स्थान प्राप्त करनेके बाद उन्होंने अपना लक्ष्य दूसरे दूसरे उद्योगोंकी ओर भी दिया। एक ओर उन्होंने मध्यप्रान्तस्थित कोरीया स्टेटमें कोयलेकी खानोंके उद्योगकी नींव डाली और दूसरी ओर दक्षिणके शकति और अकलतराके राज्योंमें स्थित चूनेके पत्थरोंकी खानोंके तथा बेलगाम, सावंतवाडी, इचलकरंजी जैसे स्थानोंमें आई हुई 'बोक्साइट' की खानोंके विकासकी शोधके पीछे अपना लक्ष्य केन्द्रित किया। कोयलेके उद्योगके लिये उन्होंने 'मेसर्स डालचंद बहादुरसिंह' इस नामकी नवीन पेढीकी स्थापना की; जो कि आज हिंदुस्तानमें एक अग्रगण्य पेढी गिनी जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बंगालके चोवीसपरगना, रंगपुर, पूर्णिया आदि परगनोंमें बड़ी जमींदारी भी खरीदी और इस प्रकार बंगालके नामांकित जमींदारोंमें भी उन्होंने अपना खास स्थान प्राप्त किया। बाबू डालचंदजीकी ऐसी सुप्रतिष्ठा केवल व्यापारिक क्षेत्रमें ही मर्यादित नहीं थी। वह अपनी उदारता और धार्मिकताके लिये भी उतने ही सुप्रसिद्ध थे। उनकी परोपकारवृत्ति भी उतनी ही प्रशंसनीय थी। परंतु साथमें परोपकारसुलभ प्रसिद्धिसे वे दूर रहते थे। बहुत अधिक परिमाणमें वे गुप्त रीतिसे ही अर्थी जनोंको अपनी उदारताका लाभ दिया करते थे। उन्होंने अपने जीवनमें लाखोंका दान किया होगा; परंतु उसकी प्रसिद्धिकी कामना उन्होंने स्वप्नमें भी नहीं की। उनके सुपुत्र बाबू श्री बहादुर सिंहजीने प्रसंगवश मुझे कहा था कि 'वे जो कुछ दान आदि करते थे उसकी खबर वे मुझ तकको भी न होने देते थे।' इसलिये उनके दान सम्बन्धी केवल २–४ प्रसङ्गोंकी ही खबर मुझे प्राप्त हो सकी थी।

सन् १९२६ में 'चित्तरंजन सेवा सदन' के लिये कलकत्तामें चंदा किया गया था। उस समय एक वार खुद महात्माजी उनके मकान पर गये थे तब उन्होंने विना माँगे ही महात्माजीको इस कार्यके लिये १०००० दस हजार रुपये दिये थे।

१९१७ में कलकत्तामें 'गवर्नमेण्ट हाउस' के मेदानमें, लॉर्ड कार्माइकलके सभापतित्वमें रेडक्रॉसके लिये एक उत्सव हुआ था उसमें उन्होंने २१००० रुपये दिये थे; तथा प्रथम महायुद्धके समय उन्होंने ३,००,००० रुपये के 'वॉर बॉण्डस' खरीद कर सरकारी चंदेमें मदद की थी। अपनी अंतिम अवस्थामें उन्होंने अपने निकट कुटुम्बी जनोंको – जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण प्रकारकी थी उनको – बारह लाख रुपये बांट देनेकी व्यवस्था की थी; जिसका पालन उनके सुपुत्र बाबू बहादुर सिंहजीने किया था।

बाबू डालचंदजीका गार्हस्थ्यजीवन बहुत ही आदर्शरूप था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मन्नुकुमारी एक आदर्श और धर्मपरायणा पत्नी थी। पति-पत्नी दोनों सदाचार, सुविचार और सुसंस्कारकी मूर्ति जैसे थे। डालचंदजीका जीवन बहुत ही सादा और साधुत्वसे परिपूर्ण था। व्यवहार और व्यापार दोनोंमें उनका अत्यंत प्रामाणिक और नीतिपूर्वक वर्तन था। स्वभावसे वे बहुत ही शान्त और निरभिमानी थे। ज्ञानमार्गके ऊपर उनकी गहरी श्रद्धा थी। उनकी तत्त्वज्ञानविषयक पुस्तकोंके पठन और श्रवणकी ओर अत्यधिक रुचि रहती थी। क्रिस्नगर कॉलेजके एक अध्यात्मलक्षी बंगाली प्रोफेसर बाबू व्रजलाल अधिकारी, जो योगविषयक प्रक्रियाके अच्छे अभ्यासी और तत्त्वचिंतक थे, उनके सहवाससे बाबू डालचंदजीकी भी यौगिक प्रक्रियाकी ओर खूब रुचि हो गई थी और इसलिये उन्होंने उनके पाससे इस विषयकी कुछ खास प्रक्रियाओंका गहरा अभ्यास भी किया था। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक पवित्रताका जिससे विकास हो ऐसी ,व्यावहारिक जीवनके लिये अत्यंत उपयोगी, कितनी ही यौगिक प्रक्रियाओंकी ओर, उन्होंने अपनी पत्नी तथा पुत्र-पुत्री आदिको भी अभ्यास करनेके लिये प्रेरित किये थे।

जैन धर्मके विशुद्ध तत्त्वोंके प्रचार और सर्वोपयोगी जैन साहित्यके प्रकाशनके लिये भी उनकी खास रुचि थी और पंडितप्रवर सुखलालजीके परिचयके बाद इस कार्यके लिये कुछ विशेष सक्रिय प्रयत्न करनेकी उनकी उत्कण्ठा जाग उठी थी । इस उत्कण्ठा को मूर्तरूप देनेके लिये वे कलकत्तामें २-४ लाख रुपये खर्च करके किसी साहित्यिक या शैक्षणिक केन्द्रको स्थापित करनेकी योजनाका विचार कर ही रहे थे जितनेमें एकाएक सन् १९२७ ( वि. सं. १९८४ )में उनका स्वर्गवास हो गया ।

*

बाबू डालचंदजी सिंघी, अपने समयके बंगाल निवासी जैन-समाजमें एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यापारी, दीर्घदर्शी उद्योगपति, बडे जमींदार, उदारचेता सद्गृहस्थ और साधुचरित सत्पुरुष थे । वे अपनी यह सर्व सम्पत्ति और गुणवत्ताका समग्र वारसा अपने सुयोग्य पुत्र बाबू बहादुर सिंहजीके सुपुर्द कर गये, जिन्होंने अपने इन पुण्यश्लोक पिताकी स्थूल सम्पत्ति और सूक्ष्म सत्कीर्ति – दोनोंको बहुत ही सुंदर प्रकारसे बढ़ा कर पिताकी अपेक्षा भी सवाई श्रेष्ठता प्राप्त करनेकी विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त की थी ।

बाबू श्री बाहादुर सिंहजीमें अपने पिताकी व्यापारिक कुशलता, व्यावहारिक निपुणता और सांस्कारिक सन्निष्ठा तो संपूर्ण अंशमें वारसेके रूपमें उतरी ही थी; परन्तु उसके अतिरिक्त उनमें बौद्धिक विशदता, कलात्मक रसिकता और विविधविषयग्राहिणी प्राञ्जल प्रतिभाका भी उच्च प्रकारका सन्निवेश हुआ था और इसलिये वे एक असाधारण व्यक्तित्व रखनेवाले महानुभावोंकी पंक्तिमें स्थान प्राप्त करनेकी योग्यता हासिल कर सके थे ।

वे अपने पिताके एकमात्र पुत्र थे, अतएव उन पर, अपने पिताके विशाल कारभारमें, बचपनसे ही विशेष लक्ष्य देनेका कर्तव्य आ पड़ा था। फलस्वरूप वे हाइस्कूलका अभ्यास पूरा करनेके सिवाय कॉलेजमें जा कर अधिक अभ्यास करनेका अवसर प्राप्त नहीं कर सके थे । फिर भी उनकी ज्ञानरुचि बहुत ही तीव्र थी, अतएव उन्होंने स्वयमेव विविध प्रकारके साहित्यके वाचनका अभ्यास खूब ही बढ़ाया और इसलिये वे अंग्रेजीके सिवाय, बंगाली, हिंदी, गुजराती भाषाएँ भी बहुत अच्छी तरह जानते थे और इन भाषाओंमें लिखित विविध पुस्तकोंके पठनमें सतत निमग्न रहते थे ।

बचपनसे ही उन्हें प्राचीन वस्तुओंके संग्रहका भारी शौक लग गया था और इसलिये वे प्राचीन सिक्कों, चित्रों, मूर्तियों और वैसी दूसरी दूसरी मूल्यवान् चीजोंका संग्रह करनेके अत्यन्त रसिक हो गये थे । इसके साथ उनका जवाहिरातकी ओर भी खूब शौक बढ गयाथा अतः वे इस विषयमें भी खूब निष्णात बन गये थे । इसके परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पास सिक्कों, चित्रों, हस्तलिखित बहुमूल्य पुस्तकों आदिका जो अमूल्य संग्रह एकत्रित किया वह आज हिंदुस्तानके इने गिने हुए नामी संग्रहोंमें, एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करे-ऐसा है । उनके प्राचीन सिक्कोंका संग्रह तो इतना अधिक विशिष्ट प्रकारका है कि उसका आज सारी दुनियामें तीसरा या चौथा स्थान आता है । वे इस विषयमें इतने निपुण हो गये थे कि बड़े बड़े म्यूजियमोंके क्यूरेटर भी बार बार उनसे सलाह और अभिप्राय प्राप्त करनेके लिये उनके पास आते रहते थे ।

वे अपने ऐसे उच्च सांस्कृतिक शौकके कारण देश-विदेशकी वैसी सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ करनेवाली अनेकों संस्थाओंके सदस्य आदि बने थे । उदाहरणस्वरूप – रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, अमेरिकन ज्यॉग्रॉफिकल सोसायटी न्यूयॉर्क, बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता, न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया – इत्यादि अनेक प्रसिद्ध संस्थाओंके वे उत्साही सभासद थे ।

साहित्य और शिक्षण विषयक प्रवृत्ति करनेवाली जैन तथा जैनेतर अनेकों संस्थाओंको उन्होंने मुक्तमनसे दान दे करके, इन विषयोंके प्रसारमें अपनी उत्कट अभिरुचिका उत्तम परिचय दिया था । उन्होंने इस प्रकार कितनी संस्थाओंको आर्थिक सहायता दी थी, उसकी सम्पूर्ण सूचितो नहीं मिल सकी है । ऐसे कार्योंमें वे अपने पिताकी ही तरह, प्रायः मौन रहते थे और इसके लिये अपनी प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी आकांक्षा नहीं रखते थे । उनके साथ किसी किसी वक्त प्रसंगोचित वार्तालाप करते समय, इस सम्बन्धी जो थोड़ी बहुत घटनाएँ ज्ञात हो सकीं उसके आधार परसे, उनके पाससे आर्थिक सहायता प्राप्त करनेवाली कुछ संस्थाओंके नाम आदि इस प्रकार जान सका हूँ ।

हिंदू एकेडेमी, दौलतपुर (बंगाल). रु० १५०००)
तरक्की–उर्दू बंगाला. ५०००)
हिंदी–साहित्य परिषद्भवन (इलाहाबाद) १२५००)
विशुद्धानंद सरस्वती मारवाडी हॉस्पीटल, कलकत्ता. १००००)
एक मेटर्निटी होम कलकत्ता. २५००)
बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी. २५००)
जीयागञ्ज हाइस्कूल. ५०००)
जीयागञ्ज लण्डन मिशन हॉस्पीटल. ६०००)
कलकत्ता–मुर्शिदाबाद जैन मन्दिर. ११०००)
जैनधर्मप्रचारक सभा, मानभूम. ५०००)
जैनभवन, कलकत्ता. १५०००)
जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा. ७५००)
जैन मंदिर, आगरा. ३५००)
जैन हाइस्कूल, अंबाला. २१०००)
जैन प्राकृतकोषके लिये. २५००)
भारतीय विद्याभवन, बंबई. १००००)

*

इसके अतिरिक्त हजार-हजार, पाँच-पाँचसोकीसी छोटी मोटी रकमें तो उन्होंने सैंकडोंकी संख्यामें दीं हैं, जिसका योग कोई डेढ दो लाखसे भी अधिक होगा।

साहित्य और शिक्षणकी प्रगतिके लिये सिंघीजी जितना उत्साह और उद्योग दिखलाते थे, उतने ही वे सामाजिक प्रगतिके लिये भी प्रयत्नशील थे। अनेक बार उन्होंने ऐसी सामाजिक सभाओं इत्यादिमें प्रमुख रूपसे भाग ले करके अपने इस विषयका आन्तरिक उत्साह और सहकारभाव प्रदर्शित किया था। सन् १९२६ में बंबईमें होनेवाली जैन श्वेताम्बर कॉन्फरन्सके खास अधिवेशनके वे सभापति बने थे। उदयपुर राज्यमें आये हुए केसरीयाजी तीर्थकी व्यवस्थाके विषयमें स्टेटके साथ जो प्रश्न उपस्थित हुआ था उसमें उन्होंने सबसे अधिक तन, मन और धनसे सहयोग दिया था। इस प्रकार वे जैन समाजके हितकी प्रवृत्तियोंमें यथायोग्य सम्पूर्ण सहयोग देते थे; परंतु इसके साथ वे सामाजिक मूढता और साम्प्रदायिक कट्टरताके पूर्ण विरोधी भी थे। धनवान और प्रतिष्ठित गिने जाने वाले दूसरे रूढिभक्त जैनोंकी तरह वे संकीर्ण मनोवृत्ति या अन्धश्रद्धाकी पोषक विकृत भक्तिसे सर्वथा परे रहते थे। आचार, विचार एवं व्यवहारमें वे बहुत ही उदार और विवेकशील थे।

उनका गार्हस्थ्य जीवन भी बहुत सादा और सात्त्विक था। बंगालके जिस प्रकारके नवाबी गिने जाने वाले वातावरणमें वे पैदा और बडे हुए थे उस वातावरणकी उनके जीवन पर कुछ भी खराब असर नहीं हुई थी और वे लगभग उस वातावरणसे बिलकुल अलिप्त जैसे थे। इतने बड़े श्रीमान् होने पर भी, श्रीमंताइके–धनिकताके बुरे विलास या मिथ्या आडम्बरसे वे सदैव दूर रहते थे। दुर्व्यय और दुर्व्यसनके प्रति उनका भारी तिरस्कार था। उनके समान स्थितिवाले धनवान जब अपने मोज-शौक, आनंद-प्रमोद, विलास-प्रवास, समारम्भ-महोत्सव इत्यादिमें लाखों रुपये उड़ाते थे तब सिंघीजी उनसे बिलकुल विमुख रहते थे। उनका शौक केवल अच्छे वाचन और कलामय वस्तुओंके देखनेका तथा संग्रह करनेका था। जब देखो तब, वे अपनी गादी पर बैठे बैठे साहित्य, इतिहास, स्थापत्य, चित्र, विज्ञान, भूगोल और भूगर्भविद्यासे सम्बन्ध रखने वाले सामयिकों या पुस्तकोंको पढते ही दिखाई दिया करते थे। अपने ऐसे विशिष्ट वाचनके शौकके कारण वे अंग्रेजी, बंगाली, हिंदी, गुजराती आदिमें प्रकाशित होने वाले उच्च कोटिके, उक्त विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विविध प्रकारके सामयिक पत्रों और जर्नलोंको नियमित रूपसे मंगाते रहते थे। ऑर्ट, आर्किऑलॉजी, एपीग्राफी, ज्योग्रॉफी, आइकॉनोग्रॉफी, हिस्टरी और माइनिङ्ग आदि विषयोंकी पुस्तकोंकी उन्होंने अपने पास एक अच्छी लाइब्रेरी ही बना ली थी।

वे स्वभावसे एकान्तप्रिय और अल्पभाषी थे। व्यर्थकी बातें करनेकी ओर या गपें मारनेकी ओर उनका बहुत ही अभाव रहता था। अपने व्यावसायिक व्यवहारकी या विशाल कारभारकी बातोंमें भी वे

बहुत ही मितभाषी थे। परंतु जब उनके प्रिय विषयोंकी – जैसे कि स्थापत्य, इतिहास, चित्र आदिकी – चर्चा चलती तब उसमें वे इतने निमग्न हो जाते थे कि कितने ही घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी वे उससे थकते नहीं थे और न किसी तरहकी व्याकुलताका अनुभव करते थे।

उनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी। किसी भी वस्तुको समझने या उसका मर्म पकड़नेमें उनको थोड़ा सा भी समय नहीं लगता था। विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी गंभीर बातें भी वे अच्छी तरह समझ सकते थे और उनका मनन करके उन्हें पचा लेते थे। तर्क और दलीलबाजीमें वे बड़े बड़े कायदाबाजोंसे भी बाजी मार लेते थे तथा चाहे जैसा चालाक भी उन्हें अपनी चालाकीसे चकित या मुग्ध नहीं बना सकता था।

अपने सिद्धान्त या विचारमें वे बहुत ही दृढमनस्क थे। एक बार कोई विचार निश्चित कर लेनेके बाद और किसी कार्यका स्वीकार कर लेनेके बाद उसमेंसे चल-विचल होना वे बिलकुल पसंद नहीं करते थे।

व्यवहारमें भी वे बहुत ही प्रामाणिक वृत्तिवाले थे। दूसरे धनवानोंकी तरह व्यापारमें छल-प्रपंच, धोखाधड़ी या सच-झूठ करके धन प्राप्त करनेकी तृष्णा उनको यत्किंचित् भी नहीं होती थी। उनकी ऐसी व्यावहारिक प्रामाणिकताको लक्ष्यमें रख करके इंग्लेण्डकी मर्केन्टाइल बेङ्कके डायरेक्टरोंकी बोर्डने अपनी कलकत्ताकी शाखाके बोर्डमें, एक डायरेक्टर होनेके लिये उनसे खास प्रार्थना की थी। इसके पहले किसी भी हिंदुस्तानी व्यापारीको यह मान प्राप्त नहीं हुआ था।

प्रतिभा और प्रामाणिकताके साथ उनमें योजनाशक्ति भी बहुत उच्च प्रकारकी थी। उन्होंने अपनी ही स्वतंत्र बुद्धि और कुशलता द्वारा एक ओर अपनी बहुत बड़ी जमींदारीकी और दूसरी ओर कोलियारी आदि माइनिङ्गके उद्योगकी, जो सुव्यवस्था और सुघटना की थी; उसे देख करके उस-उस विषयके ज्ञाता लोग चकित हो जाते थे। अपने घरके छोटे से छोटे कामसे शुरु करके ठेठ कोलियारी जैसे बड़े कारखाने तकमें – जहाँ कि हजारों मनुष्य काम करते रहते हैं – बहुत ही नियमित, सुव्यवस्थित और सुयोजित रीतिसे काम चला करे, वैसी उनकी सदा व्यवस्था रहती थी। दरबानसे लगा कर अपने समवयस्क जैसे पुत्रों तकमें, एक समान, उच्च प्रकारका शिस्त-पालन और शिष्ट-आचरण उनके यहाँ दृष्टिगोचर होता था।

सिंघीजीमें ऐसी समर्थ योजकशक्ति होने पर भी, और उनके पास सम्पूर्ण प्रकारकी साधन-सम्पन्नता होने पर भी, वे प्रपंचमय जीवनसे दूर रहते थे और अपने नामकी प्रसिद्धिके लिये या लोगोंमें बड़े आदमी गिनानेके लिये वैसी कोई प्रवृत्ति नहीं करते थे। रायबहादुर, राजाबहादुर या सर-नाइट इत्यादि सरकारी उपाधियोंको धारण करनेकी या कौंसिलोंमें जा करके ऑनरेबल बननेकी उनकी कभी इच्छा नहीं हुई थी। ऐसी आडम्बरपूर्ण प्रवृत्तियोंमें पैसेका दुर्व्यय करनेकी अपेक्षा वे सदा साहित्योपयोगी और शिक्षणोपयोगी कार्योंमें अपने धनका सद्व्यय किया करते थे। भारतवर्षकी प्राचीन कला और उससे संबंध रखनेवाली प्राचीन वस्तुओंकी ओर उनका उत्कट अनुराग था और इसलिये उसके पीछे उन्होंने लाखों रुपये खर्च किये थे।

*

सिंघीजी के साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय सन् १९३० में प्रारम्भ हुआ। उनकी इच्छा अपने सद्गत पुण्य-श्लोक पिताके स्मारकमें, जिससे जैन साहित्यका प्रसार और प्रकाश हो वैसी, कोई विशिष्ट संस्था स्थापित करनेकी थी। मेरे जीवनके सुदीर्घकालीन सहकारी, सहचारी और सन्मित्र पंडितप्रवर श्रीसुखलालजी, बाबू श्री डालचंदजीके विशेष श्रद्धाभाजन थे; अतएव श्री बहादुर सिंहजी भी इन पर उतना ही विशिष्ट सद्भाव रखते थे। पंडितजीके परामर्श और प्रस्तावसे, उन्होंने मुझसे इस कार्यकी योजना और व्यवस्था हाथमें लेनेके लिये प्रार्थना की और मैंने भी अपनी अभीष्टतम प्रवृत्तिके आदर्शके अनुरूप, उत्तम कोटिके साधनकी प्राप्ति होती देख कर, उसका सहर्ष और सोल्लास स्वीकार किया।

सन् १९३१ के पहले दिन, विश्ववंद्य कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरके विभूतिविहारसमान विश्वविख्यात शान्तिनिकेतनके विश्वभारती विद्याभवनमें 'सिंघी जैन ज्ञानपीठ' की स्थापना की और वहाँ जैन साहित्य के अध्ययन – अध्यापन और संशोधन – संपादन आदिका कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रसंगसे सम्बन्धित कुछ प्राथमिक वर्णन, इस ग्रन्थमालामें सबसे प्रथम प्रकाशित 'प्रबन्ध चिंतामणि' नामक ग्रन्थकी प्रस्तावनामें दिया गया है। इसलिये उसकी यहां पुनरुक्ति करना अनावश्यक है।

सिंघीजीने मेरी प्रेरणासे 'सिंघी जैन ज्ञानपीठ' की स्थापनाके साथ, जैन-साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्नोंको आधुनिक शास्त्रीय पद्धतिपूर्वक, योग्य विद्वानों द्वारा सुन्दर रीतिसे, संशोधित – संपादित करवाके प्रकाशित करनेके लिये और वैसा करके जैन साहित्यकी सार्वजनिक प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये इस 'सिंघी

जैन ग्रन्थमाला' की विशिष्ट योजनाका भी सहर्ष स्वीकार किया और इसके लिये आवश्यक और अपेक्षित अर्थव्यय करनेका उदार उत्साह प्रदर्शित किया।

प्रारम्भमें शान्तिनिकेतनको लक्ष्यमें रख कर, एक ३ वर्षका कार्यक्रम बनाया गया और तदनुसार वहाँ काम प्रारम्भ किया गया। परन्तु इन तीन वर्षोंके अनुभवके अन्तमें, शान्तिनिकेतनका स्थान मुझे अपने कार्य और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बराबर अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ। अतएव अनिच्छापूर्वक मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा और अहमदाबादमें 'गु ज रा त वि द्या पी ठ'के सन्निकट 'अ ने का न्त वि हा र' बना करके वहाँ इस कार्यकी प्रवृत्ति चालू रखी। इस ग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सर्वत्र उत्तम प्रशंसा, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा देख कर सिंघीजीका उत्साह खूब बढ़ा और उन्होंने इस सम्बन्धमें जितना खर्च हो उतना खर्च करनेकी, और जैसे बने वैसे अधिक संख्यामें ग्रन्थ प्रकाशित होते हुए देखनेकी अपनी उदार मनोवृत्ति मेरे सामने वारंवार प्रकट की। मैं भी उनके ऐसे अपूर्व उत्साहसे प्रेरित हो कर यथाशक्ति इस कार्यको, अधिक से अधिक वेग देनेके लिये प्रयत्नवान् रहा।

सन् १९३८ के जुलाई मासमें, मेरे परम सुहृद् श्रीयुत कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशीका – जो उस समय बंबईकी कॉंग्रेस गवर्नमेण्टके गृहमंत्रीके उच्च पद पर अधिष्ठित थे – अकस्मात् एक पत्र मुझे मिला, जिसमें इन्होंने सूचित किया था कि 'सेठ मुंगालाल गोएनकाने दो लाख रुपयोंकी एक उदार रकम मुझे सुप्रत की है, जिसका उपयोग भारतीय विद्याओंके किसी विकासात्मक कार्यके लिये करना है और उसके लिये विचार-विनिमय करने तथा तदुपयोगी योजना बनानेके सम्बन्धमें मेरी आवश्यकता है अतएव मुझे तुरत बंबई आना इष्ट है' – इत्यादि। तदनुसार मैं तुरत बंबई आया और हम दोनोंने साथमें बैठ करके इस योजनाकी रूपरेखा तैयार की; और उसके अनुसार संवत् १९९५ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाके दिन, श्री मुंशीजीके निवासस्थानपर 'भारतीय विद्याभवन' की, एक बृहत् समारम्भके साथ, स्थापना की गई।

भवनके विकासके लिये श्रीमुंशीजीका अथक उद्योग, अखण्ड उत्साह और उदार आत्मभोग देख कर मेरी भी इनके कार्यमें यथायोग्य सहकार अर्पित करनेकी पूर्ण उत्कण्ठा हुई और मैं इसकी आन्तरिक व्यवस्थामें प्रमुख रूपसे भाग लेने लगा। भवनकी विविध प्रवृत्तियोंमें साहित्य प्रकाशन सम्बन्धी जो एक विशिष्ट प्रवृत्ति स्वीकृत की गई थी, वह मेरे इस ग्रन्थमालाके कार्यके साथ, एक प्रकारसे परस्पर साहायक स्वरूपकी ही प्रवृत्ति थी। अतएव मुझे यह प्रवृत्ति मेरे पूर्व-अंगीकृत कार्यमें बाधक न हो कर उलटी साधक ही प्रतीत हुई और इसलिये मैंने इसमें यथाशक्ति अपनी विशिष्ट सेवा देनेका निर्णय किया। सिंघीजीको जब इस सारी वस्तुस्थितिसे परिचित किया गया, तब वे भी भवनके कार्यमें रस लेने लगे और इसके संस्थापक सदस्य बन करके इसके कार्यके प्रति उन्होंने अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट की।

जैसे मैंने ऊपर बतलाया है वैसे, ग्रन्थमालाके विकासके लिये सिंघीजीका उत्साह अत्यन्त प्रशंसनीय था और इसलिये मैं भी मेरे स्वास्थ्य आदिकी किसी प्रकारकी परवाह किये विना, इस कार्यकी प्रगतिके लिये सतत प्रयत्न करता रहता था। परन्तु ग्रन्थमालाकी व्यवस्थाका सर्व प्रकारका भार मेरे अकेलेके सिर पर आश्रित था, अतएव मेरा शरीर जब यह व्यवस्था करता करता रुक जाय, तब इसकी स्थिति क्या होगी इसका विचार भी मैं वारंवार किये करता था। दूसरी ओर सिंघीजीकी भी उत्तरावस्था होनेसे वे वारंवार अस्वस्थ होने लगे थे और वे भी जीवनकी अस्थिरताका आभास अनुभव करने लगे थे। इसलिये ग्रन्थ-मालाके भावीके विषयमें कोई स्थिर और सुनिश्चित योजना बना लेनेकी कल्पना हम बराबर करते रहते थे।

भा० वि० भवनकी स्थापना होनेके बाद ३–४ वर्षमें ही इसके कार्यकी विद्वानोंमें अच्छी तरह प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा जमने लगी थी और विविध विषयक अध्ययन-अध्यापन और साहित्यिक संशोधन-संपादनका कार्य अच्छी तरहसे आगे बढ़ने लगा था। यह देख कर सुहृद्वर मुंशीजीकी खास आकांक्षा हुई कि 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'की कार्यव्यवस्थाका सम्बन्ध भी यदि भवनके साथ जोड़ दिया जाय, तो उससे परस्पर दोनोंके कार्यमें सुंदर अभिवृद्धि होनेके अतिरिक्त ग्रन्थमालाको स्थायी स्थान प्राप्त होगा और भवनको भी विशिष्ट प्रतिष्ठाकी प्राप्ति होगी, और इस प्रकार भवनमें जैन-शास्त्रोंके अध्ययनका और जैन-साहित्यके प्रकाशनका एक अद्वितीय केन्द्र बन जायगा। श्रीमुंशीजीकी यह शुभाकांक्षा, ग्रन्थमाला सम्बन्धी मेरी भावी चिंताका योग्य रूपसे निवारण करनेवाली प्रतीत हुई और इसलिये मैं उस विषयकी योजनाका विचार करने लगा। यथावसर सिंघीजीको मैंने श्रीमुंशीजीकी आकांक्षा और मेरी योजना सूचित की। वे भा० वि० भ० के स्थापक-सदस्य तो थे ही और तदुपरान्त श्रीमुंशीजीके खास स्नेहास्पद मित्र भी थे। इसलिये उनको भी यह योजना अपना लेने योग्य प्रतीत हुई। पंडितप्रवर श्री सुखलालजी जो इस ग्रन्थमालाके

आरम्भसे ही अंतरङ्ग हितचिंतक और सक्रिय सहायक रहे हैं, उनके साथ भी इस योजनाके सम्बन्धमें मैंने उचित परामर्श किया और संवत् २००१ के वैशाख शुक्ल (मई सन् १९४३) में सिंघीजी कार्य-प्रसङ्गसे बंबई आये तब, परस्पर निर्णीत विचार-विनिमय करके, इस ग्रन्थमालाकी प्रकाशनसम्बन्धिनी सर्व व्यवस्था भवनके अधीन की गई। सिंघीजीने इसके अतिरिक्त उस अवसर पर, मेरी प्रेरणासे भवनको दूसरे और १० हजार रुपयोंकी उदार रकम भी दी, जिसके द्वारा भवनमें उनके नामका एक 'हॉल' बांधा जाय और उसमें प्राचीन वस्तुओं तथा चित्र आदिका संग्रह रखा जाय।

भवनकी प्रबंधक समितिने सिंघीजीके इस विशिष्ट और उदार दानके प्रतिबोषरूपमें भवनमें प्रचलित 'जैनशास्त्र-शिक्षणविभाग'को स्थायी रूपसे **'सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ'** के नामसे प्रचलित रखनेका सविशेष निर्णय किया।

*

ग्रन्थमालाके जनक और परिपालक सिंघीजी, प्रारम्भसे ही इसकी सर्व प्रकारकी व्यवस्थाका भार मेरे ऊपर छोड कर, वे तो केवल खास इतनी ही आकांक्षा रखते थे कि ग्रन्थमालामें किस तरह अधिकाधिक ग्रन्थ प्रकाशित हों और कैसे उनका अधिक प्रसार हो। इस सम्बन्धमें जितना खर्च हो उतना वे बहुत ही उत्साहसे करनेके लिये उत्सुक थे। भवनको ग्रन्थमाला समर्पण करते समय उन्होंने मुझसे कहा कि– "अब तक तो वर्षमें लगभग २–३ ही ग्रन्थ प्रकट होते रहे हैं परन्तु यदि आप प्रकाशित कर सकें तो प्रति-मास दो दो ग्रन्थ प्रकाशित होते देख कर भी मैं तो अतृप्त ही रहूँगा। जब तक आपका और मेरा जीवन है तब तक, जितना साहित्य प्रकट करने–करानेकी आपकी इच्छा हो तदनुसार आप व्यवस्था करें। मेरी ओरसे आपको पैसेका थोडासा भी संकोच प्रतीत नहीं होगा।" जैन साहित्यके उद्धारके लिये ऐसी उत्कट आकांक्षा और ऐसी उदार चित्तवृत्ति रखने वाला दानी और विनम्र पुरुष, मैंने मेरे जीवनमें दूसरा और कोई नहीं देखा। अपनी उपस्थितिमें ही उन्होंने मेरे द्वारा ग्रन्थमालाके खाते लगभग ७५००० (पोने लाख) रुपये खर्च किये होंगे। परन्तु उन १५ वर्षोंके बीचमें एक बार भी उन्होंने मुझसे यह नहीं पूछा कि कितनी रकम किस ग्रन्थके लिये खर्च की गई है या किस ग्रन्थके सम्पादनके लिये किसको क्या दिया गया है? जब जब मैं प्रेस इत्यादिके बिल उनके पास भेजता तब तब, वे तो केवल उनको देख कर ही ऑफिसमें वह रकम चुकानेकी रिमार्कके साथ भेज देते। मैं उनसे कभी किसी बिलके बारेमें बातचीत करना चाहता, तो भी वे उस विषयमें उत्साह नहीं बतलाते और इसके बजाय ग्रन्थमालाकी साइज, टाईप, प्रिंटींग, बाइंडींग, हेडिङ्ग आदिके बारेमें वे खूब सूक्ष्मतापूर्वक विचार करते रहते और उस सम्बन्धमें विस्तारसे चर्चा किया करते। उनकी ऐसी अपूर्व ज्ञाननिष्ठा और ज्ञानभक्तिने ही मुझे उनके स्नेहपाशमें बद्ध किया और इसलिये मैं यत्किंचित् इस प्रकारकी ज्ञानोपासना करनेमें समर्थ हुआ।

उक्त प्रकारसे भवनको ग्रन्थमाला समर्पित करनेके बाद, सिंघीजीकी ऊपर बतलाई हुई उत्कट आकांक्षा लक्ष्यमें आनेसे, मेरा प्रस्तुत कार्यके लिये और भी अधिक उत्साह बढा। मेरी शारिरिक स्थिति, इस कार्यके अविरत श्रमसे प्रतिदिन बहुत अधिक तीव्रताके साथ क्षीण होती रही है, फिर भी मैंने इस कार्यको अधिक वेगवान् और अधिक विस्तृत बनानेकी दृष्टिसे कुछ योजनाएँ बनानी शुरु कीं। अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ एकसाथ प्रेसमें छपनेके लिये दिये गये और दूसरे वैसे अनेक नवीन नवीन ग्रन्थ छपानेके लिये तैयार किये जाने लगे। जितने ग्रन्थ अब तकमें कुल प्रकट हुए थे उतने ही दूसरे ग्रन्थ एक साथ प्रेसमें छपने शुरु हुए और उनसे भी दूनी संख्याके ग्रन्थ प्रेस कॉपी आदिके रूपमें तैयार होने लगे।

इसके बाद थोड़े ही समयके पीछे-अर्थात् सेप्टेम्बर १९४३ में–भवनके लिये कलकत्ताके एक निवृत्त प्रोफेसरकी बड़ी लाईब्रेरी खरीदनेके लिये मैं वहाँ गया। सिंघीजीके द्वारा ही इन प्रोफेसरके साथ बात-चीत की गई थी और मेरी प्रेरणासे यह सारी लाईब्रेरी, जिसकी किंमत ५० हजार रुपये जितनी मांगी गई थी, सिंघीजीने अपनी ओरसे ही भवनको भेट करनेकी अतिमहनीय मनोवृत्ति प्रदर्शित की थी। परन्तु उन प्रोफेसरके साथ इस लाईब्रेरीके सम्बन्धमें योग्य सोदा नहीं हो सका तब सिंघीजीने कलकत्ताके सुप्रसिद्ध स्वर्गवासी जैन सद्गृहस्थ बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरकी बड़ी लाईब्रेरी ले लेनेके विषयमें मुझे अपनी सलाह दी और उस सम्बन्धमें स्वयं ही योग्य प्रकारसे उसकी व्यवस्था करनेका भार अपने सिर पर लिया।

कलकत्तामें और सारे बंगालमें उस वर्ष अन्न-दुर्भिक्षका भयंकर कराल-काल चल रहा था। सिंघीजीने अपने वतन अजीमगंज–मुर्शिदाबाद तथा दूसरे अनेक स्थलोंमें गरीबोंको मुफ्त और मध्यमवित्तोंको अल्प मूल्यमें हजारों मन धान्य वितीर्ण करनेकी उदार और बड़ी व्यवस्था की थी, जिसके निमित्त उन्होंने उस वर्षमें

लगभग तीन साढे-तीन लाख रुपये खर्च खाते लिख डाले थे। बंगालके निवासियोंमें और जमींदारोंमें इतना बड़ा उदार आर्थिक भोग उस निमित्तसे अन्य किसीने दिया हो वैसा प्रकाशमें नहीं आया।

अक्टूबर-नवम्बर मासमें उनकी तबियत बिगड़नी शुरु हुई और वह धीरे धीरे अधिकाधिक शिथिल होती गई। जनवरी, १९४४ के प्रारम्भमें, मैं उनसे मिलनेके लिये फिर कलकत्ता गया। ता. ६ जनवरीकी संध्याको उनके साथ बैठ कर ३ घण्टे पर्यंत ग्रन्थमाला, लाईब्रेरी, जैन इतिहासालेखन आदिके सम्बन्धमें खूब उत्साह पूर्वक बातचीत हुई; परन्तु उनको मानों अपने जीवनकी अल्पताका आभास हो रहा हो उस प्रकारसे, वे बीच बीचमें वैसे उद्गार भी निकालते जाते थे। ५-७ दिन रह करके मैं बंबई आनेके लिये निकला तब वे बहुत ही भावप्रवणतापूर्वक मुझे विदाई देते समय बोले कि "कौन जाने अब फिर अपने मिलेंगे या नहीं?" मैं उनके इन दुःखद वाक्योंको बहुत ही दबे हुए हृदयसे सुनता और उद्वेग धारण करता हुआ उनसे सदाके लिये अलग हुआ। उसके बाद उनका साक्षात्कार होनेका प्रसङ्ग ही नहीं आया। ५-६ महीने तक उनकी तबियत अच्छी-बुरी चलती रही और अंतमें जुलाईकी (सन् १९४४) ७ वीं तारीखको वे अपना विनश्वर शरीर छोड़ कर परलोकमें चले गये। मेरी साहित्योपासनाका महान् सहायक, मेरी क्षुद्र सेवाका महान् पोषक और मेरी कर्तव्यनिष्ठाका महान् प्रेरक सहृदय सुपुरुष, इस असार संसारमें मुझे शून्य हृदय बना करके स्वयं महाशून्यमें विलीन हो गया।

यद्यपि सिंघीजीका इस प्रकार नाशवान् स्थूल शरीर इस संसारमेंसे विलुप्त हो गया है परन्तु उनके द्वारा स्थापित इस ग्रन्थमालाके द्वारा उनका यशःशरीर, सैंकडों वर्षों तक, इस संसारमें विद्यमान् रह करके उनकी कीर्ति और स्मृतिकी प्रशस्तिका प्रभावदर्शक परिचय भावी जनताको सतत देता रहेगा।

## सिंघीजीके सुपुत्रोंका सत्कार्य

सिंघीजीके स्वर्गवाससे जैन साहित्य और जैन संस्कृतिके महान् पोषक नररत्नकी जो बड़ी कमी हुई है उसकी तो सहज भावसे पूर्ति नहीं हो सकती है। परन्तु मुझे यह देख कर हृदयमें उच्च आशा और आश्वासक आह्लाद होता है कि उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्र सिंहजी, श्री नरेन्द्र सिंहजी और श्री वीरेन्द्र सिंहजी अपने पिताके सुयोग्य संतान हैं। अतएव वे अपने पिताकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धिके कार्यमें अनुरूप भाग ले रहे हैं और पिताकी भावना और प्रवृत्तिका उदारभावसे पोषण कर रहे हैं।

सिंघीजीके स्वर्गवासके बाद इन बंधुओंने अपने पिताके दान-पुण्यनिमित्त अजीमगंज इत्यादि स्थानोंमें लगभग ५०-६० हजार रुपये खर्च किये थे। उसके बाद थोड़े ही समयमें सिंघीजीकी वृद्धा माताका भी स्वर्गवास हो गया और इसलिये अपनी इस परम पूजनीया दादीमाके पुण्यनिमित्त भी इन बन्धुओंने ७०-७५ हजार रुपयोंका व्यय किया। 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का पूरा भार तो इन सिंघी बन्धुओंने पिताजीद्वारा निर्धारित विचारानुसार, पूर्ण उत्साहसे अपने सिर ले ही लिया है और इसके अतिरिक्त कलकत्ताके इण्डियन रीसर्च इन्स्टीट्यूटको बंगालीमें जैन साहित्य प्रकाशित करवानेकी दृष्टिसे सिंघीजीके स्मारकरूपमें ५००० रुपयोंकी प्रारम्भिक मदद दी।

सिंघीजीके ज्येष्ठ चिरंजीव बाबू श्री राजेन्द्र सिंहजीने मेरी कामना और प्रेरणाके प्रेमसे वशीभूत होकर अपने पुण्यश्लोक पिताकी अज्ञात इच्छाको पूर्ण करनेके लिए, ५० हजार रुपयोंकी स्पृहणीय रकम भारतीय विद्याभवनको दान स्वरूप दी और उसके द्वारा कलकत्ताकी उक्त नाहर लाईब्रेरी खरीद करके भवनको एक अमूल्य साहित्यिक निधिके रूपमें भेट की है। भवनकी यह भव्य निधि 'बाबू श्री बाहादुर सिंहजी सिंघी लाईब्रेरी' के नामसे सदा प्रसिद्ध रहेगी और सिंघीजीके पुण्यस्मरण की एक बड़ी ज्ञानप्रपा बनेगी। बाबू श्री नरेन्द्र सिंहजीने, अपने पिताने बंगालकी सराक जातिके सामाजिक एवं धार्मिक उत्थानके निमित्त जो प्रवृत्ति चालू की थी, उसको अपना लिया है और उसके संचालनका भार प्रमुख रूपसे स्वयं ले लिया है। (सन् १९४४) के नवंबर मासमें, कलकत्तामें दिगम्बर समाजकी ओरसे किये गये 'वीरशासन जयंती महोत्सव' के प्रसङ्ग पर उस कार्यके लिये इन्होंने ५००० रुपये दिये थे तथा कलकत्तामें जैन श्वेताम्बर समुदायकी ओरसे बांधे जाने वाले "जैन भवन" के लिये ३१००० रुपये दान करके अपनी उदारताकी शुभ शुरुआत की है। भविष्यमें 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का सर्व आर्थिक भार इन दोनों बन्धुओंने उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लेनेकी अपनी प्रशंसनीय मनोभावना प्रकट करके, अपने स्वर्गीय पिताके इस परम पुनीत यशोमंदिरको उत्तरोत्तर उन्नत स्वरूप देनेका शुभ संकल्प किया है। तथास्तु।

सिंघी जैन शास्त्रशिक्षापीठ<br>भारतीय विद्या भवन, बंबई.

—जिन विजय मुनि

# प्रास्ताविक वक्तव्य

*

जिनेश्वरसूरि विरचित 'प्रमलक्षण' ग्रन्थके विषयमें एक छोटासा लेख मैंने सन् १९१७ के सितम्बर मासमें (जब मैं बम्बईमें चातुर्मासके समय रहा था) लिखा था; जो, मेरे विद्वान् सुहृद्वर पं० श्री नाथूरामजी प्रेमी द्वारा संपादित 'जैनहितैषी' पत्रमें (भाग १३. अङ्क ९–१०) प्रकाशित हुआ था। उस छोटेसे लेखमें मैंने जिनेश्वर सूरिके व्यक्तित्व और कार्यकलापके विषयमें तथा उनके रचे हुए 'प्रमालक्षण' ग्रन्थके परिचयके रूपमें कुछ विचार प्रकट किये थे। लेकिन उसकी कुछ विशेष स्मृति नहीं रही थी। प्रस्तुत कथाकोष नामक मूल ग्रन्थका मुद्रण कार्य जब समाप्त हुआ और इसका कुछ प्रास्ताविक वक्तव्य लिखनेका प्रसंग आया तो, उस लेखकी स्मृति हो आई। परंतु जैनहितैषीका वह अङ्क मेरे पास नहीं मिला। इसलिये श्रीयुत प्रेमीजीके पाससे उसको प्राप्त करके ध्यानपूर्वक पढा तो मुझे लगा कि प्रास्ताविक रूपमें यह लेख ही दे दिया जाय तो ठीक है, क्यों कि इस छोटेसे लेखमें ३० वर्ष पहले मैंने जो विचार प्रकट किये हैं उनमें आज भी कोई किसी प्रकारकी भ्रान्ति या अशुद्धि दृष्टिगोचर नहीं हो रही है और ना ही ऐसी कोई मौलिक अभिवृद्धि करने जैसी विशेष बात ही ज्ञात हुई है, जिससे इस विषयमें कुछ विशेष संशोधन या परिवर्तन करने जैसा कोई विचार स्फुरित हो। परंतु 'प्रास्ताविक वक्तव्य'के रूपमें प्रस्तुत ग्रन्थकी प्रतियों वगैरहका कुछ प्रासंगिक परिचय देना तो आवश्यक था ही, और कुछ ग्रन्थके स्वरूपके विषयमें भी लिखना प्राप्त था; अतः इस दृष्टिसे जब कुछ लिखना प्रारम्भ किया और साथमें उस पुराने लेखके विचारोंका मननपूर्वक सिंहावलोकन किया, तो जिनेश्वर सूरिके समयकी जैन समाजकी परिस्थितिका एक विशद चित्र आँखोंके सामने उठने लगा। उनके समयका और उनके बादके २००–३०० वर्षोंका जैन इतिहासका सिंहावलोकन करने पर, वह चित्र और भी अधिक रूपमें प्रस्फुटित होने लगा और उसमें जिनेश्वर सूरिकी शिष्यसंततिके विशिष्ट कार्य-कलापका भी विविध प्रकारका रेखांकण दृष्टिगोचर होने लगा। अतः उस चित्रके समग्र आभासको फिरसे शब्दबद्ध करनेकी कुछ इच्छा हो आई और उस दृष्टिसे थोडा बहुत नया 'प्रास्ताविक कथन' लिखनेका उपक्रम किया। १५–२० पृष्ठोंमें सब कुछ वक्तव्य समाप्त करनेकी कल्पना थी। **'कथाकोष प्रकरण और जिनेश्वरसूरि'** शीर्षकके साथ आगेके १२४ पृष्ठोंमें जो प्रकरण लिखे गये हैं उनमेंके पहले **'१. प्रस्तुत कथाकोष प्रकरणका प्रकाशन'** और **'२. जिनेश्वरसूरिका समय और तत्कालीन परिस्थिति'** ये दो प्रकरण लिख लेनेके बाद, जब तीसरा प्रकरण **'३. जिनेश्वरसूरिके जीवनचरितका साहित्य'** नामक लिखनेका उपक्रम किया तो उसके लिये कुछ ऐसे ग्रन्थोंके अवतरण देखनेकी आवश्यकता उत्पन्न हुई जो पासमें नहीं थे। अतः उनको प्राप्त करनेके लिये मैं १९४६ के जून-जुलाईमें पूना गया और वहाँ भाण्डारकर ओरिएण्टल रीसर्च इन्स्टीट्यूटमें संरक्षित राजकीय ग्रन्थसंग्रहके ग्रंथोंमेंसे अपेक्षित उद्धरण मैंने एकत्र किये। फिर वहीं कुछ दिन रह कर, वह प्रकरण और उसके बादके **'४. जिनेश्वरसूरिके चरितकी साहित्यिक सामग्री'; ५. जिनेश्वरसूरिकी पूर्वावस्थाका परिचय'** और **'६. जिनेश्वरसूरिके चरितका सार'** ये तीन प्रकरण और लिख डाले और उनको प्रेसमें छपनेके लिये भेज दिये। उसके आगेके ७ वें प्रकरणमें प्रस्तुत कथाकोष ग्रन्थका कुछ थोडासा परिचय लिख कर उक्त प्रास्ताविक वक्तव्यको समाप्त करनेका विचार किया था; लेकिन

उसको लिखते समय, फिर साथमें यह भी थोडासा विचार हो आया, कि जब जिनेश्वर सूरिके चरितके विषयमें इतना विस्तारसे लिखा गया है तो फिर उनके रचे हुए उपलब्ध सभी ग्रन्थोंका भी थोडा थोडा परिचय दे दिया जाय तो उससे जिज्ञासु वाचक वर्गको, उनके शब्दात्मक ज्ञान-देहके स्वरूपका भी कुछ परिचय हो जायगा। इस विचारसे फिर 'जिनेश्वरसूरिकी ग्रन्थरचना' इस ७ वें प्रकरणका लिखना आरम्भ किया। इसके २–४ पृष्ठ ही लिखे गये थे कि उतनेमें मुझे कार्यवश बम्बई आना पडा। और फिर अन्यान्य संपादनों आदिके कार्यमें, इसका लिखना वहीं अटक गया। उधर प्रेसमें जो लिखान भेजा गया था वह भी प्रेसकी शिथिलताके कारण महिनों तक वैसे ही पडा रहा और उसका छपना प्रारम्भ ही नहीं हुआ। बादमें उदयपुरमें होने वाले 'अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन'के स्वागताध्यक्षके पदका कार्य कुछ सिर पर आ कर पड जानेसे तथा फिर उसी उदयपुर ही में महाराणा द्वारा प्रस्तुत की गई 'प्रतापविश्वविद्यालय' की स्थापनाकी योजनामें कुछ भाग लेनेकी परिस्थिति उत्पन्न हो जानेसे, एवं फिर कलकत्ता आदि स्थानोंमें कुछ समय रहनेका निमित्त आ जानेसे, इस प्रकरणका लेखनकार्य आगे बढ ही नहीं सका और जो विचार पूनाके उस प्रशान्त स्थान और मनोरम वातावरणके बीचमें रहते हुए, मनमें उपस्थित हो कर आँखोंके सामने संगठित हुए थे, वे सब विखरसे गये। कोई वर्ष डेढ वर्ष बाद जा कर प्रेसने पूनासे भेजे हुए प्रकरणोंका काम छापना शुरु किया, ६–७ महीनोंमें जा कर कहीं ५–६ फार्म छप कर तैयार हुए। तब फिर पिछले वर्षके (सं. १९०४ के) फाल्गुण मासमें एकाग्र हो कर अवशिष्ट प्रकरणका लिखान पूर्ण किया और प्रेसमें दिया – जिसकी छपाईकी समाप्ति अब इस वर्तमान सं. १९०५ के फाल्गुण मासमें हो कर, यह ग्रन्थ इस रूपमें वाचक-वर्गके करकमलमें उपस्थित हो रहा है।

*

जैसा कि मैंने ऊपर सूचित किया है, इस निबन्धमें मैंने कोई विशेष नूतन तथ्य नहीं आलेखित किये हैं; उसी पुराने छोटेसे लेखमें जो विचार मैंने संक्षेपमें अंकित किये थे उन्हींका एक विशद भाष्यसा यह निबन्ध है। इस निबन्धमें जो कुछ भी ऐतिहासिक पर्यवेक्षण मैंने किया है वह प्रायः साधार है। इसकी प्रत्येक पंक्तिके लिये पुरातन ग्रन्थोंके प्रमाणभूत उद्धरण दिये जा सकते हैं। प्रस्तावनाका कलेवर न बढ जाय और सामान्य पाठकोंको प्रस्तुत विवेचन कुछ जटिलसा न लगे इस कारण मैंने उन उद्धरणोंका अवतारण करना यहां उपयुक्त नहीं समझा। जो कुछ विचार मैंने यहांपर प्रदर्शित किये हैं वे सूत्रात्मक रूपमें – संक्षेपमें हैं। इस इतिहासको विशेष रूपसे लिखनेके लिये तो और कोई प्रसङ्ग अपेक्षित है। जैन इतिहासका यह काल बहुत ही अर्थसूचक, स्फूर्तिदायक और महत्त्वदर्शक है इसमें कोई सन्देह नहीं।

*

## सिंघी जैनग्रन्थमालाके कथासाहित्यात्मक विविध मणि

जैन कथासाहित्यकी जिस विशाल समृद्धिका संक्षिप्त निर्देश, मैंने आगेके निबन्धमें (पृ. ६७–७० पर) 'जैन कथासाहित्यका कुछ परिचय' इस शीर्षक नीचे किया है, उस समृद्धिके परिचायक कुछ विशिष्ट एवं प्राचीन ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेकी दृष्टिसे जिन प्रकीर्ण कथासंग्रहात्मक बहुमूल्य मणियोंका इस ग्रन्थमालामें गुम्फन करना मैंने अभीष्ट समझा है, उन्हींमेंसे यह एक विशिष्ट मणि है – यह इसके पढनेसे पाठकोंको स्वयं ही प्रतीत हो जायगा।

सबसे पहले इस श्रेणिका जो मूल्यवान् मणि प्रकट किया गया है वह है महान् ग्रन्थ हरिभद्रसूरिका प्राकृत 'धूर्ताख्यान' ग्रन्थ । यह ग्रन्थ समुच्चय भारतीय साहित्यमें अपने ढंगकी मौलि ग्रन्थ पद्धतिका एक उत्तम उदाहरणभूत है । हमारे प्रियतर सुहृद्वर डॉ० ए० एन्० उपाध्येने ग्रन्थका इंग्रेजीमें बहुत अध्ययनपूर्ण जो सुविस्तृत तुलनात्मक समवलोकन लिखा है, वह विद्वान लिये एक विशेष अध्ययनकी चीज है ।

उसके बाद दिगंबराचार्य हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोष' नामका (संस्कृत पद्यबद्ध) बडा ग्र इन्हीं विद्वद्वर डॉ० ए० एन्० उपाध्ये द्वारा उत्तम प्रकारसे सम्पादित हो कर प्रकाशित हुआ जिसके अवलोकनसे दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्योंकी कथाग्रन्थन शैली कैसी थी इसका अच परिज्ञान होता है । इसी श्रेणीका तीसरा, प्रस्तुत ग्रन्थ है—जिसका विस्तृत परिचय हमने आगे पृष्ठोंमें आलेखित किया है । इसीके साथ इसी श्रेणिका एक ४ था ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है प्रस्तुत ग्रन्थसे प्रायः २०० वर्ष पूर्वकी रचना है । यह है जयसिंह सूरिरचित **धर्मोपदेशमाला** प्राकृत भाषामें बहुत ही संक्षेपमें सैंकडों प्राचीन जैन कथाएँ इस ग्रन्थमें ग्रथित की गई हैं । प्राकृ साहित्यके मर्मज्ञ पंडित श्रीलालचंदजी गांधीने इसका सम्पादन किया है । ऐसा ही ५ वां ग्रन भी जो इन्हीं ग्रन्थोंके साथ विद्वानोंको उपलब्ध हो रहा है वह है महेश्वरसूरिकृत '**ज्ञानपंचमी कथा**' । प्राकृत भाषा और सुंदर उपदेशकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ एक रत्नतुल्य रम्य कृति है । भारती विद्याभवनके प्राकृत वाङ्मयके प्राध्यापक डॉ. अमृतलाल स० गोपाणीने इसका संपादन किया है ऐसी ही एक अन्य विशिष्ट कथाकृति जो परिमाणमें छोटी हो कर भी, साहित्यिक महत्त्वकी दृष्टि अधिक उपयोगितावाली है—प्रकट हो चुकी है, वह है दिव्यदृष्टि (प्रज्ञानयन ?) कवि धाहि रचित अपभ्रंशभाषामय **पउमसिरिचरिउ** । प्राध्यापक हरिवल्लभ भायाणी और विद्वान् अभ्यास मधुसूदन मोदी—जो गुजरातके अपभ्रंशभाषाके मर्मज्ञ एवं विशिष्ट पण्डित हैं—इसके संयु सम्पादक हैं । इसी तरहकी '**नर्मदा सुंदरी**' और '**जिनदत्ताख्यान**' '**जंबुचरियं**' नामक मनो प्राकृत कथाकृतियाँ भी मुद्रित हो चुकी हैं और शीघ्र ही प्रकट हो कर इस श्रेणिकी मणिमाला अपना स्थान प्राप्त करनेवाली हैं । इस मालाकी श्रेणिमें जो ४ था मणि गुम्फित हुआ है उदयप्रभसूरिकृत '**धर्माभ्युदय**' अथवा '**संघपतिचरित**' नामक संस्कृत महाकाव्य ग्रन्थ है । इ ग्रन्थमें वे जैन कथानक ग्रथित किये हुए हैं जिनके श्रवणसे प्रबुद्ध हो कर गूर्जर महामा वस्तुपाल जैसे वीरशिरोमणि एवं विद्याविनोदी नरपुङ्गवने तीर्थयात्रा निमित्त अभूतपूर्व स निकाले थे तथा शत्रुंजय, गिरनार, आबू आदि तीर्थों पर भव्य जिनालय निर्मित करवाये थे विद्वद्वर मुनिवर्य श्रीपुण्यविजयजी तथा इनके स्व० ज्ञानोद्धारक परमगुरु श्रीचतुरविजय महाराजके संयुक्त संपादनरूप यह उत्तम ग्रन्थरत्न प्रकट हो रहा है ।

*

## जैन कथासाहित्यका सार्वजनीन महत्त्व

जैन कथा साहित्य, लोकजीवनको उन्नत और चारित्रशील बनानेवाली नैतिक शिक्षाकी प्रेरणा एक उत्कृष्ट वाङ्मय है । जैन कथाकारोंका एक मात्र लक्ष्य, जनतामें दान, शील, तप और स भाव स्वरूप सार्वधर्मका विकास और प्रसार करनेका रहा है । जिस व्यक्तिमें जितने अंश इन दान, शील, तप और सद्भावनारूप चतुर्विध धार्मिक गुणोंका विकास होता है वह व्यक्ति

उतने अंशमें ऐहिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टिसे सुख और शान्तिका भोक्ता बनता है। जिसके आत्मामें इन गुणोंका चरम विकास हो जाता है वह मनुष्य सर्वकर्मविमुक्त बन जाता है और संसारके सर्व प्रकारके द्वंद्वोंसे परपार हो जाता है। जैसे व्यक्तिके जीवनविकासके लिये यह धर्म आदर्शभूत है वैसे ही अन्यान्य समाजके लिये और समूचे मानव समूहके लिये भी यह धर्म आदर्शभूत है। इससे बढ कर, न कोई धर्मशास्त्र और न कोई नीतिसिद्धान्त, मनुष्यकी ऐहिक सुख-शान्तिका और आध्यात्मिक उन्नतिका अन्य कोई श्रेष्ठ धर्ममार्ग बतला सका है। जैन कथाकारोंने सद्धर्म और सन्मार्गके जो ये ४ प्रकार बतलाये हैं वे संसारके सभी मनुष्योंका, सदा, कल्याण करनेवाले हैं इसमें कोई शंका नहीं है। चाहे परलोकको कोई माने या नहीं, चाहे स्वर्ग और नरकको कोई माने या नहीं; चाहे पुण्य और पाप जैसा कोई शुभ अशुभ कर्म और उसका अच्छा या बुरा फल होनेवाला हो या नहीं; लेकिन यह चतुर्विध धर्म, इसके पालन करनेवाले मनुष्य या मनुष्यसमाजके जीवनको, निश्चित रूपसे सुखी, संस्कारी और सत्कर्मी बना सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। संसारके भिन्न भिन्न धर्मोंने और भिन्न भिन्न नीतिमार्गोंने ऐहिक और पारलौकिक सुखशान्तिके लिये जितने भी धार्मिक और नैतिक विचार प्रकट किये हैं और जितने भी आदर्शभूत उपाय प्रदर्शित किये हैं उन सबमें, इन जैन कथाकारोंके बतलाये हुए इन ४ सर्वोत्तम, सरल और सुगम धार्मिक गुणोंसे बढ कर, अन्य कोई धार्मिक गुण, सनातन और सार्वभौम पद पानेकी योग्यता नहीं रखते। ये गुण सार्वभौम इसलिये हैं कि इनका पालन संसारका हर कोई व्यक्ति, विना किसी धर्म, संप्रदाय, मत या पक्षके बन्धनके एवं बाधाके कर सकता है। ये गुण किसी धर्म, मत, संप्रदाय या पक्षका कोई संकेतचिन्ह नहीं रखते। चाहे किसी देशमें, चाहे किसी जातिमें, चाहे किसी धर्ममें और चाहे किसी पक्षमें—एवं चाहे किसी स्थितिमें रह कर भी, मनुष्य इन चतुर्विध गुणोंका यथाशक्ति पालन कर सकता है और इनके द्वारा इसी जन्ममें, परम सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है। सनातन इसलिये हैं कि संसारमें कभी भी कोई ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती, कि जिसमें इन गुणोंका पालन मनुष्यके लिये अहितकर हो सकता हो या अशक्य हो सकता हो। यह है इन जैन कथा ग्रन्थोंका श्रेष्ठतम नैतिक महत्त्व।

इसी तरह, सांस्कृतिक महत्त्वकी दृष्टिसे भी इन कथाग्रन्थोंका वैसा ही बहुत उच्चतम स्थान है। भारत वर्षके, पिछले ढाई हजार वर्षके सांस्कृतिक इतिहासका सुरेख चित्रपट अंकित करनेमें, जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री, इन कथाग्रन्थोंमेंसे मिल सकती है उतनी अन्य किसी प्रकारके साहित्यमेंसे नहीं मिल सकती। इन कथाओंमें भारतके भिन्न भिन्न धर्म, संप्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदिके विविध कोटिके मनुष्योंके, नाना प्रकारके आचार, विचार, व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श, शिक्षण, संस्कार, नीति, रीति, जीवनपद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य-व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाजसंगठन, धर्मानुष्ठान एवं आत्मसाधन आदिके निदर्शक बहुविध वर्णन निबद्ध किये हुए हैं जिनके आधारसे हम प्राचीन भारतके सांस्कृतिक इतिहासका सर्वांगीण और सर्वतो-मुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं। जर्मनीके प्रो. हर्टेल, विण्टरनित्स, लॉयमान आदि भारतीय विद्या-संस्कृतिके प्रखर पण्डितोंने, जैन कथासाहित्यके इस महत्त्वका मूल्यांकन बहुत पहले ही कर लिया था और उन्होंने इस विषयमें कितना ही मार्गदर्शक संशोधन, अन्वेषण, समालोचन और संपादन आदिका उत्तम कार्य भी कर दिखाया था; लेकिन दुर्भाग्यसे कहो या अज्ञानसे कहो, हमारे भारतवर्षके विद्वानोंका इस विषयकी ओर अभीतक स्थूल दृष्टिपात भी नहीं हो रहा

है। आशा है प्रस्तुत कथाकोशके परिचयके रूपमें हमने जो कुछ थोडा बहुत मार्गदर्शन करा प्रयत्न किया है उसको देख कर, हमारे देशवासी विद्वज्जन इस विषयमें विशेष अध्ययन-म करनेकी ओर प्रवृत्त होंगे।

*

इन पंक्तियोंका आलेखन करते समय, मेरे हृदयमें, मेरे उन सततस्मरणीय सहृदय सहा सन्मित्र स्व० बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघीकी पुण्य स्मृति, सविशेष रूपसे स्पन्दायमान हो है, जिनकी अभिलाषा इस प्रकारके सांस्कृतिक इतिहासके आलेखन और प्रकाशनके देखनेकी स उत्कट रहा करती थी। जैन कथासाहित्य एवं अन्य तथाविध ऐतिहासिक साहित्यका इस प्र पर्यालोचन हो कर, तदनुसार एक सुविस्तृत एवं प्रमाणभूत 'जैन इतिहास' का आलेखन क कराने के विषयमें भी उनकी बडी अभिरुचि रहती थी और वे इस विषयमें सदैव मुझसे प्रेर करते रहते थे। वे चाहते थे कि मैंने अपने अध्ययन-चिन्तनके परिणाममें जो कुछ ऐतिह्य त सोचा-समझा है उसे ज्यों बने त्यों विशेषरूपसे लेखनबद्ध करता रहूं और प्रकाशमें रखता रहूं उनकी उस अन्तिम रुग्णावस्थामें भी, जब ता. ६ जनवरी सन् १९४४ के सन्ध्यासमय, मे जो उनसे आखिरी वार्तालाप हुआ उसमें भी, उन्होंने इस विषयमें मुझसे अपना साग्रह मनोभ प्रकट किया था। जिस प्रकारके ऐतिह्यतथ्यालेखनकी वे मुझसे अपेक्षा रखते थे उसी प्रकार किंचित् आलेखन करनेका प्रयत्न मैंने इस निबन्धमें किया है। मेरा अन्तःकरण कहता है कि य वे आज जीवित होते तो जरूर इसको पढ कर बहुत प्रसन्न होते और अपना हार्दिक सन्तोषभ प्रकट करते। मेरी यह भी श्रद्धा रहती है कि यदि परलोकस्थित उनकी आत्मा किसी तरह इ कृतिको ज्ञात कर सकेगी तो अवश्य वह वहां भी प्रसन्नताका अनुभव करेगी।

*

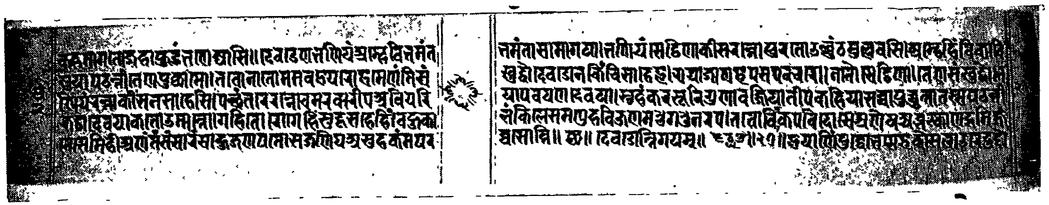
जिनेश्वर सूरिने अपनी इस 'कथाकोष' रूप कृतिका उपसंहार करते हुए, अन्तमें अपने प्रयास सफल होनेकी कामना इस प्रकार प्रकट की है –

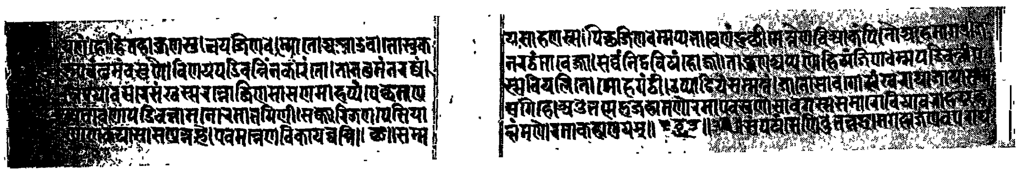
सम्मत्ताइ गुणाणं लाभो जइ होज्ज कित्तियाणं पि।
ता होज्ज णे पयासो सकयत्थो जयउ सुयदेवी॥

अर्थात् – 'यदि किन्हीं भी मनुष्योंको – हमारी इस कृतिके पठनसे – सम्यक् तत्त्वादि गुणों जो लाभ हुआ तो हम अपने इस प्रयासको सकृतार्थ सिद्ध हुआ समझेंगे।' हम भी अन्त जिनेश्वर सूरिके ही इन वचनोंका अनुवाद करते हुए, यही कामना करते हैं कि – इन ग्रन्थों पठन-पाठनसे यदि किन्हीं भी जगज्जनोंके जीवनका, कुछ भी आध्यात्मिक विकास हो कर व प्रगतिके पथ पर अग्रसर हुआ तो, इस ग्रन्थमालाके संस्थापक, संरक्षक, संचालक और सम्पाद गणका प्रयत्न सफल हुआ सिद्ध समझा जायगा। किं बहुना? तथास्तु।

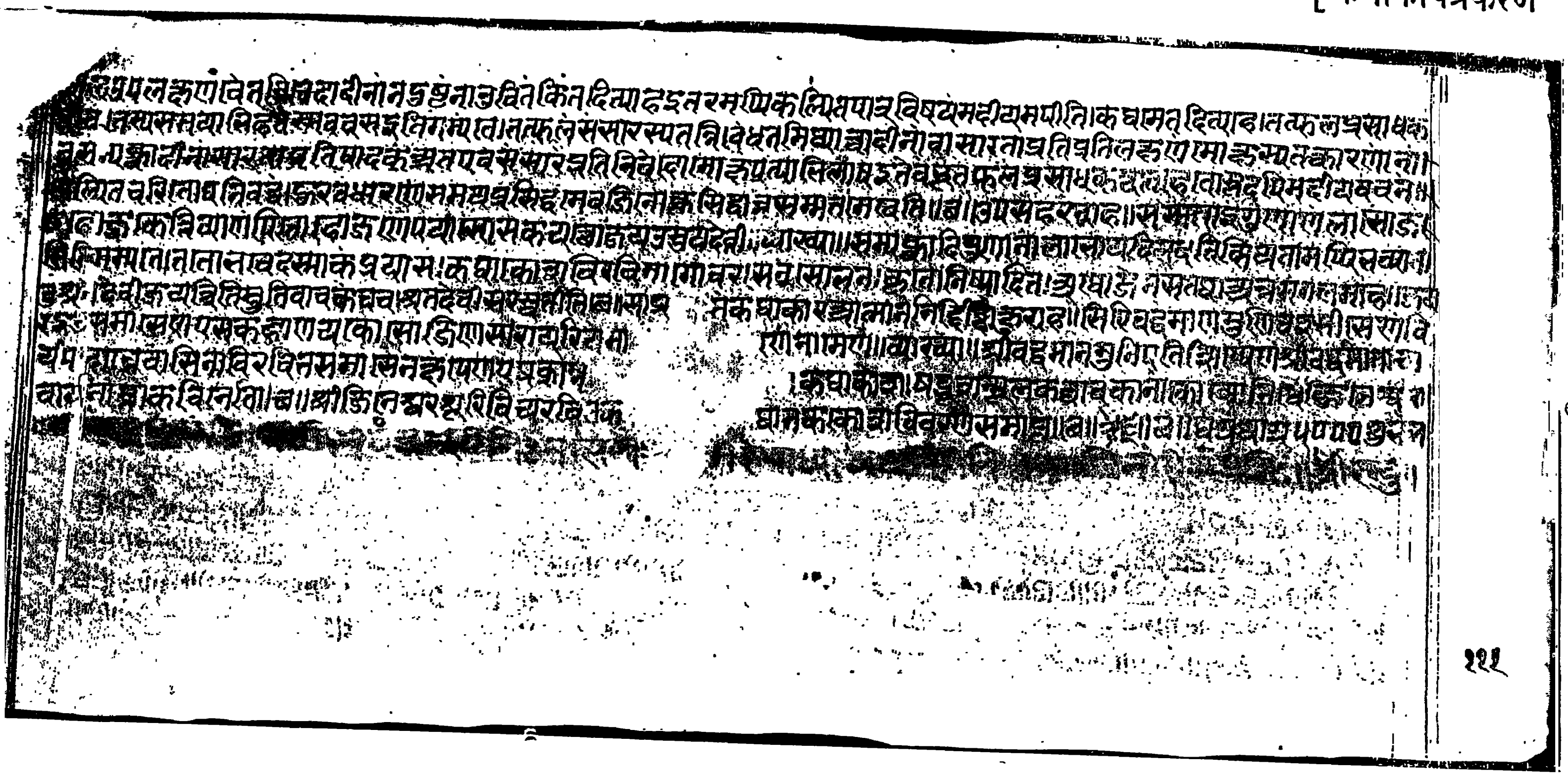
माघशुक्ला १३, सं. २००५ (ता० ११-२-४९)
[ स्वीय जीवनके ६१ वें वर्षका अन्तिम दिन ]
सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ
भारतीय विद्याभवन, बंबई

– जिनविजय मुनि





पाटण प्रति A, अन्तिम पत्र



# कथाकोष प्रकरण और जिनेश्वर सूरि।

## १. प्रस्तुत कथाकोष प्रकरणका प्रकाशन।

ई. स. १९३२ के ग्रीष्मकालमें, दो महिने हमने पाटणमें व्यतीत किये और 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'में प्रकाशित करने लायक कई ग्रन्थ वहांके भण्डारोंमेंसे प्राप्त किये। यह 'कथाकोष प्रकरण'भी उनमेंसे एक था।

जैन कथा-साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और प्राचीन देशभाषामें लिखे गये इस विषयके साहित्यके अनेक ग्रन्थ भण्डारोंमें भरे पडे हैं। भारतवर्षके प्राचीन इतिहास, समाज, भाषा और संस्कृतिके अध्ययनकी दृष्टिसे इन कथाग्रन्थोंका अन्वेषण, संशोधन और प्रकाशन बहुत ही महत्त्व रखता है। विगत दो-ढाई हजार वर्षोंकी भारतीय संस्कृतिका जैसा प्रासंगिक और प्रामाणिक चित्र इन जैन कथाग्रन्थोंमेंसे प्राप्त हो सकता है वैसा अन्य किसी प्रकारके ग्रन्थोंमेंसे नहीं। परन्तु खेदका विषय यही है कि हमारे भारतीय विद्वानोंको इस प्रकारके साहित्यकी न तो कोई समुचित जानकारी ही है और न उनमें इसके अन्वेषणकी और अवलोकनकी चाहिये वैसी मार्मिक दृष्टि ही है। जर्मन विद्वानोंने इस विषयके महत्त्वको कोई तीन-चार बीसीयोंसे पूर्व ही अच्छी तरह पहचान लिया था और डॉ. वेबर, डॉ. लॉयमान, डॉ. याकोबी, डॉ. ब्युल्हर, डॉ. हर्टेल आदि जैसे समर्थ भारतीय-विद्या-विज्ञ विद्वानोंने छोटे-बडे ऐसे कई जैन कथाग्रन्थोंका संशोधन, संपादन, समालोचन और समीक्षण आदि करके इस विषयकी ओर विद्वानोंका लक्ष्य आकर्षित किया था। डॉ. हर्टेल, जिन्होंने संस्कृत पञ्चतन्त्रकी जगद्व्यापी कथाओंका अद्भुत अध्ययन किया और उन पर जर्मन तथा इंग्रेजीमें कई बडे बडे ग्रन्थ लिखे, जैन कथासाहित्यका भी सबसे अधिक सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन किया और इस विषयके महत्त्वको प्रकाशमें रखनेके लिये अनेक निबन्ध एवं पुस्तक-पुस्तिकाएं प्रकट कीं। इन जैन कथाग्रन्थोंका ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिसे क्या वैशिष्ट्य है, इसका दिग्दर्शन भी उन्होंने अपने निबन्धोंमें ठीक ठीक कराया है। डॉ. हर्टेलके निबन्धोंके अवलोकनसे हमारे मनमें यह इच्छा पैदा हुई, कि जैन भण्डारोंमें ऐसे जो अनेक कथा-संग्रहात्मक ग्रन्थ छिपे हुए पडे हैं उनको प्रकाशमें लानेसे एक तो जैन साहित्यका महत्त्व प्रकाशमें आएगा; और दूसरा, भारतकी प्राचीन संस्कृतिविषयक साहित्य-सामग्रीके अभिलाषियोंको इस अपूर्व निधिका परिचय प्राप्त होगा। इस दृष्टिको लक्ष्य कर, हमने भिन्न भिन्न ग्रन्थभण्डारोंमें प्राप्त होनेवाले ऐसे अनेक कथासंग्रह संगृहीत किये हैं—और अब भी किये जा रहे हैं—एवं उन्हें यथासाध्य प्रकाशमें लानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रयत्नके फलस्वरूप आज यह ग्रन्थ विद्वानोंके करकमलमें उपस्थित हो रहा है।

### प्रस्तुत ग्रन्थकी प्राप्त प्रतियां।

पाटणके भण्डारोंमेंसे हमें इस ग्रन्थकी दो पुरानी प्रतियां उपलब्ध हुईं जिनको हमने A और B की संज्ञा दे कर, पाठभेदोंका उद्धरण करनेमें तत्तन्नामसे उनका उपयोग किया है। प्रतियां दोनों ही प्रायः अशुद्धप्राय थीं। इन प्रतियों पर लेखनकालका कोई निर्देश भी नहीं मिला। परंतु इनकी स्थिति देखते हुए मालूम होता है, कि विक्रमीय १६ वीं शताब्दीकी लिखी हुई होनी चाहिये।

इनमेंसे B प्रतिके अन्तमें वह अन्तकी 'ग्रन्थ-लेखक प्रशस्ति' भी नहीं मिली जो पृ. १८१ में मुद्रित है कुछ अन्यान्य परिचित भण्डारोंमें भी इसकी कोई अन्य प्रति प्राप्त करनेका प्रयत्न किया गया परंतु सफल नहीं मिली । ग्रन्थकी प्रेसकॉपी तैयार कर लेनेके बाद और ग्रन्थका कितनाक भाग छप जाने पश्चात्, बम्बईके महावीर स्वामीके मन्दिरमें रक्षित खरतर गच्छीय ज्ञान-भण्डारमेंसे, एक और प्रति मि जो बिल्कुल नई ही लिखी हुई थी परंतु प्रत्यन्तर होनेसे उसका संशोधनमें हमें कुछ ठीक उपयोग हुआ

सन् १९४२-४३में जब हमने जेसलमेरके भण्डारोंका अवलोकन किया, तब वहां इस ग्रंथ प्रतिकी खोज की। परंतु वहां इसकी कोई प्रति दृष्टिगोचर नहीं हुई। हां ताडपत्रवाले भण्डारमें कुछ ५-१ त्रुटित ताडपत्र इसके जरूर दिखाई दिये। इन पत्रोंकी अवस्था और लिपिके अवलोकनसे हमें यह अनुमा हुआ कि यह प्रति बहुत कुछ पुरानी होनी चाहिये—अर्थात् १२ वीं शताब्दीके उत्तर भागमें या १३ के पूर्व भागमें लिखी हुई होनी चाहिये। सैंकडों ग्रन्थोंके हजारों त्रुटित ताडपत्रोंमें हमने इसके अन्ति पत्रकी प्राप्तिके लिये बहुत कुछ परिश्रम किया परन्तु वह सफल नहीं हुआ। पीछेसे, सन् १९४४ जब भावनगर जानेका प्रसंग आया, तब वहांके संघके भण्डारमें इस ग्रन्थकी एक ताडपत्रीय प्र दृष्टिगोचर हुई। परन्तु इसमें भी लेखनकालका निर्देश नहीं मिला। अनुमानतः यह १४ वीं शताब्दी अन्त भागमें लिखी हुई होगी। इस प्रतिका दर्शनमात्र कर लेनेके उपरान्त और कोई उपयोग नहीं सका। हां, यह नोट अवश्य कर लिया गया कि इसके अन्तमें भी ग्रन्थकी वह प्रशस्ति लिखी हुई जो पाटणकी A संज्ञक प्रतिमें मिलती है।

प्रतियोंके अशुद्धप्राय होनेसे ग्रन्थके संशोधनमें बहुत कुछ श्रम और समय व्यतीत होना स्वाभावि ही है। पाद-टिप्पणियोंमें जो पाठभेद सूचित किये गये हैं वे केवल वैसे ही पाठ हैं जो शब्द औ अर्थकी दृष्टिसे शुद्ध हो कर कुछ विशेषत्व बतलाते हैं। बाकी अशुद्ध पाठ तो इनमें इतने हैं वि जिनका उद्धरण करनेसे प्रत्येक मुद्रित पृष्ठका पूरा आधा भाग भर जाय। ऐसे अशुद्ध पाठोंका उद्धरण करना हमने सर्वथा निरर्थक समझा और उनका कोई निर्देश नहीं किया।

## २. जिनेश्वर सूरिका समय और तत्कालीन परिस्थिति।

इस ग्रन्थके कर्ता, जैसा कि ग्रन्थगत आदि एवं अन्तके उल्लेखोंसे स्पष्टतया ज्ञात होता श्री जि ने श्व र सू रि हैं। यों तो इस नामके सूरि जैन संप्रदायमें अनेक हो चुके हैं, पर इसके कर्त्ता वे ही जि ने श्व र सू रि हैं, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं और जिनका स्थान जैन श्वेताम्बर-संप्रदायमें बहुत ही विशिष्ट महत्त्व रखता है।

ये आचार्य श्री वर्द्धमान सूरिके शिष्य थे। विक्रम संवत् ११०८ के मार्गशीर्ष मासकी कृष्ण पंचमीके दिन, इस ग्रन्थकी रचना उन्होंने समाप्त की और इसकी प्रथम प्रतिलिपि उन्हींके शिष्य श्री जिनभद्र नामक सूरिने अपने हाथसे तैयार की। यह इतना ऐतिह्य ज्ञातव्य, प्रस्तुत ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिसे स्पष्ट ज्ञात हो रहा है। इसी प्रशस्तिमें यह भी सूचित किया गया है कि जिनेश्वर सूरिके प्रगुरु एवं श्री वर्द्धमान सूरिके गुरु श्री उद्योतन सूरि थे जो चन्द्र कुलके कोटिक गणकी वज्री शाखाके परिवारके थे।

इन जि ने श्व र सू रि के विषयमें, **जिनदत्तसूरिकृत गणधरसार्द्धशतक**की सुमतिगणीकृत **बृहद्वृत्ति**में लोपाध्याय लिखित **खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि**में, प्रभाचन्द्राचार्यरचित **प्रभावकचरित** औ

किसी अज्ञात कर्तृक प्राचीन **पूर्वाचार्यप्रबन्ध** एवं अन्यान्य पट्टावलियां आदि अनेक ग्रन्थों–प्रबन्धोंमें कितना ही ऐतिहासिक वृत्तान्त ग्रथित किया हुआ उपलब्ध होता है।

## जिनेश्वर सूरिके समयमें जैन यतिजनोंकी अवस्था।

इनके समयमें, श्वेताम्बर जैन संप्रदायमें, उन यतिजनोंके समूहका प्राबल्य था जो अधिकतर चैत्यों अर्थात् जिनमन्दिरोंमें निवास करते थे। ये यतिजन जैन देवमन्दिर, जो उस समय चैत्यके नामसे विशेष प्रसिद्ध थे, उन्हींमें अहर्निश रहते, भोजनादि करते, धर्मोपदेश देते, पठन-पाठनादिमें प्रवृत्त होते और सोते बैठते। अर्थात् चैत्य ही उनका मठ या बासस्थान था और इसलिये वे **चैत्यवासी** के नामसे प्रसिद्ध हो रहे थे। इसके साथ उनके आचार–विचार भी बहुतसे ऐसे शिथिल अथवा भिन्न प्रकारके थे जो जैन शास्त्रोंमें वर्णित निर्ग्रन्थ–जैनमुनिके आचारोंसे असंगत दिखाई देते थे। वे एक तरहके मठपति थे। शास्त्रोक्त आचारोंका यथावत् पालन करनेवाले यति–मुनि उस समय बहुत कम संख्यामें नजर आते थे।

## अणहिल्लपुरमें चैत्यवासियोंका प्रभाव।

गुजरातकी पुरातन राजधानी अणहिल्लपुर, जो उस समय सारे भारत वर्षमें एक प्रधान नगरी समझी जाती थी और जो समृद्धि और संस्कृतिकी दृष्टिसे बडी ख्याति रखती थी, जैन धर्मका भी एक बडा केन्द्रस्थान बनी हुई थी। जैन धर्मके सेंकडों ही देवमन्दिर उसमें बने हुए थे। हजारोंकी संख्यामें वहां जैन श्रावक लोग वसते थे। व्यापार, कृषि और राजकारभारमें इन जैनोंका स्थान बहुत ऊंचा था–सबसे अधिक अग्रगण्य था। भारतके सुन्दरतम स्थापत्यके एक अनन्य उदाहरण स्वरूप, आबू पर्वत परके आदिनाथके मन्दिरका एवं कुंभारियाके जैन मन्दिरोंका निर्मापक, महान् कलाप्रिय और गुजरातके साम्राज्यका प्रचण्ड रक्षक, महा दंडनायक विमल मंत्री आदि जैसे अनेक जैन श्रावक उस नगरके प्रमुख नागरिक माने जाते थे। शास्त्रकार शान्त्याचार्य, महाकवि सूराचार्य, मन्त्रवादी वीराचार्य आदि जैसे प्रभावशाली, प्रतिष्ठासंपन्न और विद्वदग्रणी चैत्यवासी यतिजन उस जैन समाजके धर्माध्यक्षत्वका गौरव प्राप्त कर रहे थे। जैन समाजके अतिरिक्त आम जनतामें और राजदरबारमें भी, इन चैत्यवासी यतिजनोंका बहुत बडा प्रभाव था। जैन धर्मशास्त्रोंके अतिरिक्त, ज्योतिष, वैद्यक और मन्त्र-तन्त्रादि शास्त्रों और उनके व्यावहारिक प्रयोगोंके विषयमें भी, ये जैन यतिगण बहुत विज्ञ और प्रमाणभूत माने जाते थे। धर्माचार्यके खास कार्यों और व्यवसायोंके सिवा, ये व्यावहारिक विषयोंमें भी बहुत कुछ योगदान किया करते थे। जैन गृहस्थोंके बच्चोंकी व्यावहारिक शिक्षाका काम प्रायः इन्हीं यतिजनोंके अधीन था और इनकी पाठशालाओंमें जैनेतर गण्य-मान्य सेठ साहुकारों एवं उच्चकोटिके राजदरबारी पुरुषोंके बच्चे भी बडी उत्सुकता पूर्वक शिक्षालाभ प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार राजवर्ग और जनसमाजमें इन चैत्यवासी यतिजनोंकी बहुत कुछ प्रतिष्ठा जमी हुई थी और सब बातोंमें इनकी धाक बैठी हुई थी। पर इनका यह सब व्यवहार, जैन शास्त्रकी दृष्टिसे यतिमार्गके सर्वथा विपरीत और हीनाचारका पोषक था। जैन शास्त्रोंके विधानके अनुसार जैन यतियोंका मुख्य कर्तव्य केवल आत्म-कल्याण करना है और उसके आराधन निमित्त शम, दम, तप आदि दशविध यतिधर्मका सतत पालन करना है। जीवन-यापनके निमित्त जहां कहीं मिल गया वैसा रूखा-सूका और सो भी शास्त्रोक्त विधिके अनुकूल–भिक्षान्नका उपभोग कर, अहर्निश ज्ञान-ध्यान निमग्न रहना और जो कोई मुमुक्षु जन अपने

पास चला आवे उसे एक मात्र मोक्षमार्गका उपदेश करना है । इसके सिवा, यतिको न गृहस्थ जनोंव किसी प्रकारका संसर्ग ही कर्तव्य है और न किसी प्रकारका किसीको उपदेश ही वक्तव्य है । फिर स्थानमें, बहुत समय तक नियतवासी न बन कर सदैव परिभ्रमण करते रहना और घनी वसतिमें रह कर, गांवके बहार जीर्ण-शीर्ण देवकुलोंके प्रांगणोंमें या पथिकाश्रयोंमें एकान्तनिवासी हो क किसी-न-किसी तरहका सदैव तप करते रहना ही जैन यतिका शास्त्रविहित एक मात्र जीवनक्रम है ।

## जिनेश्वर सूरिका चैत्यवासियोंके विरुद्ध आन्दोलन ।

इस प्रकारके शास्त्रोक्त यतिधर्मके आचार और चैत्यवासी यतिजनोंके उक्त व्यवहारमें, परस्पर बड़ असामंजस्य देख कर, और श्रमण-भगवान् महावीर उपदिष्ट श्रमण धर्मकी इस प्रकार प्रचलित विप्ल दशासे उद्विग्न हो कर, जिनेश्वर सूरिने उसके प्रतीकारके निमित्त अपना एक सुविहित मार्गप्रचारक न गण स्थापित किया और उन चैत्यवासी यतियोंके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन शुरू किया ।

यों तो प्रथम, इनके गुरु श्री वर्धमान सूरि स्वयं ही चैत्यवासी यतिजनोंके एक प्रमुख सूरि थे । पर जै शास्त्रोंका विशेष अध्ययन करने पर मनमें कुछ विरक्त भाव उदित हो जानेसे और तत्कालीन जैन यति संप्रदायकी उक्त प्रकारकी आचारविषयक परिस्थितिकी शिथिलताका अनुभव कुछ अधिक उद्वेगजनः लगनेसे, उन्होंने उस अवस्थाका त्याग कर, विशिष्ट त्यागमय जीवनका अनुसरण करना स्वीकृत किया था जिनेश्वर सूरिने अपने गुरुके इस स्वीकृत मार्ग पर चलना विशेष रूपसे निश्चित किया इतना ही नहीं परं उन्होंने उसे सारे संप्रदायव्यापी और देशव्यापी बनानेका भी संकल्प किया और उसके लिये आजीव प्रबल पुरुषार्थ किया । इस प्रयत्नके उपयुक्त और आवश्यक ऐसे ज्ञानबल और चारित्रबल दोनों उनमें पर्याप्त प्रमाणमें विद्यमान थे, इसलिये उनको अपने ध्येयमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई औ उसी अणहिल्ल पुरमें, जहां पर चैत्यवासियोंका सबसे अधिक प्रभाव और विशिष्ट समूह था, जा क उन्होंनें चैत्यवासके विरुद्ध अपना पक्ष और प्रतिष्ठान प्रस्थापित किया । चौलुक्य नृपति दुर्लभराजके सभामें, चैत्यवासी पक्षके समर्थक अग्रणी सूराचार्य जैसे महाविद्वान् और प्रबल सत्ताशील आचार्यके सा शास्त्रार्थ कर, उसमें विजय प्राप्त किया । इस प्रसंगसे जिनेश्वर सूरिकी केवल अणहिल्ल पुरमें ही नहीं परंतु सारे गुजरातमें, और उसके आस-पासके मारवाड, मेवाड, मालवा, वागड, सिन्ध और दिल्ली तः के प्रदेशोंमें खूब ख्याति और प्रतिष्ठा बढी । जगह जगह सेंकडों ही श्रावक उनके भक्त औ अनुयायी बन गये । इसके अतिरिक्त सेंकडों ही अजैन गृहस्थ भी उनके भक्त बन कर नये श्रावक बने अनेक प्रभावशाली और प्रतिभाशील व्यक्तियोंने उनके पास यतिदीक्षा ले कर, उनके सुविहित शिष्य कहलानेका गौरव प्राप्त किया । उनकी शिष्यसन्तति बहुत बढी और वह अनेक शाखा-प्रशाखाओं फैली । उसमें बडे बडे विद्वान्, क्रियानिष्ठ और गुणगरिष्ठ आचार्य-उपाध्यायादि समर्थ साधु पुरु हुए । नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेव सूरि, संवेगरङ्गशालादि ग्रन्थोंके प्रणेता जिनचन्द्र सूरि, सुरसुन्दर चरितके कर्ता धनेश्वर अपरनाम जिनभद्र सूरि, आदिनाथचरित्रादिके रचयिता वर्धमान सूरि पार्श्वनाथचरित्र एवं महावीरचरित्रके कर्ता गुणचन्द्र गणी अपर नाम देवभद्र सूरि, संघपट्टकादिक अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता जिनवल्लभ सूरि—इत्यादि अनेकानेक बडे बडे धुरन्धर विद्वान और शास्त्रकार, ज उस समय उत्पन्न हुए और जिनकी साहित्यिक उपासनासे जैन वाङ्मय-भण्डार बहुत कुछ सुसमृद्ध सुप्रतिष्ठित बना—इन्हीं जिनेश्वर सूरिके शिष्य-प्रशिष्योंमेंसे थे ।

## विधिपक्ष अथवा खरतर गच्छका प्रादुर्भाव और गौरव।

इन्हीं जिनेश्वर सूरिके एक प्रशिष्य आचार्य श्री जिनवल्लभ सूरि और उनके पट्टधर श्री जिनदत्त सूरि (वि. सं. ११६९-१२११) हुए जिन्होंने अपने प्रखर पाण्डित्य, प्रकृष्ट चारित्र और प्रचण्ड व्यक्तित्वके प्रभावसे मारवाड, मेवाड, बागड, सिन्ध, दिल्लीमण्डल और गुजरातके प्रदेशमें हजारों अपने नये भक्त श्रावक बनाये – हजारों ही अजैनोंको उपदेश दे दे कर नूतन जैन बनाये। स्थान स्थान पर अपने पक्षके अनेकों नये जिनमन्दिर और जैन उपाश्रय तैयार करवाये। अपने पक्षका नाम इन्होंने **विधिपक्ष** ऐसा उद्घोषित किया और जितने भी नये जिनमन्दिर इनके उपदेशसे, इनके भक्त श्रावकोंने बनवाये उनका नाम **विधिचैत्य** ऐसा रक्खा गया। परंतु पीछेसे चाहे जिस कारणसे हो – इनके अनुगामी समुदायको **खरतर पक्ष** या **खरतर गच्छ** ऐसा नूतन नाम प्राप्त हुआ और तदनन्तर यह समुदाय इसी नामसे अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ जो आज तक अविच्छिन्न-रूपसे विद्यमान है।

इस खरतर गच्छमें उसके बाद अनेक बडे बडे प्रभावशाली आचार्य, बडे बडे विद्यानिधि उपाध्याय, बडे बडे प्रतिभाशाली पण्डित मुनि और बडे बडे मांत्रिक, तांत्रिक, ज्योतिर्विद्, वैद्यकविशारद आदि कर्मठ यतिजन हुए जिन्होंने अपने समाजकी उन्नति, प्रगति और प्रतिष्ठाके बढानेमें बडा भारी योग दिया। सामाजिक और सांप्रदायिक उत्कर्षकी प्रवृत्तिके सिवा, खरतर गच्छानुयायी विद्वानोंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं देश्य भाषाके साहित्यको भी समृद्ध करनेमें असाधारण उद्यम किया और इसके फल-स्वरूप आज हमें भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयोंका निरूपण करने वाली छोटी-बडी सेंकडों-हजारों ग्रन्थकृतियां जैन भण्डारोंमें उपलब्ध हो रही हैं। खरतरगच्छीय विद्वानोंकी की हुई यह साहित्योपासना न केवल जैन धर्मकी ही दृष्टिसे महत्त्ववाली है, अपि तु समुच्चय भारतीय संस्कृतिके गौरवकी दृष्टिसे भी उतनी ही महत्ता रखती है।

साहित्योपासनाकी दृष्टिसे खरतर गच्छके विद्वान् यति-मुनि बडे उदारचेता मालूम देते हैं। इस विषयमें उनकी उपासनाका क्षेत्र केवल अपने धर्म या संप्रदायकी बाडसे बद्ध नहीं है। वे जैन और जैनेतर वाङ्मयका समान भावसे अध्ययन-अध्यापन करते रहे हैं। व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, नाटक, ज्योतिष, वैद्यक और दर्शनशास्त्र तकके अगणित अजैन ग्रन्थोंका उन्होंने बडे आदरसे आकलन किया है और इन विषयोंके अनेक अजैन ग्रन्थों पर उन्होंने अपनी पाण्डित्यपूर्ण टीकाएं आदि रच कर तत्तद् ग्रन्थों और विषयोंके अध्ययन कार्यमें बडा उपयुक्त साहित्य तैयार किया है। खरतर गच्छके गौरवको प्रदर्शित करने वालीं ये सब बातें हम यहां पर बहुत ही संक्षेपमें, केवल सूत्ररूपसे, उल्लिखित कर रहे हैं। विशेष रूपसे लिखनेका यहां अवकाश नहीं है। इस ग्रन्थके साथ ही हम खरतर गच्छकी एक बहुत विस्तृत और बहुत पुरातन पट्टावलि – जिसका नाम हमने **'युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि'** ऐसा रखा है – प्रकट कर रहे हैं, जिसमें इन जिनेश्वर सूरिसे प्रारंभ कर, श्री जिनवल्लभ सूरिकी परम्पराके खरतर गच्छीय आचार्य श्री जिनपद्म सूरिके पट्टाभिषिक्त होनेके समय तकका – विक्रम संवत् १४०० के लगभगका – बहुत विस्तृत और प्रायः विश्वस्त ऐसा ऐतिहासिक वर्णन दिया हुआ है। उसके अध्ययनसे पाठकोंको खरतर गच्छके तत्कालीन गौरवकी गाथाका अच्छा परिचय मिल सकेगा।

इस तरह पीछेसे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त उक्त खरतर गच्छके अतिरिक्त, जिनेश्वर सूरिकी शिष्यपरम्परामेंसे अन्य भी कई-एक छोटे-बडे गण-गच्छ प्रचलित हुए और उनमें भी कई बडे बडे प्रसिद्ध विद्वान्,

ग्रन्थकार, व्याख्यानिक, वादी, तपस्वी, चमत्कारी साधु-यति हुए जिन्होंने अपने व्यक्तित्वसे उ समाजको समुन्नत करनेमें उत्तम योग दिया ।

## जिनेश्वर सूरिके जीवनका अन्य यतिजनों पर प्रभाव ।

जिनेश्वर सूरिके प्रबल पाण्डित्य और प्रकृष्ट चारित्रका प्रभाव इस तरह न केवल उनके निज शिष्यसमूहमें ही प्रसारित हुआ, अपि तु तत्कालीन अन्यान्य गच्छ एवं यतिसमुदायके बडे बडे व्यक्तित्वशाली यतिजनों पर उसने गहरा असर डाला और उसके कारण उनमेंसे भी कई सम व्यक्तियोंने, इनके अनुकरणमें, क्रियोद्धार और ज्ञानोपासना आदिकी विशिष्ट प्रवृत्तिका बडे उत्साह साथ उत्तम अनुसरण किया । इनमें बृहद्गच्छके नेमिचन्द्र और मुनिचन्द्र सूरिका संप्रदाय तथा मलध गच्छीय अभयदेव सूरिका समुदाय एवं पूर्णतल्ल गच्छानुयायी प्रद्युम्न सूरिका शिष्यपरिवार विशेष उल्ले योग्य है । मुनिचन्द्र सूरिकी शिष्य-सन्ततिमें वादी देवसूरि, भद्रेश्वर सूरि, रत्नप्रभ सूरि, सोमप्रभ सूरि आदि ब ख्यातिमान्, महा विद्वान् और समर्थ ग्रन्थकार हुए । इन्हींकी शिष्यपरंपरामें आगे जा कर जगच्चन्द्र सू और उनके शिष्य देवेन्द्र सूरि, तथा विजयचन्द्र सूरि आदि प्रख्यात आचार्य हुए, जिनसे श्वेताम्बर संप्रदाय पिछले ५०० – ६०० वर्षोंमें सबसे अधिक प्रतिष्ठाप्राप्त **त पा ग च्छ** नामक संप्रदायका प्रचार औ प्रभाव फैला । वर्तमानमें श्वेताम्बर संप्रदायमें सबसे अधिक प्रभाव इसी गच्छका दिखाई दे रहा है ।

मलधार गच्छीय अभयदेव सूरिके शिष्य-प्रशिष्योंमें हेमचन्द्र सूरि ( विशेषावश्यकभाष्यव्याख्यादिके कर्ता लक्ष्मणगणी, श्रीचन्द्र सूरि आदि बडे समर्थ विद्वान् हुए जिनके चारित्र और ज्ञानके प्रभावने तत्काली जैन समाजकी उन्नतिमें विशेष प्रशंसनीय कार्य किया । पूर्णतल्ल गच्छमें देवचन्द्र सूरि और उनके जग त्प्रसिद्ध शिष्य कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरि और उनके शिष्य रामचन्द्र, बालचन्द्र आदि हुए । हेमचन सूरिकी सर्वतोमुखी प्रतिभाने जैन साहित्यको कैसा गौरवान्वित किया और उनके अप्रतिम सदाचरण तथ अलौकिक तपस्तेजने जैन समाजको कितना समुन्नत बनाया यह इतिहास प्रसिद्ध है ।

## जिनेश्वर सूरिसे जैन समाजमें नूतन युगका आरंभ ।

इनके प्रादुर्भाव और कार्यकलापके प्रभावसे जैन श्वेताम्बर समाजमें एक सर्वथा नवीन युगका आरंभ होना शुरू हुआ । पुरातन प्रचलित भावनाओंमें परिवर्तन होने लगा । त्यागी और गृहस्थ दोनों प्रकारके समूहोंमें नये संगठन होने शुरू हुए । त्यागी अर्थात् यतिवर्ग जो पुरातन परम्परागत गण और कुलके रूपमें विभक्त था, वह अब नये प्रकारके गच्छोंके रूपमें संघटित होने लगा । देवपूजा और गुरूपास्तिकी जो कितनीक पुरानी पद्धतियां प्रचलित थीं उनमें संशोधन और परिवर्तनके वातावरणका सर्वत्र उद्भव होने लगा । इसके पहले यतिवर्गका जो एक बडा समूह चैत्यनिवासी हो कर चैत्योंकी संपत्ति और संरक्षाका अधिकारी बना हुआ था और प्रायः शिथिलक्रिय और स्वपूजानिरत हो रहा था, उसमें इनके आचार-प्रवण और भ्रमणशील जीवनके प्रभावसे, बडे वेगसे और बडे परिमाणमें परिवर्तन होना प्रारंभ हुआ । इनके आदर्शको लक्ष्यमें रख कर, जैसा कि हम ऊपर सूचित कर आये हैं, अन्यान्य अनेक समर्थ यतिजन चैत्याधिकारका और शिथिलाचारका त्याग कर, संयमकी विशुद्धिके निमित्त उचित क्रियोद्धार करने लगे और अच्छे संयमी बनने लगे । संयम और तपश्चरणके साथ साथ, भिन्न भिन्न विषयोंके शास्त्रोंके अध्ययन और ज्ञान-संपादनका कार्य भी इन यतिजनोंमें खूब उत्साहके साथ व्यवस्थित रूपसे होने लगा । सभी उपादेय विषयोंके नये नये ग्रंथ निर्माण किये जाने लगे और पुरातन ग्रन्थोंपर टीका-टिप्पण आदि रचे जाने लगे । अध्ययन-अध्यापन और ग्रन्थ-निर्माणके कार्यमें आवश्यक ऐसे पुरातन जैन

ग्रन्थोंके अतिरिक्त ब्राह्मण और बौद्ध संप्रदायके भी, व्याकरण, न्याय, अलंकार, काव्य, कोष, छन्द, ज्योतिष आदि विविध विषयोंके सभी महत्त्वके ग्रन्थोंकी पोथियोंके संग्रहवाले बडे बडे ज्ञान भण्डार भी स्थापित किये जाने लगे।

अब ये यतिजन केवल अपने अपने स्थानोंमें ही बद्ध हो कर बैठ रहनेके बदले भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें घूमने लगे और तत्कालीन परिस्थितिके अनुरूप, धर्मके प्रचारका कार्य करने लगे। जगह जगह अजैन क्षत्रिय और वैश्य कुलोंको अपने आचार और ज्ञानसे प्रभावित कर, नये नये जैन श्रावक बनाए जाने लगे और पुराने जैन गोष्ठी-कुल नवीन जातियोंके रूपमें संगठित किये जाने लगे। पुराने जैन देवमन्दिरोंका उद्धार और नवीन मन्दिरोंका निर्माण कार्य भी सर्वत्र विशेष रूपसे होने लगा। जिन यतिजनोंने चैत्यनिवास छोड दिया था उनके रहनेके लिये ऐसे नये वसतिगृह बनने लगे जिनमें उन उन यतिजनोंके अनुयायी श्रावक भी अपनी नित्य-नैमित्तिक धर्मक्रियाएं करनेकी व्यवस्था रखते थे। ये ही वसतिगृह पिछले कालमें उपाश्रयके नामसे प्रसिद्ध हुए। मन्दिरोंमें पूजा और उत्सवोंकी प्रणालिकाओंमें भी नये नये परिवर्तन होने लगे और इसके कारण यतिजनोंमें परस्पर, शास्त्रोंके कितनेक विवादास्पद विचारों और शब्दार्थों पर भी वाद-विवाद होने लगा; और इसके परिणाममें कई नये नये गच्छ और उपगच्छ भी स्थापित होने लगे। ऐसे चर्चास्पद विषयों पर स्वतंत्र छोटे-बडे ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे और एक-दूसरे संप्रदायकी ओरसे उनका खण्डन-मण्डन भी किया जाने लगा। इस तरह इन यतिजनोंमें पुरातन प्रचलित प्रवाहकी दृष्टिसे, एक प्रकारका नवीन जीवन-प्रवाह चालू हुआ और उसके द्वारा जैन संघका नूतन संगठन बनना आरंभ हुआ।

इस तरह तत्कालीन जैन इतिहासका सिंहावलोकन करनेसे ज्ञात होता है, कि विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके प्रारंभमें जैन यतिवर्गमें एक प्रकारसे नूतन युगकी उषाका आभास होने लगा था जिसका प्रकट प्रादुर्भाव जिनेश्वर सूरिके गुरु वर्धमान सूरिके क्षितिज पर उदित होने पर दृष्टिगोचर हुआ। जिनेश्वर सूरिके जीवन कार्यने इस युग-परिवर्तनको सुनिश्चित मूर्तस्वरूप दिया। तबसे ले कर पिछले प्रायः ९०० वर्षोंमें, इस पश्चिम भारतमें, जैन धर्मका जो सांप्रदायिक और सामाजिक स्वरूपका प्रवाह प्रचलित रहा उसके मूलमें जिनेश्वर सूरिका जीवन सबसे अधिक विशिष्ट प्रभाव रखता है और इस दृष्टिसे जिनेश्वर सूरिको, जो उनके पिछले शिष्य-प्रशिष्योंने, **युगप्रधान** पदसे सम्बोधित और स्तुतिगोचर किया है वह सर्वथा ही सत्य वस्तुस्थितिका निदर्शक है।

## ३. जिनेश्वर सूरिके जीवनचरितका साहित्य।

जिनेश्वर सूरिके इस प्रकारके युगावतारी जीवन कार्यका निर्देश करनेवाले उल्लेख यों तो सेंकडों ही ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। क्यों कि उनकी शिष्य सन्ततिमें आज तक सेंकडों ही विद्वान् और ग्रन्थकार यतिजन हो गये हैं और उन सबने प्रायः अपनी अपनी कृतियोंमें इनके विषयमें थोडा-बहुत स्मरणात्मक उल्लेख अवश्य किया है। इन ग्रन्थोंके सिवाय, बीसियों ऐसी गुरुपट्टावलियां हैं, जिनमें इनके चैत्यवास निवारण रूप कार्यका अवश्य उल्लेख किया हुआ रहता है। ये पट्टावलियां भिन्न-भिन्न समयमें, भिन्न-भिन्न यतियों द्वारा, प्राकृत, संस्कृत और प्राचीन देश्य भाषामें लिपिबद्ध की हुई हैं। इन ग्रन्थस्थ लेखोंके अतिरिक्त जिनमूर्तियों और जिनमन्दिरोंके ऐसे अनेक शिलालेख भी मिलते हैं जिनमें भी इनके विषयका कितनाक सूचनात्मक एवं परिचयात्मक निर्देश किया हुआ उपलब्ध होता है। परन्तु

ये सब निर्देश, अपेक्षाकृत उत्तरकालीन हो कर, मूलभूत जो सबसे प्राचीन निर्देश हैं उन्हींके अनुलेखन रूप होनेसे तथा कहीं कहीं विविध प्रकारकी अनैतिहासिकताका स्वरूप धारण कर लेनेसे, इनके विषयमें यहां खास विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हम यहां पर उन्हीं निर्देशोंका सूचन करते हैं जो सबसे प्राचीन हो कर ऐतिहासिक मूल्य अधिक रखते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है जिनेश्वर सूरि एक बहुत ही भाग्यशाली साधुपुरुष थे। इनकी यशोरेखा एवं भाग्यरेखा बडी उत्कट थी। इससे इनको ऐसे ऐसे शिष्य और प्रशिष्यरूप महान् सन्ततिरत्न प्राप्त हुए जिनके पाण्डित्य और चारित्र्यने इनके गौरवको दिगन्तव्यापी और कल्पान्तस्थायी बना दिया। यों तो प्राचीन कालमें, जैन संप्रदायमें सेंकडों ही ऐसे समर्थ आचार्य हो गये हैं जिनका संयमी जीवन जिनेश्वर सूरिके समान ही महत्त्वशाली और प्रभावपूर्ण था; परन्तु जिनेश्वर सूरिके जैसा विशालप्रज्ञ और विशुद्ध संयमवान्, विपुल शिष्य-समुदाय शायद बहुत ही थोडे आचार्योंको प्राप्त हुआ होगा। जिनेश्वर सूरिके शिष्य-प्रशिष्योंमें एक-से-एक बढ कर अनेक विद्वान् और संयमी पुरुष हुए और उन्होंने अपने महान् गुरुकी गुण-गाथाका बहुत ही उच्चस्वरसे खूब ही गान किया है। सद्भाग्यसे इनके ऐसे शिष्य-प्रशिष्योंकी बनाई हुई बहुतसी ग्रन्थकृतियां आज भी उपलब्ध हैं और उनमेंसे हमें इनके विषयकी यथेष्ट गुरु-प्रशस्तियां पढनेको मिलती हैं। इनमेंसे कुछ महत्त्वके प्रशस्ति-पाठोंका हम यहां उल्लेख करना चाहते हैं।

## बुद्धिसागराचार्यकृत उल्लेख।

जिनेश्वर सूरिके समकालीन और सहवासी ग्रन्थकारोंमें, सबसे पहला स्थान उन्हींके लघु भ्राता श्री बुद्धिसागराचार्यको प्राप्त होता है। ये जिनेश्वर सूरिके सहोदर भ्राता भी थे और सतीर्थ्य गुरुबन्धु भी थे। माल्रम देता है प्रायः ये दोनों बन्धु साथ ही रहते और विचरते थे। वि. सं. १०८० में ये दोनों आचार्य जाबालिपुर (आधुनिक मारवाड राज्यका जालोर) में थे। जिनेश्वर सूरिने यहां पर, इस वर्षमें हरिभद्राचार्यकृत अष्टकसंग्रह नामक प्रकरण ग्रन्थकी टीका बनाई और बुद्धिसागराचार्यने अपने स्वोपज्ञ **पंचग्रन्थी** नामक संस्कृत व्याकरण ग्रन्थकी रचना पूर्ण की[1]। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें बुद्धिसागराचार्यने निम्न लिखित पद्योंमें, संक्षिप्त रूपसे परन्तु बडे ही सारगर्भित भावसे, अपने बन्धु-आचार्यकी गुणगरिमाका गौरव पूर्ण उल्लेख किया है।

---

१ जिनेश्वर सूरिने भी स्वयं इस व्यारणका उल्लेख अपने प्रमालक्षण नामक ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें इस प्रकार किया है –

**श्रीबुद्धिसागराचार्यैर्वृत्तैर्व्याकरणं कृतम्। अस्माभिस्तु प्रमालक्ष्म वृद्धिमायातु सांप्रतम्॥**

इस व्याकरण ग्रन्थ की अभी तक एक ही मूल प्रति जेसल मेरके ज्ञानभण्डारमें ताडपत्र ऊपर लिखी हुई ज्ञात हुई है। इसी प्रतिके ऊपरसे, जिनभद्र सूरिके समयमें, (वि. सं. १४७५–१५१४) कागज ऊपर प्रतिलिपित की गई प्रति पाटणके वाडीपार्श्वनाथके भण्डारमें उपलब्ध है। जेसलमेरका ताडपत्रीय पुस्तक भी प्रायः शुद्ध नहीं है और उस परसे प्रतिलिपित पाटणकी प्रति भी वैसी ही अशुद्धप्राय है। इस ग्रन्थकी अन्तकी पूरी प्रशस्ति इस प्रकार है।

**आसीन्महावीरजिनोऽस्य शिष्यः, सुधर्मनामाऽस्य च जम्बुनामा।**
**तस्यापि शिष्यः प्रभवोऽस्य शिष्यः, शय्यम्भवोऽस्यानुपरम्परायाम्॥ १॥**

**वज्रोऽस्य शाखाम्बरमण्डलेऽस्मिन्, साधूडुवृन्दावृतशान्तकान्तिः।**
**भव्यासुमत्सत्कुमुदप्रबोधो निर्ना(र्णा)शिताज्ञानघनान्धकारः॥ २॥**

**बालेन्दुवत् सर्वजनाभिवन्द्यः शुक्लीकृताङ्गीकृतसाधुपक्षः।**
**कलाकलापोपचयोन्व(?)मूर्तिः श्रीवर्धमानो नतवर्धमानः॥ ३॥**

गुरुपदमनुकर्तुं तद्वदेवास्य शिष्योऽशिवदशिवदकल्पः कल्पशाखोपमेयः ।
अनतिकृदतिकृदर्ध्वं (?) व्याप्यचित्तोऽप्यचित्तोऽभवदिह वदिहाशः श्रीजिनेशो यतीशः ॥
जलनिधिवदगाधो मोक्षरत्नार्थिसेव्यो यमनियमतपस्याज्ञानरत्नावलिश्च ।
सुरगिरिरिव वातैर्वावदूकैरकम्प्यो वचनजलसुगेतां तर्पयन्नुत्तशस्याम् (?) ॥
सुरपतिरतिवासे जैनमार्गोदयाद्रौ हतकुमततमिस्रः प्रोदगात् सूरिसूर्यः ।
भवसरसिरुहाणां भव्यपद्माकराणां विदधदिव सुलक्ष्मीं बोधकोऽहर्निशं तु ॥

इन पद्योंका भावार्थ यह है, कि श्री वर्द्धमान सूरि, कि जो हमारे गुरु हैं, उनके पदका अनुकरण करनेमें सर्वथा उन्हींके जैसे उनके शिष्य श्री जिनेश्वर सूरि हैं । ये कल्याण करनेमें कल्पवृक्षके जैसे हैं । यम, नियम, तपस्या और ज्ञानके समुद्र हैं । मोक्षरूप रत्नकी प्राप्ति चाहने वालोंके लिये अगाध जलनिधिकी तरह उपासनीय हैं । जैसे पवनसे मेरुपर्वत नहीं कांपता वैसे ये भी वावदूकोंके (वाचाल ऐसे वादिजनोंके) वाग्जालरूप वातसे कंपायमान नहीं होते । अपने वचनरूप जलसे (उपदेशामृतसे) संतप्त आत्माओंको तृप्त करते रहते हैं । कुमतरूप अन्धकारका नाश करने वाले और भव्यजनरूप कमलोंका विकाश करने वाले ऐसे सूर्यस्वरूप ये सूरि जैनमार्गरूपी उदयाचलके शिखरपर अभिनव उदित हुए हैं ।

बुद्धिसागराचार्यने इस प्रकार बहुत ही संक्षेपमें इनके पाण्डित्य, चारित्र, धैर्य, वाक्पटुत्व, तेजस्विता और यशस्विता आदि सभी मुख्य गुणोंका सूत्ररूपसे यहां पर निर्देश कर दिया है और वह संपूर्ण तथ्यपूर्ण है । इनके दिये हुए ये विशेषण सभी सार्थक हो कर विशेषताके सूचक हैं । बुद्धिसागराचार्य जिनेश्वर सूरिके सर्वथा समकक्ष थे । इनके पिछले शिष्य-प्रशिष्योंने इन दोनों गुरुभ्राताओंका प्रायः सर्वत्र एक साथ और एक ही भावसे गुणगान और यशोविधान किया है । इससे मालूम देता है कि अपने समुदायके ये दोनों बन्धु आचार्य समान भावसे उन्नायक और उपकारक थे । इस लिये बुद्धिसागर सूरिका, जिनेश्वर सूरिके विषयमें किया गया यह संक्षिप्त गुणविधान अत्यधिक महत्त्व रखता है ।

---

जिनप्रणीतागमतत्त्ववेत्ता द्विषां प्रणेतेव मनु[जे ?]तराणां (?) ।
साहित्यविद्याप्रभवो बभूव श्वेताम्बरः श्वेतयशा यतीशः ॥ ४ ॥

गुरुपदमनुकर्तुं तद्वदेवास्य शिष्योऽशिवदशिवदकल्पः कल्पशाखोपमेयो ।
अनतिकृदतिकृदर्ध्वं (?) व्याप्यचित्तोऽप्यचित्तोऽभवदिह वदिहाशः श्रीजिनेशो यतीशः ॥ ५ ॥

जलनिधिवदगाधो मोक्षरत्नार्थिसेव्यो यमनियमतपस्याज्ञानरत्नावलिश्च ।
सुरगिरिरिव तैर्वा (वातैः ?) वावदूकैरकम्प्यो वचनजलसुगेतां (?) तर्पयन्नुत्तशस्याम् ॥ ६ ॥

सुरपतिरतिवासे जैनमार्गोदयाद्रौ हतकुमततमिश्रः (स्रः) प्रोदगात् सूरिसूर्यः ।
भवसरसिरुहाणां भव्यपद्माकराणां विदधदिव सुलक्ष्मीं बोधकोऽहर्निशं तु ॥ ७ ॥

श्रीबुद्धिसागराचार्योऽनुग्राह्योऽभवदेतयोः ।
पद्मग्रन्थीं स चाकार्षीज्जगद्धितविधिस्तया ॥ ८ ॥

यदि मदिकृतिकल्पोऽनर्थधीर्मत्सरी वा कथमपि सदुपायैः शक्यते नोपकर्तुम् ।
तदपि भवति पुण्यं स्वाशयस्यानुकूल्ये पिबति सति यथेष्टं श्रोत्रियादौ प्रपायाम् ॥ ९ ॥

अम्भोनिधिं समवगाह्य समाप लक्ष्मीं चेद्वामनोऽपि पृथिवीं च पदत्रयेण ।
श्रीबुद्धिसागरममुं त्ववगाह्य कोऽद्यो (?), व्याप्नोति तेन जगतोऽपि पदद्वयेन ॥ १० ॥

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीतिके याति समासहस्रे ।
सश्रीकजावालिपुरे तदाद्यं दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम् ॥ ११ ॥ छ ॥

## जिनभद्राचार्यकृत उल्लेख।

कालक्रमकी दृष्टिसे, जिनेश्वर सूरिके गुणोंका परिचय देने वाले उनके अन्यान्य विद्वान् एवं प्रधान शिष्योंमें, पहला स्थान धनेश्वर अपर नाम जिनभद्राचार्यका है, जिन्होंने 'सुरसुन्दरी' नामक कथाग्रन्थकी, प्राकृत भाषामें, एक बहुत ही सरस रचना की है[1]। इस कथाकी रचनासमाप्ति वि. सं. १०९५ में, चड्डावलि ( चन्द्रावती ) नामक स्थानमें की गई है। बहुत संभव है कि ये भी सदैव अपने गुरुके साथ ही रहने वाले शिष्योंमेंसे एक हों। क्यों कि प्रस्तुत कथाकोष ग्रन्थकी प्रशस्तिमें कहा गया है कि वि. सं. ११०८ में जब इस ग्रन्थकी रचना पूरी हुई तब, इसका प्रथमादर्श अर्थात् पहली शुद्ध एवं परिपूर्ण प्रति, इन्हीं जिनभद्राचार्यने तैयार की थी। बादमें फिर इसकी अनेक पोथियां लिखवाईं गईं और उनका प्रचार किया गया। इन्होंने अपनी सुरसुन्दरी कथाकी अन्तिम प्रशस्तिमें अपने गुरुका परिचय इस प्रकार कराया है—

> सीसो य तस्स सूरी सूरो व्व सयावि जणिय-दोसंतो।
> आसि सिरि-वद्धमाणो पवड्ढमाणो गुण-सिरीए ॥ २४० ॥
> रागो य जस्स धम्मे आसि पओसो य जस्स पावम्मि।
> तुल्लो य मित्त-सत्तुसु तस्स य जाया दुवे सीसा ॥ २४१ ॥
> दुव्वार-वाइ-वारण-मरट्ट-निट्ठवण-निठ्ठुर-मइंदो।
> जिण-भणिय-सुद्ध-सिद्धंत-देसणा-करण-तल्लिच्छो ॥ २४२ ॥
> जस्स य अईव-सुललिय-पय-संचारा पसन्न-वाणीया।
> अइकोमला सिलेसे विविहालंकार-सोहिल्ला ॥ २४३ ॥
> लीलावइ त्ति नामा सुवन्न-रयणोह-हारि-सयलंगा।
> वेस व्व कहा वियरइ जयम्मि कय-जण-मणाणंदा ॥ २४४ ॥
> एगो ताण जिणेसर-सूरी सूरो व्व उक्कड-पयावो।
> तस्स सिरि-बुद्धिसागर-सूरी य सहोयरो बीओ ॥ २४५ ॥
> पुन्न-सरदिंदु-सुंदर-निय-जस-पब्भार-भरिय-भुवण-यलो।
> जिण-भणिय-सत्थ-परमत्थ-वित्थरासत्त-सुह-चित्तो ॥ २४६ ॥
> जस्स य मुह-कुहराओ विणिग्गया अत्थ-वारि-सोहिल्ला।
> बुह-चक्कवाय-कलिया रंगंत-सुफक्किय-तरंगा ॥ २४७ ॥
> तडरुह-अवसद्द-महीरुहोह-उम्मूलणम्मि सुसमत्था।
> अज्झाय-पवर-तित्था पंचग्गंथी नई पवरा ॥ २४८ ॥

इसमें, प्रथम जिनेश्वर सूरिके गुरु वर्द्धमानाचार्यका उल्लेख करके पीछे, उनके दोनों शिष्योंकी अर्थात् जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागराचार्यकी प्रशंसा की गई है। जिनेश्वर सूरिके लिये कहा है कि ये दुर्मद ऐ

---

१ गणधरसार्द्धशतकमें, जिनदत्त सूरिने इनका परिचय निम्नलिखित गाथामें दिया है—

> सुगुणजणजणियभद्दो जिणभद्दो जव्विणेयगणपढमो। सपरेसिं हिया सुरसुन्दरी कहा जेण परिकहिया ॥

जिनदत्त सूरिके इस कथनसे ज्ञात होता है कि ये जिनभद्राचार्य जिनेश्वर सूरिके सर्व प्रथम (विनेयगणमें प्रथम) शि होंगे। अभयदेव सूरिने भगवतीसूत्रकी वृत्तिकी प्रशस्तिमें इनका उल्लेख किया है और उस वृत्तिके ग्रन्थनमें इन्होंने अपनी पू सहायता प्रदान की इसके लिये उन्होंने इनके प्रति अपना उत्तम उपकृत भाव प्रकट किया है। जिनभद्रके साथ, अभ देवके एक शिष्य यशश्चन्द्रगणि भी इस ग्रन्थके प्रणयनमें सहायक बने थे, उस लिये इन दोनोंके लिये अभयदेवसूरिने निम्नगत उद्गार प्रकट किये हैं।

> श्रीमज्जिनेश्वराचार्यशिष्याणां गुणशालिनाम्। जिनभद्रमुनीन्द्राणामस्माकं चांह्रिसेविनः ॥
> यशश्चन्द्रगणेर्गाढसाहाय्यात् सिद्धिमागता ॥

वादीरूपी हाथियोंका मर्दन करनेके लिये मृगेन्द्र जैसे हैं। जिनदेवके कहे हुए शुद्ध सिद्धान्तका उपदेश करनेमें बडे प्रवीण हैं। इन्होंने, अतीव सुललित पदोंका जिसमें संचार है और श्लेषादि विविध अलंकारोंसे जो विभूषित है ऐसी प्रसन्न वाणीवाली और अतीव कोमल भाववाली 'लीलावती' नामक कथाकी मनोहर रचना की है, जो सब जनोंके मनको आनन्द दे रही है। इन जिनेश्वर सूरिका प्रताप बहुत ही उत्कट रूपसे फैल रहा है।

इन्हीं जिनेश्वर सूरिके सहोदर बन्धु बुद्धिसागराचार्य हैं जो जिनप्रणीत शास्त्रोंके परमार्थका विस्तार करनेमें दत्तचित्त हैं। जिन्होंने अपने शरच्चन्द्रके समान उज्ज्वल यशसे सारे भुवनतलको भर दिया है। जिनके मुखविवरसे पंचग्रन्थी (व्याकरणशास्त्र) रूप विशाल नदीका, अर्थप्रपूर्ण पानीसे भरा हुआ, वैसा प्रवाह नीकला है जो अपशब्दरूप वृक्षोंका उन्मूलन करनेमें बडा समर्थ है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जिनभद्राचार्यके ये वचन भी वैसे ही तथ्यपूर्ण हैं जैसे उपर्युक्त बुद्धिसागराचार्यके वचन हैं।

### जिनचन्द्रसूरिकृत उल्लेख।

जिनेश्वर सूरिके पट्टधर शिष्य जिनचन्द्र सूरि हुए। अपने गुरुके स्वर्गवासके बाद ये ही उनके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए और गणके प्रधान नेता बने। इन्होंने अपने बहुश्रुत एवं विख्यातकीर्ति ऐसे लघु-गुरुबन्धु अभयदेवाचार्यकी अभ्यर्थनाके वश हो कर, 'संवेगरंगशाला' नामक एक संवेग भावके प्रतिपादक, शान्तरसप्रपूर्ण एवं बृहत्परिमाण प्राकृत कथा-ग्रन्थकी रचना की, जिसकी समाप्ति वि. सं. ११२५ में हुई। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें इन्होंने भी अपने गुरुके विषयमें वैसी ही भूरिभूरि प्रशंसासे भरे हुए सारभूत वचन गुम्फित किये हैं जैसे उपर्युक्त दोनों आचार्योंने किये हैं। इनके ये वचन इस प्रकार हैं†—

**कालेणं संभूओ भयवं सिरिवद्धमाणमुणिवसभो।**
**निप्पडिमपसमलच्छीविच्छड्डाखंडभंडारो॥**
**ववहारनिच्छयनय व्व दव्वभावत्थय व्व धम्मस्स।**
**परमुन्नइजणगा तस्स य दो सिस्सा समुप्पन्ना॥**
**पढमो सिरिसूरिजिणेसरो त्ति सूरिव्व (?) जंमि उइयंमि।**
**मेहोत्थापहावहामए (?) दूरं तेयस्सिचक्कस्स॥**
**अज्ज वि य जस्स हरहासहंसगोरगुणाण पब्भारं।**
**सुमरंता भव्वा उव्वहंति रोमंचमंगेसु॥**
**बीओ पुण विरइयनिउणपवरवागरणपमुहबहुसत्थो।**
**नामेण बुद्धिसागरसूरि त्ति अहेसि जयपयडो॥**

अर्थात्—भगवान् महावीरकी शिष्यसन्ततिमें कालक्रमसे श्री वर्द्धमान सूरि उत्पन्न हुए, जो अनुपम ऐसी प्रशमभावरूप लक्ष्मीके महान् भंडार जैसे थे। इनके, धर्मके द्रव्यस्तव और भावस्तव जैसे तथा व्यवहार और निश्चय नयके स्वरूप समान, परोन्नतिकारक दो शिष्य हुए। इनमें पहले श्री जिनेश्वर सूरि हैं, जो जैनाकाशमें तेजस्वी सूर्यके समान उदित हुए और जिन्होंने अपने बुद्धिके प्रखर प्रकाशसे, प्रतिस्पर्द्धिरूप मेघोंके अन्धकारको दूर कर दिया। आज भी अर्थात् इस ग्रन्थके बननेके समयमें भी, भव्यजन इनके उज्ज्वल गुणसमूहका स्मरण कर कर, रोमांचोद्गमका अनुभव कर रहे हैं। वर्द्धमान सूरिके दूसरे शिष्य जगत्प्रसिद्ध ऐसे बुद्धिसागर सूरि हुए जिन्होंने व्याकरण आदि बहुत शास्त्रोंका प्रणयन किया है।

---

† संवेगरंगशाला ग्रन्थकी यह प्रशस्ति हमको बडौदे वाले पं. श्रीलालचन्दजी भ० गान्धीने बडे परिश्रम पूर्वक प्राप्त करके भेजी है इसलिये हम इनके इस सौजन्यके प्रति अपना कृतज्ञभाव प्रकट करते हैं।

## अभयदेवसूरिकृत उल्लेख।

जिनेश्वर सूरिके, अनुक्रममें शायद तीसरे परन्तु ख्याति और महत्ताकी दृष्टिसे सर्वप्रथम, ऐसे महान् शिष्य श्री अभयदेव सूरि थे जिन्होंने जैन आगम ग्रन्थोंमें सर्वप्रधान जो एकादशाङ्ग सूत्र ग्रन्थ हैं उनमेंसे नव अङ्ग सूत्रोंपर, सुविशद संस्कृत टीकायें बनाईं। अभयदेवाचार्य अपनी इन व्याख्याओंके कारण जैन साहित्याकाशमें, कल्पान्तस्थायी नक्षत्रके समान, सदा प्रकाशित और सदा प्रतिष्ठित रूपमें उल्लिखित किये जायंगे। श्वेताम्बर संप्रदायके, पिछले सभी गच्छ और सभी पक्ष वाले विद्वानोंने, अभयदेव सूरिको बडी श्रद्धा और सत्यनिष्ठाके साथ, एक प्रमाणभूत एवं तथ्यवादी आचार्यके रूपमें, स्वीकृत किया है और इनके कथनोंको पूर्णतया आप्तवाक्यकी कोटीमें समझा है। अपने समकालीन विद्वत्समाजमें भी इनकी प्रतिष्ठा बहुत ऊंची थी। शायद ये अपने गुरुसे भी बहुत अधिक आदरके पात्र और श्रद्धाके भाजन बने थे। जिन चैत्यवासी यतिजनोंके विरुद्ध, जिनेश्वर सूरिने अपना दण्ड उठाया था उन्हीं यतिजनोंके पक्षके एक अग्रगण्य, राजमान्य और बहुश्रुत आचार्य द्रोणाचार्यने अपनी प्रौढ पण्डितपरिषद्के साथ, इन अभयदेव सूरिकी उक्त आगमग्रन्थोंपरकी व्याख्या-रचनाओंको बडे सौहार्दके साथ आद्योपान्त संशोधित किया था और इस प्रकार इनके प्रति बडा सौजन्य प्रदर्शित किया था। अभयदेव सूरिने भी बहुत ही कृतज्ञभावसे, इनके इस अनन्य सौजन्यका सादर स्मरण, अपनी उन रचनाओंमें स्पष्ट रूपसे किया है[१]। अभयदेव सूरिने स्थानांग, समवायांग और ज्ञातासूत्रकी वृत्तियां अणहिल पुरमें, वि. सं. ११२० में समाप्त की तथा जैन आगमग्रन्थोंमें सबसे प्रधान और बृहत्परिमाण ऐसा जो भगवती सूत्र है, उसकी व्याख्या सं. ११२८ में पूर्ण की। इन्होंने अपने गुरुकी स्तुति अपनी इन व्याख्याओंके अन्तमें इस प्रकार की है–

'चान्द्रे' कुले सद्वनकक्षकल्पे महाद्रुमो धर्मफलप्रदानात्।  
छायान्वितः शस्तविशालशाखः श्रीवर्द्धमानो मुनिनायकोऽभूत्॥  
तत्पुष्पकल्पौ विलसद्विहारसद्गन्धसंपूर्णदिशौ समन्तात्।  
बभूवतुः शिष्यवरावनीहवृत्ती श्रुतज्ञानपरागवन्तौ॥  
एकस्तयोः सूरिवरो जिनेश्वरः ख्यातस्तथाऽन्यो भुवि बुद्धिसागरः।  
तयोर्विनेयेन विबुद्धिनाऽप्यलं वृत्तिः कृतैषाऽभयदेवसूरिणा॥

–भगवतीसूत्रकी व्याख्या।

निःसम्बन्धविहारहारिचरितान् श्रीवर्द्धमानाभिधान्  
सूरीन् ध्यातवतोऽतितीव्रतपसो ग्रन्थप्रणीतिप्रभोः।  
श्रीमत्सूरिजिनेश्वरस्य जयिनो दर्पीयसां वाग्मिनां  
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि॥  
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणा विवृतिः कृता।  
श्रीमतः समवायाख्यतुर्याङ्गस्य समासतः॥ –समवायाङ्गसूत्रकी वृत्ति।

---

१ भगवतीसूत्रकी वृत्तिके अन्तमें अभयदेव सूरिने द्रोणाचार्यका उपकारस्मरण इस तरह किया है–

शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्यः।  
श्रीनिर्वृताख्यकुलसन्नदपद्मकल्पः श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययशःपरागः॥  
शोधितवान् वृत्तिमिमां युक्तो विदुषां महासमूहेन।  
शास्त्रार्थनिष्कनिकषणकषपट्टककल्पबुद्धीनाम्॥

इसी तरह ज्ञाता आदि अन्यव्याख्याओंके अन्तमें इस प्रकार संक्षेपमें उल्लेख किया है–

निर्वृतिककुलनभस्तलचन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन। पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम्॥

यो जैनाभिमतप्रमाणमनघं व्युत्पादयामासिवान्
प्रस्थानैर्विविधैर्निरस्य निखिलं बौद्धादिसम्बन्धि तत्।
नानावृत्तिकथाकथापथमतिक्रान्तं च चक्रे तपः
निस्संबन्धविहारमप्रतिहतं शास्त्रानुसारात्तथा॥
तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचःशब्दादिसल्लक्ष्मणः
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः॥

–ज्ञातासूत्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र और विपाकसूत्रकी वृत्ति।

चन्द्रकुलविपुलभूतलमुनिपुङ्गववर्द्धमानकल्पतरोः।
कुसुमोपमस्य सूरेर्गुणसौरभभरितभुवनस्य॥
निःसंबन्धविहारस्य श्रीजिनेश्वराह्वस्य (?)
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेयं कृता वृत्तिः॥

–औपपातिकसूत्रकी वृत्ति।

चन्द्रकुलीनप्रवचनप्रणीताप्रतिबद्धविहारहारिचरितश्रीवर्द्धमानाभिधानमुनिपतिपादोपसेविनः प्रमाणादिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणविधप्रणायिनः प्रबुद्धप्रतिबन्धकप्रवक्तृप्रवीणाप्रतिहतवचनार्थप्रधानवाक्प्रसरस्य सुविहितमुनिजनमुख्यस्य श्रीजिनेश्वराचार्यस्य तदनु तदनुजस्य च व्याकरणादिशास्त्रकर्तुः श्रीबुद्धिसागराचार्यस्य चरणकमलचञ्चरीककल्पेन श्रीमदभयदेवसूरिनाम्ना मया महावीरजिनराजसन्तानवर्तिना महाराजवंशजन्मनेव। (इत्यादि) –स्थानाङ्गसूत्रकी वृत्तिका प्रारंभ।

भिन्न भिन्न वृत्तियोंके दिये गये इन उद्धरणोंसे ज्ञात होगा, कि इनमें अभयदेव सूरिने, सूत्ररूपसे जिनेश्वर सूरिके उन सभी प्रधान गुणोंका उल्लेख कर दिया है जिनका सूचन, इसके पहले दिये गये बुद्धिसागराचार्य, जिनभद्र और जिनचन्द्र सूरिके कथनोंमें गर्भित है। अभयदेव कहते हैं कि – जिनेश्वर सूरि, वर्द्धमान सूरि-स्वरूप कल्पवृक्षके पुष्पके समान हैं जिन्होंने अपने सदाचार और विहारके सौगन्ध्यसे सब दिशाओंको सुवासित कर दिया है। मदवाले प्रतिस्पर्द्धि वादियोंका – दर्पवाले वाग्मियोंका जिन्होंने पराजय किया है। जैनदर्शनाभिमत प्रमाणशास्त्रका व्युत्पादन कर जिन्होंने विविध प्रस्थानों द्वारा बौद्ध आदि वादोंका निरसन किया है। नाना प्रकारके व्याख्याग्रन्थ तथा कथाग्रन्थोंकी रचना कर जिन्होंने उपदेशमार्गका परिक्रमण किया है। शास्त्रानुसार तपःसंयमका पालन करते हुए निस्संबन्ध एवं अप्रतिबद्ध हो कर जिन्होंने सतत विहरण किया है। इनके लघुबन्धु आचार्य बुद्धिसागर भी ऐसे ही संविग्नविहारी, श्रुतनिधि और चारित्रचूडामणि हैं। इन्होंने छन्दोबद्ध शब्दशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) आदि ग्रन्थोंकी रचना कर अपनी विद्वत्ताकी ख्याति प्राप्त की है – इत्यादि।

अभयदेव सूरि बहुत ही परिमित और संतुलित कथन करने वाले तथा अत्यंत समभावी एवं निर्मम स्वभावके बडे भव्य आचार्य थे। इन्होंने अपने गुरुका इस प्रकार अत्यंत ही स्वल्प शब्दोंमें जो गुण-सूचन किया है वह बहुत महत्त्व रखता है।

### वर्द्धमानाचार्यकृत उल्लेख।

अभयदेव सूरिके एक विद्वान् शिष्य वर्द्धमानाचार्य हुए, जिन्होंने प्राकृतमें 'मनोरमा' नामक कथाग्रंथ, तथा दूसरा 'आदिनाथ चरित्र' नामक बहुत बडा ग्रन्थ बनाया। क्यों कि ये अभयदेव सूरिके साक्षात् शिष्य थे इसलिये संभव है कि इनको अपने प्रगुरु जिनेश्वर सूरिकी प्रत्यक्ष सेवा उपासना करनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इन्होंने 'मनोरमा' कथाकी रचना संवत् ११४० में, और 'आदिनाथचरित्र'की

रचना सं. ११६० में, खंभातमें, पूर्ण की । इन ग्रन्थोंमें इन्होंने अपने प्रगुरुकी प्रशंसा इ॰ प्रकार की है।

अप्पडिबद्धविहारो सूरी सोमो व्व जणमणाणंदो।
आसि सिरिवद्धमाणो पवड्ढमाणो गुणगणेहिं ॥
सूरिजिणेसर-सिरिबुद्धिसायरा सागरो व्व गंभीरा।
सुरगुरु-सुक्कसरिच्छा सहोयरा सूरिपयपत्ता ॥
वायरण-च्छंद-निघंटु-कव्व-नाडय-कहाइ विविहाई।
विबुहजणजणियहरिसा जाण पबंधा पढिज्जंति ॥
ताण विणेओ सूरी सिरिअभयदेव त्ति नाम संजाओ।
विजियक्खो पच्चक्खं कयविग्गहसंगहो धम्मो ॥

–मनोरमा कथाकी प्रशस्ति।

खमदमसंजमगुणरयणरोहणो विजियदुज्जयाणंगो।
आसि सिरिवद्धमाणो सूरी सव्वत्थसुपसिद्धो ॥
सूरिजिणेसर-सिरिबुद्धिसागरा सायरो व्व गंभीरा।
सुरगुरु-सुक्कसरिच्छा सहायेरा तस्स दो सीसा ॥
वायरण-च्छंद-निघंटु-कव्व-नाडय-पमाणसमएण।
अणिवारियप्पयारा जाण मई सयलसत्थेसु ॥

–आदिनाथ-चरित्रकी प्रशस्ति।

वर्द्धमान सूरिने, इन ऊपर उद्धृत गाथाओंमें, अपने प्रगुरुकी प्रशंसा उनके एक खास पाण्डित्य-गुणको लक्ष्य करके ही की है । वे कहते हैं – जिनेश्वर और बुद्धिसागर दोनों सूरि-बन्धु बृहस्पति और शुक्रकी जोडीके समान थे । इन बन्धुओंकी व्याकरण, छन्द, निघंटु, काव्य, नाटक, कथा और प्रमाण आदि सकल शास्त्रोंमें अस्खलित गति थी । इनके रचे हुए उक्त विषयोंके ग्रन्थ – प्रबन्ध विद्वज्जन बडे हर्षके साथ पढते हैं ।

इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि, इन भ्राताओंने काव्य, नाटक, छन्द, निघण्टु आदि विषयोंके भी कुछ प्रबंधोंका प्रणयन किया होना चाहिये । इनमेंका कोई प्रबंध अभीतक हमें ज्ञात नहीं हुआ । जैसा कि आगे चल कर हम इनके उपलब्ध ग्रन्थोंका परिचय करायेंगे, उससे ज्ञात होगा कि व्याकरण, कथा, प्रमाण और कुछ धार्मिक प्रकरण ग्रन्थ ही इनके अभीतक हमें ज्ञात हो रहे हैं । काव्य – नाटकादि प्रबंध या तो नष्ट हो चुके हैं या कहीं किसी अज्ञात ग्रन्थभण्डारमें पडे पडे सड रहे होंगे । उनका अभी तक कोई पता नहीं चला । अभयदेव सूरिने तथा जिनचन्द्र सूरिने भी बुद्धिसागराचार्यको 'व्याकरण आदि शास्त्रोंका प्रणेता' ऐसा सूचित किया है । इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने, वर्तमानमें एक मात्र उपलब्ध अपने व्याकरण ग्रन्थ (जिसका कुछ परिचय ऊपर दिया जा चुका है) के सिवा और भी कई ग्रन्थोंका प्रणयन किया होना चाहिये । इसके नीचे जो देवभद्र सूरिका उद्धरण दिया जा रहा है उससे यह तो निश्चित ज्ञात होता है कि बुद्धिसागर सूरिने छन्दविषयक भी कोई शास्त्र बनाया था ।

## देवभद्राचार्यकृत उल्लेख।

देवभद्र सूरि, जिनके ग्रन्थका उद्धरण यहां नीचे दिया जाता है, वे अभयदेव सूरिके एक पट्टधर शिष्य प्रसन्नचन्द्र सूरिके विनेय थे । यों इनके दीक्षा-दायक गुरु तो साक्षात् जिनेश्वर सूरि-ही-के एक शिष्य ते वाचक थे और इनका मूल नाम गुणचन्द्र गणी था । अशोकचन्द्राचार्य, जिनको जिनचन्द्र-बडे प्रेमसे विद्याभ्यास कराया था और फिर आचार्यपद दे कर अपने पट्टपर प्रतिष्ठित किया था,

उन्होंने प्रसन्नचन्द्र सूरिके साथ ही इनको भी आचार्य पद दे कर, देवभद्र इस नये नामसे उद्घोषित किया था । प्रसन्नचन्द्र सूरि, मूल जिनेश्वर सूरिके दीक्षित शिष्य थे; परन्तु उनको तर्कशास्त्रादि विद्याका अध्ययन अभयदेव सूरिने कराया था । उनको आचार्य पद प्रदान करते समय अशोकचन्द्र सूरिने, शायद उन्हें अभयदेवके पट्ट पर स्थापित किया था, इसलिये वे अपनेको अभयदेवका भी विनेय कहते थे । देवभद्रने शायद इन प्रसन्नचन्द्रके पास विद्याध्ययन किया हो और इन्हींके पास विशेष रूपसे रहे हों इसलिये ये अपनेको इनका खास अन्तेवासी विनेय सूचित करते हों ।

जिनचन्द्र गणिने जो उक्त संवेगरंगशाला नामक बृहत् आराधनाग्रन्थ बनाया उसका प्रतिसंस्कार इन्हींने किया था । जिनवल्लभ और जिनदत्त सूरिको इन्हींने आचार्य पद दे कर उनको गणनायक बनाया था ।

इन्होंने प्राकृत भाषामें पार्श्वनाथचरित्र, महावीरचरित्र, कथारत्नकोषादि ४ बडे बडे प्रौढ ग्रन्थोंकी रचना की है । इनका पहला ग्रन्थ 'महावीरचरित' है जिसकी रचना वि. सं. ११३९ में पूर्ण हुई । इस समय तक इनको आचार्य पद नहीं दिया गया था, इससे इसमें इन्होंने अपना उल्लेख मूलदीक्षित नाम – गुणचन्द्र गणीके नामसे ही किया है । दूसरा ग्रन्थ 'कथारत्नकोष' है जिसकी रचना सं. ११५८ में पूरी हुई और तीसरा ग्रन्थ 'पार्श्वनाथचरित' है जो सं. ११६८ में समाप्त हुआ । इन्होंने अपने महावीर चरित्रमें जिनेश्वर सूरिके विषयमें इस प्रकार उल्लेख किया है –

**मुणिवइणो तस्स हरट्टहाससियजसपसाहियासस्स ।**
**आसि दुवे वरसीसा जयपयडा सूर-ससिणो व्व ॥**
**भवजलहिवीइसंभंतभवियसंताण तारणसमत्थो ।**
**बोहित्थो व्व महत्थो सिरिसूरिजिणेसरो पढमो ॥**
**अन्नो य पुन्निमायंदसुंदरो बुद्धिसागरो सूरी ।**
**निम्मविय पवरवायरण-छंदसत्थो पसत्थमई ॥**
**एगंतवायविलसिरपरवाइकुरंगभंगसीहाणं ।**
**तेसिं सीसो जिणचंदसूरिनामो समुप्पन्नो**[1] **॥**

– महावीरचरित्रकी प्रशस्ति ।

इनके इस उल्लेखका भी भावार्थ वही है जो ऊपर दिये गये अन्यान्य उल्लेखोंमें गर्भित है । अर्थात् ये कहते हैं कि – मुनिवर वर्द्धमान सूरिके सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी ऐसे श्री जिनेश्वर और बुद्धिसागर नामके दो जगत्प्रख्यात प्रधान शिष्य हुए । इनमें जिनेश्वर सूरि जो प्रथम थे, संसार समुद्रमें भूले पडे हुए भव्य जनोंको तारनेके लिये प्रवहणके समान समर्थ हुए । दूसरे बुद्धिसागर सूरि, जो पूर्णिमाके चंद्रमाके समान सुन्दर लगते थे बडे प्रशस्तमति हो कर, उन्होंने व्याकरण और छन्दःशास्त्रकी प्रौढ रचनाएँ की हैं । ये दोनों ही आचार्य एकान्तवादमें विलास करने वाले परवादीरूप मृगोंका भंग करनेमें सिंहके समान बलशाली हुए, इत्यादि ।

ऊपर जो कुछ ये उद्धरण दिये गये हैं वे सब जिनेश्वर सूरिके साक्षात् शिष्योंके ही ग्रथित ग्रन्थोंमेंसे उपलब्ध होनेके कारण इनकी प्रमाणभूततामें किसी प्रकारकी शंकाको अवकाश नहीं है ।

## जिनदत्तसूरिकृत उल्लेख ।

इन उल्लेखोंमें, कालक्रमकी दृष्टिसे अन्तिम परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे विशेष महत्त्वका एवं जिनेश्वर-

---

१ पिछले ग्रन्थ 'कथारत्नकोष' तथा 'पार्श्वनाथ चरित्र'में संक्षेप-ही-में नाम निर्देश कर इन्हें सन्तोष धारण करना पडा है । क्यों कि जितना उल्लेख करना इन्हें उपयुक्त था उसे ये अपने पहले ग्रन्थमें कर चुके थे ।

सूरिके मुख्य कार्यकलापका सविशेष ज्ञापक ऐसा एक और उद्धरण यहां देते हैं जो जिनदत्त सूरिका कथनस्वरूप है ।

जिनदत्त सूरिके विषयमें कुछ विशेष परिचय देनेका यहां अवकाश नहीं है । बहुत संक्षेपमें, इनके कार्यका कुछ थोडासा परिचय ऊपर दे ही दिया गया है । ये भी जिनेश्वर सूरिके साक्षात् प्रशिष्योंमेंसे ही एक थे । इनके दीक्षागुरु धर्मदेव उपाध्याय थे जो जिनेश्वर सूरिके स्वहस्तदीक्षित अन्यान्य शिष्योंमेंसे थे । इनका मूल दीक्षानाम सोमचन्द्र था । हरिसिंहाचार्यने इनको सिद्धान्त ग्रन्थ पढाये थे । इनके उत्कट विद्यानुराग पर प्रसन्न हो कर देवभद्राचार्यने अपना वह प्रिय कटाखरण ( वरतना – एक प्रकारकी कलम जिससे लकडीकी पट्टिका पर खडियासे लिखा जाता है ), जिससे उन्होंने अपने बडे बडे ४ ग्रन्थोंका लेखन किया था, इनको भेंटके स्वरूपमें प्रदान किया था । ये बडे ज्ञानी, ध्यानी और उद्यत विहारी थे। जिनवल्लभ सूरिके स्वर्गवासके पश्चात् इनको, उनके उत्तराधिकारी पट्ट पर, देवभद्राचार्यने आचार्यके रूपमें स्थापित किया था ।

चैत्यवासके विरुद्ध जिनेश्वर सूरिने जिन विचारोंका प्रतिपादन किया था उनका सबसे अधिक विस्तार और प्रचार वास्तवमें जिनवल्लभ सूरिने किया था । उनके उपदिष्ट मार्गका इन्होंने बडी प्रखरताके साथ समर्थन किया और उसमें इन्होंने अपने कई नये विचार और नये विधान भी सम्मीलित किये । जिनेश्वर सूरिने अपने जीवन और भ्रमण कालमें कोई निश्चित विधि-विधान वाली अपनी पक्षस्थापना नहीं की थी । प्रासंगिक परिस्थितिको लक्ष्य कर, जो जो विचार उनके मनमें उत्पन्न होते गये, उनका शास्त्रानुसार विचार कर वे तदनुरूप उपदेश देते रहे । इस विषयका न कोई उन्होंने नये साहित्यका ही निर्माण किया और न कोई नियमबद्ध ऐसा अपना नया विशिष्ट पक्ष ही संगठित किया । वे अपने उपदेशसे और अपने आचारसे तत्कालीन जैन यतिसमाजमें, एक नई परिस्थितिका, विशिष्ट आन्दोलन उत्पन्न कर गये । उनके इस आन्दोलित वातावरणके कारण, उनकी मृत्युके पश्चात् स्वल्पसमयमें ही – प्रायः आधीशताब्दीके अन्तर्गत ही – जैन श्वेतांबर यतिवर्गमें, कितने ही सांप्रदायिक और धार्मिक विधि-विधानोंको ले कर, भिन्न भिन्न गच्छीय आचार्यों द्वारा, कई छोटे बडे गच्छ एवं पक्ष-विपक्षोंका प्रादुर्भाव हो गया । इन पक्षोंमें परस्पर अस्मिता और प्रतिस्पर्धाका जोर बढने लगा और ये एक दूसरेके मन्तव्योंका व्यवस्थित खण्डन – मण्डन करनेमें प्रवृत्त होने लगे । वाद-विवादका विषय केवल चैत्यवास और वसतिवास तक ही सीमित नहीं रहा; परंतु मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा, उपासना, पूजा आदिके विधि-विधानोंके वारेमें तथा साधु-यतियोंके आहार-विहारके वारेमें, एवं गृहस्थोंके भी कुछ क्रियाकांडोंके वारेमें, भिन्न भिन्न प्रकारके कितने ही वाद-विवादात्मक विषय उत्पन्न होने लगे और उनको मुख्य करके पृथक् पृथक् गच्छानुयायियोंका परस्पर संघर्ष होने लगा ।

इसी संघर्षके परिणाममें जिनवल्लभ सूरिको अपना एक नया 'विधिपक्ष' या 'विधिमार्ग' नामक विशिष्ट संघ स्थापित करना पडा जिसका विशेष पुष्टीकरण एवं दृढ संगठन इनके उत्तराधिकारी जिनदत्त सूरिने किया ।

जिनवल्लभ सूरि, मूलमें मारवाडके एक बडे मठाधीश चैत्यवासी गुरुके शिष्य थे । परंतु ये उनसे विरक्त हो कर, गुजरातमें अभयदेव सूरिके पास, शास्त्राध्ययन करनेके निमित्त, उनके अन्तेवासी हो कर रहे थे । ये बडे भारी प्रतिभाशाली विद्वान्, कवि, साहित्यज्ञ, ग्रन्थकार और ज्योतिःशास्त्र विशारद थे । इनके प्रखर पाण्डित्य और विशिष्ट वैशारद्यको देख कर, अभयदेव सूरि इनपर बडे प्रसन्न रहते थे और अपने मुख्य दीक्षित शिष्योंकी अपेक्षा भी इन पर अधिक अनुराग रखते थे । अभयदेव सूरि चाहते थे कि अपने

उत्तराधिकारी पट्टपर इनकी स्थापना हो, परन्तु ये मूल चैत्यवासी गुरुके दीक्षित शिष्य होनेसे शायद इनको गच्छनायकके रूपमें अन्यान्य शिष्य स्वीकार नहीं करेंगे, ऐसा सोच कर अपने जीवित कालमें वे इस विचारको कार्यमें नहीं ला सके। उनके पट्टधरके रूपमें वर्द्धमानाचार्य (आदिनाथ चरितादिके कर्ता)की स्थापना हुई। तथापि अपनी अन्तावस्थामें अभयदेव सूरिने प्रसन्नचन्द्र सूरिको सूचित किया था कि योग्य समयपर जिनवल्लभको आचार्य पद दे कर मेरा पट्टाधिकारी बनाना। परन्तु, वैसा उचित अवसर आनेके पहले ही प्रसन्नचन्द्र सूरिका भी स्वर्गवास हो गया। उन्होंने अभयदेव सूरिकी उक्त इच्छाको अपने उत्तराधिकारी पट्टधर देवभद्राचार्यके सामने प्रकट किया और सूचित किया कि यह कार्य तुम संपादन करना।

अभयदेव सूरिके स्वर्गवासके बाद, उनके अन्यान्य शिष्योंका जिनवल्लभके प्रति, शायद विशेष सद्भाव नहीं रहा। अणहिलपुर और स्तम्भतीर्थ जैसे गुजरातके प्रसिद्ध स्थानोंमें, जहां अभयदेवके दीक्षित शिष्योंका विशेष प्रभाव था, जिनवल्लभको अपना प्रभाव प्रस्थापित करनेका कोई विशेष सुयोग नहीं दिखाई दिया। इससे इन्होंने किसी अपरिचित स्थानमें जा कर, अपने विद्याबलके सामर्थ्य द्वारा अपने प्रभावका कार्यक्षेत्र बनाना चाहा। इसके लिये मेवाडकी राजधानी चित्तोडको इन्होंने पसन्द किया। वहां इनकी यथेष्ट मनोरथसिद्धि हुई और फिर मारवाडके नागोर आदि स्थानोंमें भी इनके बहुतसे भक्त उपासक बने। धीरे धीरे इनका प्रभाव मालवामें भी बढा। मेवाड-मारवाडमें जो बहुतसे चैत्यवासी यति-समुदाय थे उनके साथ इनकी प्रतिस्पर्द्धा भी खूब हुई। इन्होंने उनके अधिष्ठित देवमन्दिरोंको अनायतन ठहराया और उनमें किये जानेवाले पूजन, उत्सवों आदिको अशास्त्रीय उद्घोषित किया। अपने भक्त उपासकों द्वारा अपने पक्षके लिये जगह जगह नये मन्दिर बनवाये और उनमें किये जानेवाले पूजा आदि विधानोंके लिये कितनेक नियम निश्चित किये। इस विषयके छोटे-बडे कई प्रकरण और ग्रन्थादिकी भी इन्होंने रचनाएं कीं।

देवभद्राचार्यने इनके बढे हुए इस प्रकारके प्रौढ प्रभावको देख कर, और इनके पक्षमें सेंकडों ही उपासकोंका अच्छा समर्थ समूह जान कर, इनको आचार्य पद दे कर अभयदेव सूरिके पट्टधरके रूपमें इन्हें प्रसिद्ध करनेका निश्चय किया। जिनेश्वर सूरिके शिष्यसमूहमें, उस समय, शायद देवभद्राचार्य ही सबसे अधिक प्रतिष्ठासम्पन्न और सबसे अधिक वयोवृद्ध पुरुष थे। वे इस कार्यके लिये गुजरातसे रवाना हो कर चित्तोड पहुंचे। यह चित्तोड ही, जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है, जिनवल्लभ सूरिके प्रभावका उद्गम एवं केन्द्रस्थान था। यहीं पर सबसे पहले जिनवल्लभ सूरिके नये उपासक भक्त बने और यहीं पर इनके पक्षका सबसे पहला 'वीरविधिचैत्य' नामक विशाल जैन मन्दिर बना। वि. सं. ११६७ के आषाढ मासमें इनको इसी मन्दिरमें आचार्य पद पर अधिष्ठित कर देवभद्राचार्यने अपने गच्छपति गुरु प्रसन्नचन्द्र सूरिके उस अन्तिम आदेशको सफल किया।

पर दुर्भाग्यसे ये इस आचार्य पदका दीर्घकाल तक उपभोग नहीं कर सके। चार ही महिनेके अन्दर इनका उसी चित्तोडमें स्वर्गवास हो गया। इस घटनाको जान कर देवभद्राचार्यको बडा दुःख हुआ। जिनवल्लभ सूरिने अपने प्रभावसे मारवाड, मेवाड, मालवा, वागड आदि देशोंमें जो सेंकडों ही नये भक्त उपासक बनाये थे और अपने पक्षके अनेक 'विधिचैत्य' स्थापित किये थे उनका नियामक ऐसा कोई समर्थ गच्छनायक यदि न रहा तो वह पक्ष छिन्न-भिन्न हो जायगा; और इस तरह जिनवल्लभ सूरिका किया हुआ कार्य विफल बन जायगा। यह सोच कर देवभद्राचार्य, जिनवल्लभ सूरिके पट्टपर प्रतिष्ठित करनेके लिये अपने सारे समुदायमेंसे किसी विशेष योग्य व्यक्तित्ववाले यतिजनकी खोज करने लगे। उनकी

दृष्टि धर्मदेव उपाध्यायके शिष्य पण्डित सोमचन्द्र पर पडी, जो इस पदके सर्वथा योग्य एवं जिनवल्लभ जैसे ही पुरुषार्थी, प्रतिभाशाली, क्रियाशील और निर्भय प्राणवान् व्यक्ति थे। देवभद्राचार्य फिर चित्त गये और वहां पर, जिनवल्लभ सूरिके प्रधान-प्रधान उपासकोंके साथ परामर्श कर उनकी सम्मति सं. ११६९ के वैशाख मासमें, सोमचन्द्र गणिको आचार्य पद दे कर, जिनदत्त सूरिके नामसे जिनवल्ल सूरिके उत्तराधिकारी आचार्य पद पर उन्हें प्रतिष्ठित किया। जिनवल्लभ सूरिके विशाल उपासक वृन्द नायकत्व प्राप्त करते ही जिनदत्त सूरिने अपने पक्षकी विशिष्ट संघटना करनी शुरू की। जिनेश्वर स प्रतिपादित कुछ मौलिक मन्तव्योंका आश्रय ले कर और कुछ जिनवल्लभ सूरिके उपदिष्ट विचारों पल्लवित कर, इन्होंने जिनवल्लभ स्थापित उक्त 'विधिपक्ष' नामक संघका बलवान् और नियमबद्ध संगठ किया जिसकी परम्पराका प्रवाह, जिसे प्रायः अब ८०० वर्ष पूरे हो रहे हैं, आज तक अखण्डित रूप चलता रहा।

जिनदत्त सूरिने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें छोटे-बडे अनेक ग्रन्थोंकी रचना की इनमें एक 'गणधरसार्द्धशतक' नामक ग्रन्थ है जिसमें इन्होंनें भगवान् महावीरके शिष्य गौतम गणधर ले कर अपने गच्छपति गुरु जिनवल्लभ सूरि तकके, महावीरके शासनमें होने वाले और अपनी संप्रद परंपरामें माने जाने वाले, प्रधान-प्रधान गणधारी आचार्योंकी स्तुति की है। १५० गाथाके इस प्रकरण आदिकी ६२ गाथाओं तकमें तो पूर्व कालमें होजानें वाले कितनेक पूर्वाचार्योंकी प्रशंसा की है ६३ से ले कर ८४ तककी गाथाओंमें वर्द्धमान सूरि और उनके शिष्यसमूहमें होने वाले जिनेश्व बुद्धिसागर, जिनचन्द्र, अभयदेव, देवभद्र आदि अपने निकट पूर्वज गुरुओंकी स्तुति की है; और फि शेष भागमें, ८५ वीं गाथासे ले कर १४७ तककी गाथाओंमें अपने गणके स्थापक गुरु जिनवल्लभव बहुत ही प्रौढ शब्दोंमें तरह-तरहसे स्तवना की है।

जिनेश्वर सूरिके गुणवर्णनमें इन्होंने इस ग्रन्थमें निम्न लिखित गाथाएं ग्रथित की हैं–

तेसिं पयपउमसेवारसिओ भमरो व्व सव्वभमरहिओ।
ससमय-परसमयपयत्थसत्थवित्थारणसमत्थो ॥ ६४ ॥
अणहिल्लवाडए नाडएं व्व दंसियसुपत्तसंदोहे।
पउरपए बहुकविदूसगे य सन्नायगाणुगए ॥ ६५ ॥
सड्ढियदुल्लहराए सरसइअंकोवसोहिए सुहए।
मज्झे रायसहं पविसिऊण लोयागमाणुमयं ॥ ६६ ॥
नामायरियेहिं समं करिय वियारं वियाररहिएहिं।
वसहिविहारो साहूण ठाविओ ठाविओ अप्पा ॥ ६७ ॥
परिहरियगुरुकमागयवरवत्ताए वि गुज्जरत्ताए।
वसहिविहारो जेहिं फुडीकओ गुज्जरत्ताए ॥ ६८ ॥
... ... ... ...
जेहिं बहुसीसेहिं सिवपुरपहपत्थियाण भव्वाणं।
सरलो सरणी समगं कहिओ ते जेण जंति तयं ॥ ७५ ॥
गुणकणमवि परिकहिउं न सक्कइ सक्कई वि जेसिं फुडं।
तेसिं जिणेसरसूरीण चरणसरणं पवज्जामि ॥ ७६ ॥

इन गाथाओंका सारार्थ यह है कि–उन वर्द्धमान सूरि (जिनकी स्तुति इसके पहलेकी गाथामें की गई है)के चरणकमलोंमें भ्रमरके समान सेवारसिक जिनेश्वर सूरि हुए। ये सब प्रकारके भ्रमोंसे

रहित थे। अर्थात् अपने विचारोंमें निर्भ्रम थे। स्व-समय और पर-समयके पदार्थसार्थका विस्तार करनेमें समर्थ थे। इन्होंने अणहिलवाडमें, दुर्लभ राजाकी सभामें प्रवेश करके, नामधारी आचार्योंके साथ, निर्विकार भावसे शास्त्रीय विचार किया और साधुओंके लिये वसति-निवासकी स्थापना कर अपने पक्षका स्थापन किया। जहां पर गुरुक्रमागत सद्वार्ताका नाम भी नहीं सुना जाता था उस गुजरात देशमें विचरण कर इन्होंने वसतिमार्गको प्रकट किया।

[ इसके बादकी ६ गाथाओंमें, जिनेश्वरके भ्राता बुद्धिसागर और शिष्य जिनभद्र, जिनचंद्र तथा अभयदेवकी स्तवना करके अन्तकी दो गाथाओंमें कहा है कि – ]

इनके अनेक शिष्योंने, मोक्षमार्गके प्रवासी भव्यजनोंके लिये, ऐसा सरल मार्ग प्रदर्शित किया है जिससे वे उस मार्गसे जा कर अपने अभीष्ट स्थानको प्राप्त कर सके। ऐसे इन जिनेश्वर सूरिके कणमात्र सद्गुणोंका कोई सत्कवि भी ठीक ठीक नहीं वर्णन कर सकता। मैं तो उनके चरणोंका शरण ही स्वीकार करता हूं।

जिनदत्त सूरिकी इसी तरहकी एक और छोटीसी ( २१ गाथाकी ) प्राकृत पद्यरचना है जिसका नाम है 'सुगुरुपारतंत्र्यस्तव'। इसमें भी इन्होंने अपने गुरुओंकी, बहुत ही संक्षेपमें, परन्तु भावपूर्ण शब्दोंमें, गुणावलिका गान किया है। जिनेश्वर सूरिकी स्तवनामें निम्नलिखित ३ गाथाएं इसमें प्रथित की हैं –

**सुहसीलचोरचप्परणपच्चलो निच्चलो जिणमयंमि।**
**जुगपवरसुद्धसिद्धंतजाणओ पणयसुगुणजणो ॥ ९ ॥**
**पुरओ दुल्लहमहिवल्लहस्स अणहिल्लवाडए पयडं।**
**मुक्का वियारिऊणं सीहेण व दव्वलिंगिगया ॥ १० ॥**
**दसमच्छेरयनिसिविप्फुरंतसच्छंदसूरिमयतिमिरं।**
**सूरेण व सूरिजिणेसरेण हयमहियदोसेण ॥ ११ ॥**

इन गाथाओंमें ग्रथित भावका तात्पर्यार्थ भी वैसा ही है जैसा ऊपरकी गाथाओंमें गर्भित हैं। इनमें जिनदत्त सूरि शब्दान्तर और भंग्यंतरसे कहते हैं कि –

जिनेश्वर अपने समयके 'युगप्रवर' हो कर सर्व सिद्धान्तोंके ज्ञाता थे। जैन मतमें जो शिथिलाचार रूप चोरसमूहका प्रचार हो रहा था उसका उन्होंने निश्चल रूपसे निर्दलन किया। अणहिल्लवाडमें, दुर्लभ-राजकी सभामें, द्रव्यलिङ्गी ( वेशधारी ) रूप हाथियोंका उन्होंने सिंहकी तरह विदारण कर डाला। स्वच्छन्दाचारी सूरियोंके मतरूपी अन्धकारका नाश करनेमें सूर्यके समान ये जिनेश्वर सूरि प्रकट हुए।

❧

जिनेश्वर सूरिके साक्षात् शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा किये गये उनके गौरव परिचयात्मक इन उल्लेखोंसे हमें यह अच्छी तरह ज्ञात हुआ कि उनका आन्तरिक व्यक्तित्व कैसा महान् था। परन्तु इन उल्लेखोंसे उनके स्थूल जीवनका कोई परिचय हमें अभी तक नहीं मिला। सिर्फ जिनदत्त सूरिके किये गये इन अन्तिम उल्लेखोंमें इस एक ऐतिहासिक घटनाका हमें सूचन मिला कि उन्होंने गुजरातके अणहिलवाडके राजा दुर्लभराजकी सभामें नामधारी आचार्योंके साथ वाद-विवाद कर, उनका पराजय किया और वहांपर वसति-वासकी स्थापना की। इसलिये अब हमें उन ऐतिहासिक प्रमाणोंका परिचय करना आवश्यक है जिनके द्वारा जिनेश्वर सूरिके उक्त प्रसंगका एवं उनके स्थूल जीवनकी अन्यान्य बातोंका परिज्ञान हो।

## ४. जिनेश्वर सूरिके चरितकी साहित्यिक सामग्री ।

जिनेश्वर सूरिके जीवनका परिचय करानेवाली ऐतिहासिक एवं साहित्यिक मुख्य साधन-सामग्री नि प्रकार है –

१. **जिनदत्तसूरिकृत 'गणधरसार्द्धशतक' ग्रन्थ की सुमतिगणि विरचित बृहद्वृत्ति।**
२. **जिनपालोपाध्याय संगृहीत 'स्वगुरुवार्ता नामक बृहत् पट्टावलि'का आद्य प्रकरण।**
३. **प्रभाचन्द्रसूरिविरचित 'प्रभावकचरित'का अभयदेवसूरिप्रबन्ध।**
४. **सोमतिलकसूरिकृत 'सम्यक्त्व सप्ततिकावृत्ति'में कथित धनपालकथा।**
५. **किसी अज्ञातनामक विद्वान्की बनाई हुई प्राकृत 'वृद्धाचार्यप्रबन्धावलि'।**

इन कृतियोंका परिचय और रचना काल आदि इस प्रकार है –

(१) गणधरसार्द्धशतक ग्रन्थ जो मूल जिनदत्त सूरिकी कृति है और जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया है, उस पर सुमति गणीने सबसे पहले एक बहुत विस्तृत टीका लिखी है जिसकी रचनासमाप्ति वि. सं. १२९५ में हुई। इस टीकामें ऊपर उद्धृत गाथाओंकी व्याख्या करके, फिर सुमति गणीने जिनेश्वर सूरिका यथाज्ञात चरित भी ग्रथित किया है जो पूर्णदेव गणी कथित 'वृद्ध संप्रदाय' रूप है। सुमति-गणीका यह पूरा प्रकरण, हम इस ग्रन्थके परिशिष्टके रूपमें, मूल स्वरूपमें प्रकाशित कर रहे हैं। सुमति गणीके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि जिनेश्वर सूरिका जो चरित-वर्णन उन्होंने निबद्ध किया है वह पूर्णदेव गणीका कहा हुआ है। यथा "अत्र चायं वाचनाचार्यपूर्णदेवगणिमुख्यवृद्धसंप्रदायः।" यद्यपि इस उल्लेखसे यह नहीं निश्चित होता है कि सुमति गणीने, पूर्णदेवकी बनाई हुई किसी कृतिके आधारसे यह चरित निबद्ध किया है, या साक्षात् उनके मुखसे सुनी हुई वार्ताके आधारपर स्वयं उन्होंने यह आलेखित किया है। परंतु इससे इतना तो निश्चित होता ही है कि सुमति गणी रचित इस चरितका आधार प्राचीन वृद्ध-संप्रदाय है और इसलिये इसकी ऐतिहासिकता अधिक विश्वसनीय है। ये पूर्णदेव गणी, सुमति गणीके गच्छनायक-गुरु जिनपति सूरिके गुरुभ्राता थे। वि. सं. १२१४ में जिनचन्द्र सूरिने इनको दीक्षित किया था और सं. १२४४-४५ में जिनपति सूरिने इनको वाचनाचार्यका पद दिया था।

(२) दूसरी कृति जिनपाल उपाध्याय ग्रथित स्वगुरुवार्ता नामक बृहद्गुर्वावलिका आद्य प्रकरण है। ये जिनपालोपाध्याय भी, सुमति गणीके गुरुभ्राता अर्थात् जिनपति सूरि-ही-के शिष्य थे। अतः दोनों समकालीन थे। जिनपालोपाध्यायकी यह कृति, बीकानेरके जैन ज्ञान भण्डारमें उपलब्ध एक प्राचीनतम 'खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि'के प्रारंभमें संलग्नभावसे लिखी हुई मिली है। इस संपूर्ण गुर्वावलिको हम स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें, इसी ग्रन्थमालामें अलग प्रकाशित कर रहे हैं।

जिनपाल अपने इस निबन्धके प्रारंभमें सूचित करते हैं कि जिनेश्वर सूरि आदि अपने पूर्वाचार्योंका यह चरित-वर्णन हम वृद्धोंके कथनके आधार पर कर रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि जिनपालका यह चरित-वर्णन भी बहुत करके उक्त पूर्णदेव गणीके कथित आधार पर ही ग्रथित किया गया है। सुमति गणीका उक्त चरित-वर्णन और जिनपालका यह चरित-वर्णन दोनों प्रायः एकसे ही है। कहीं कहीं शब्द-रचना और वाक्य-रचनामें थोडा-बहुत फरक होनेके सिवा वस्तुवर्णनमें कोई अन्तर नहीं है। इससे ऐसा स्पष्ट मालूम देता है कि इन दोनों-ही-ने पूर्णदेव गणीके कथनकी प्रायः प्रतिलिपि की है। सुमति गणीकी लेखनशैली बहुत कुछ आडंबरवाली होनेसे उन्होंने जहां कहीं अपनी ओरसे कुछ वाक्य सम्मीलित करनेका प्रयत्न किया है वहां वैसे आडंबरयुक्त वाक्य या कुछ अन्य प्रासंगिक अवतरण दे कर

चरितके शब्दकलेवरको बढानेका प्रसंग लिया है। परंतु जिनपालका चरित-वर्णन बहुत ही सीधा सादा और सरल भाषामें लिखा हुआ हो कर उसमें प्रासंगिक अन्य अंवतरणोंका बिल्कुल समावेश नहीं है। अतएव तथ्यकी दृष्टिसे यह वर्णन विशेष विश्वननीय प्रतीत होता है।

( ३ ) जिनेश्वर सूरिके चरितका तीसरा साधन, प्रभावकचरित है, जिसकी रचना चन्द्रगच्छके आचार्य प्रभाचन्द्रने वि. सं. १३३४ में पूर्ण की है। प्रभाचन्द्रने अपना प्रबन्ध, जिनेश्वर सूरिके शिष्य अभयदेव सूरिको उद्दिष्ट करके लिखा है। अभयदेव सूरिने नवांग सूत्रोंकी टीकाएं बना कर आगम शास्त्रके अभ्यासियोंके लिये महान् उपकार किया है और उनका यह कार्य सार्वजनीन होनेसे सब गच्छवाले और सब पक्षवाले उसको बहुत ही महत्त्व देते थे और इसीलिये अभयदेव सबके श्रद्धाभाजन बने थे। अतः प्रभाचन्द्रने उनके इस विशिष्ट शासनप्रभावक कार्यको लक्ष्य कर उनकी अवदात-वर्णना करनेके लिये इस प्रबन्धकी रचना की। परंतु अभयदेव सूरिके चरितकी पूर्वभूमिका तो जिनेश्वर सूरि के ही चरितमें सम्मीलित है, अतः उनको इसमें इनका भी यथाप्रसंग चरित-वर्णन करना पडा है।

इसमें कोई शक नहीं कि प्रभाचन्द्र एक बडे समदर्शी, आग्रहशून्य, परिमितभाषी, इतिहासप्रिय, सत्यनिष्ठ और यथासाधन प्रमाणपुरःसर लिखने वाले प्रौढ प्रबन्धकार हैं। उन्होंने अपने इस सुन्दर ग्रन्थमें जो कुछ भी जैन पूर्वाचार्योंका इतिहास संकलित किया है वह बडे महत्त्वकी वस्तु है। इस ग्रन्थकी तुलना करने वाले केवल जैन साहित्य-ही-में नहीं अपि तु समुच्चय संस्कृत साहित्यमें भी एक-दो ही ग्रन्थ हैं। प्रभाचन्द्रने अपने इस प्रबन्धमें, जिनेश्वर सूरिका अणहिलपुरमें चैत्यवासियोंके साथ होने वाले वाद-विवादका जो वर्णन दिया है वह, ऊपर वर्णित दोनों निबन्धोंके चरित-वर्णनके साथ कुछ थोडासा भेद रखता है। जिनेश्वर सूरिके दीक्षित होनेके पहलेका – उनकी पूर्वावस्थाके विषयका – कोई निर्देश ऊपरवाले दोनों चरित-निबन्धोंमें नहीं है। उसका उल्लेख सबसे पहले इसी प्रबन्धमें मिलता है; इसलिये इस दृष्टिसे यह प्रबन्ध और भी अधिक उपयुक्त साधनभूत है।

( ४ ) इस साधन-संग्रहमें चौथा स्थान जो सोमतिलक सूरि रचित 'सम्यक्त्वसप्ततिका – वृत्ति'का है, वह रुद्रपल्लीय गच्छके संघतिलक सूरिके शिष्य सोमतिलक सूरिकी रचना है। वि. सं. १४२२ में इसकी रचना पूरी हुई है। इस वृत्तिमें 'वचनशुद्धि'का विषय-वर्णन करते हुए सोमतिलकने सुप्रसिद्ध 'तिलकमञ्जरी' नामक अप्रतिम जैन कथाग्रन्थके प्रणेता महाकवि धनपालका उदाहरण दिया है और उसकी सारी कथा वहां पर लिखी है। इसी कथामें धनपालके पिताका जिनेश्वर सूरिका मित्र होना तथा उसके भ्राता शोभनका जिनेश्वर सूरिका शिष्य होना बतला कर, उनकी कथा भी साथमें प्रथित कर दी है। परंतु यह सारी कथा असंबद्धप्राय हो कर सुनी-सुनाई किंवदन्तीके आधार पर लिखी गई मालूम देती है; इससे इसका कोई विशेष ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। इसमें भी जिनेश्वरकी पूर्वावस्थाका कुछ थोडासा उल्लेख किया गया है जो उक्त प्रभावक-चरितके उल्लेखसे सर्वथा भिन्न है।

( ५ ) पांचवां साधन, एक प्राकृत 'वृद्धाचार्यप्रबन्धावलि' है जो हमें पाटणके भण्डारमें उपलब्ध हुई है। इसके रचयिताका कोई नाम नहीं मिला। मालूम देता है जिनप्रभ सूरि ( विविधतीर्थकल्प तथा विधिप्रपा आदि ग्रन्थोंके प्रणेता )के किसी शिष्यकी की हुई यह रचना है, क्यों कि इसमें जिनप्रभ सूरि एवं उनके गुरु जिनसिंह सूरिका भी चरित-वर्णन किया हुआ है। इसमें संक्षेपमें वर्द्धमान सूरि, जिनेश्वर सूरि आदि आचार्योंका चरित-वर्णन है परंतु वह प्रायः इधर-उधरसे सुनी गई किंवदन्तियोंके आधार

पर लिखा गया मालूम दे रहा है। इससे इसका भी ऐतिहासिकत्व विशेष विश्वसनीय हमें नहीं प्रतीत होता। जिनेश्वर सूरिकी पूर्वावस्थाका ज्ञापक उल्लेख इसमें और ही तरहका है जो सर्वथा कल्पित मालूम देता है।

इन साधनोंमें, प्रथमके तीन निबन्ध हमें अधिक आधारभूत मालूम देते हैं और इसलिये इन्हीं निबन्धोंके आधार पर हम यहां जिनेश्वर सूरिके चरितका सार देनेका प्रयत्न करते हैं।

## ५. जिनेश्वर सूरिकी पूर्वावस्थाका परिचय।

जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है, सुमति गणी और जिनपालोपाध्यायके चरित-वर्णनों जिनेश्वर सूरिकी पूर्वावस्थाका कोई निर्देश नहीं किया गया है। उनमें तो इनके चरित-वर्णनका प्रारंभ वहींसे किया गया है, जब वर्द्धमान सूरिको सूरिमंत्रका संस्फुरण हुआ और इन्होंने उनको, अपने आदर्शको सिद्ध करनेके लिये, गुजरातकी ओर भ्रमण करनेका आग्रह किया।

ये मूलमें कहांके निवासी, किस ज्ञातिके और किस तरह वर्द्धमान सूरिके शिष्य बने इसका वर्णन सबसे पहला हमें प्रभावकचरित-ही-में मिलता है। इसलिये यहां पर हम पहले उसीके अनुसार यह वर्णन आलेखित करते हैं।

इस प्रबन्धके कथनानुसार, जिनेश्वर सूरि और उनके भ्राता बुद्धिसागरका जन्मस्थान मध्यदेश (और सौमतिलकके कथनानुसार उस देशकी प्रसिद्ध नगरी बनारस) है। ये जातिके ब्राह्मण थे और इनके पिताका नाम कृष्ण था। इन भाइयोंका मूल नाम क्रमसे श्रीधर और श्रीपति था। ये दोनों भाई बडे बुद्धिमान् और प्रतिभाशाली थे। इन्होंने वेदविद्यामें विशद विशारदता प्राप्त की थी और स्मृति, इतिहास, पुराण आदि अन्यान्य शास्त्रोंमें भी पूर्ण प्रवीणता संपादन की थी। अपना विद्याध्ययन पूर्ण कर लेने पर, इन दोनों भाइयोंने देशान्तर देखनेकी इच्छासे अपने जन्मस्थानसे प्रयाण किया। उस समय मालव देशकी राजधानी धारानगरीकी सारे भारतवर्षमें बडी ख्याति थी। भारतीय विद्याओंका बडा उत्कट प्रेमी और उद्भट विद्वान् राजाधिराज भोजदेव वहांका अधिपति था। ये दोनों भाई फिरते फिरते धारा नगरी पहुंचे। वहां पर एक लक्ष्मीपति नामक बडा धनाढ्य एवं दानशील जैन गृहस्थ रहता था। वह परदेशीय विद्वानों और अतिथियोंको बडे आदरके साथ सदा अन्न-वस्त्रादिका दान किया करता था। श्रीधर और श्रीपति ये दोनों भाई उसके स्थान पर पहुंचे। उसने इनकी आकृति वगैरह देख कर, बडी भक्तिके साथ इनको भोजनादि कराया। ये उसके वहां इस तरह कुछ दिन निरंतर भोजनके लिये जाया करते थे और उसके मकान पर जो कुछ प्रवृत्ति होती रहती थी उसका निरीक्षण भी किया करते थे। उस सेठका व्यापार बडा विस्तृत था और उसके वहां रोज लाखोंका लेन-देन होता था। उस लेन-देनके हिसाबका लेखा, मकानके सामनेकी भींत पर लिखा रहता था*। उसको वारंवार देखनेसे इन दोनों भाइयोंको वह कंठस्थ जैसा हो गया। अकस्मात् दुर्दैवसे एक दिन वहां आग लग गई और वह मकान जल गया। अन्यान्य चीज वस्तुके साथ वह भींत भी, जिस पर दुकानका हिसाब लिखा रहता था, जल गई। सेठको इससे बडा दुःख हुआ। लेन-देनका हिसाब नष्ट हो जानेसे व्यावहारिक कामोंमें अनेक प्रकारकी

*उस जमानेमें, आजकी तरह कागजके बने हुए बही-खाते नहीं होते थे, इसलिये व्यापारी लोग अपने रोजाना लेन-देनका हिसाब, थोडा हुआ तो लकडीकी पट्टिका पर (जो स्लेटके स्थानमें काममें लाई जाती थी) और बहुत हुआ तो उसी कामके लिये तैयार की गई भींत पर, खडिया मिट्टीके पानीसे अथवा स्याहीसे लिख लिया जाता था। पीछेसे, सावकाश, उसे कपडेके टिप्पनों पर लिपिबद्ध कर लिया जाता था।

अड्चनें उत्पन्न होनेकी परिस्थिति पैदा हो गई। दूसरे दिन, जब ये ब्राह्मण भाई फिर उसके मकान पर गये, तो सेठकी वह हालत देख कर इनको बडा क्लेश हुआ। सेठकी विषादपूर्ण मुखाकृति देख कर ये उसको कुछ सान्त्वना देनेके लिये उपदेशात्मक दो शब्द बोले, तो सेठने कहा—मुझे इस धन, अन्न, वस्त्रादिके नाशका वैसा कोई खेद नहीं है जैसा लेन-देनके हिसाबके नाशका दुःख है। क्यों कि इसके कारण मेरा कई अन्यान्य व्यवहारियोंके साथ कलह होगा और मेरी धार्मिकताको धक्का पहुंचेगा। तब इन भाइयोंने कहा, कि उस दिवाल पर जो कुछ लिखा हुआ था वह साराका सारा हमें अक्षरशः याद है; यदि तुम चाहो तो उसे लिखवा सकते हो। यह सुन कर सेठको बडी खुशी हुई और उसने इनको अच्छे उच्चासन पर बिठा कर इनके मुंहसे वह लेखा लिखाने लगा। इन्होंने वह सब हिसाब, संवत्, महिना, तिथि, वार पूर्वक, एवं वस्तुओंके नाम, परिमाण, मूल्य और लेने-देने वालेके उल्लेखके साथ, ज्यों का त्यों लिखवा दिया। एक विश्वाका भी उसमें फरक नहीं पडा। यह देख कर सेठ बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने मनमें माना, कि अहो ये तो कोई मेरे साक्षात् गोत्रदेवताके जैसे मुझपर अनुकंपा करनेके लिये ही यहां आ गये हैं। उसने इनका फिर बहुत ही सत्कार किया और अपने ही घर पर, अपने घरकी सब व्यवस्था करने वालेके तौर पर इनको रख लिया।

ये दोनों भाई जितेन्द्रिय और शान्त स्वभावके थे। इससे फिर उस सेठके मनमें आया कि ये तो बडे साधु पुरुष होनेके लायक हैं; अतः यदि इनकी भेंट, अपने धर्मगुरु वर्द्धमानाचार्यसे हो जाय तो बहुत उत्तम हो। ऐसा विचार कर सेठ, एक दिन इन भाइयोंको वर्द्धमानाचार्यके पास ले गया जो उस समय वहां आए हुए थे। श्रीपति और श्रीधर आचार्यकी ब्रह्मतेजःपूर्ण तपोमूर्ति देख कर बडे प्रसन्न हुए और श्रद्धापूर्वक इन्होंने उनके चरणोंमें नमस्कार किया। आचार्य भी इन बन्धुओंकी भव्य आकृति और उत्तम प्रकारके लक्षणोंसे अंकित देह-रचना देख कर बहुत मुदित हुए। कुछ दिन निरंतर आचार्यके पास आने-जानेसे और शास्त्र-विचार होते रहनेसे इनके मनमें उनके दीक्षित शिष्य हो जानेकी अभिलाषा उत्पन्न हुई और फिर अन्तमें, सेठकी अनुमति और सहानुभूतिपूर्वक, इन्होंने वर्द्धमानाचार्यके पास जैन यतित्वकी दीक्षा अंगीकार कर ली।

ये, यों पहले ही बडे विद्वान् तो थे ही, जैन दीक्षा लेनेके बाद थोडे ही समयमें जैन शास्त्रोंके भी पारगामी बन गये और कुछ कालके बाद, आचार्यने सब तरहसे योग्य समझ कर, इनको आचार्य पदसे भूषित कर दिया। श्रीधरका नाम जिनेश्वर सूरि रखा गया और श्रीपतिका नाम बुद्धिसागर सूरि।

आचार्यने इनको फिर देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण कर, अपने शुद्ध उपदेश द्वारा, जैन धर्मका प्रसार करनेकी आज्ञा दी। गुरुने कहा—गुजरातकी अणहिलपुर राजधानीमें चैत्यवासि यतिजनोंका बडा जोर हो रहा है और वे लोग वहां पर सुविहित यतिजनोंको न आने देते हैं न ठहरने देते हैं। तुम अच्छे प्रतिभावान् और प्रभावशाली संयमी हो, अतः वहां जा कर अपने चारित्र्य और पाण्डित्यके बलसे, चैत्यवासियोंके मिथ्या अहंकार और शिथिलाचारका उत्थापन करो। गुरुकी आज्ञासे ये दोनों भाई, अपने कुछ अन्य संयमी साथियोंके साथ, परिभ्रमण करते करते अणहिलपुर पाटनमें पहुंचे।

शहरमें प्रवेश करके इन्होंने कई स्थानों पर अपने ठहरनेके मकानकी गवेषणा की परंतु किसीने कहीं कोई जगह नहीं दी। तब इनको गुरु महाराजके कथनकी पूरी प्रतीति हुई। उस समय वहां पर चालुक्य नृपति दुर्लभराज राज्य कर रहा था। उसका उपाध्याय एवं राजपुरोहित गुरु सोमेश्वर देव था जो

बृहस्पतिके जैसा विद्वान् और नीतिविचक्षण राजपुरुष था। जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागराचार्य उस मकान पर पहुंचे। उसके द्वार पर उपस्थित हो कर इन्होंने संकेतविशिष्ट वेदमंत्रोंका बडे गंभीर ध्वनि ऐसा उच्चारण किया जिसे सुन कर वह राजपुरोहित आश्चर्यचकित हो गया। पुरोहित उस सम अपने नित्यकर्मके देवपूजनमें लगा हुआ था—वेदमंत्रोंको सुन कर वह मानों समाधिमग्न हो गया। उस अपने बन्धुको बुला कर कहा, कि जा कर देखो तो बहार दरवाजे पर कौन ऐसे वेदमंत्र बोल रहा है उसके द्वारा इन भाइयोंका स्वरूप जान कर, पुरोहितने बडे आदरके साथ इन्हें अन्दर बुलाया और उचित स्थान पर बिठाया। आशीर्वादात्मक कुछ पद्यपाठके बाद, पुरोहितने इनसे वार्तालाप किया और कुछ प्रारंभिक वृत्तांत सुन कर उसने इनसे पूछा कि आप कहां पर ठहरे हैं?। उत्तरमें इन्होंने कहा। इस नगरमें चैत्यवासी यतिजनोंका अत्यधिक प्राबल्य होनेके कारण हमें कोई भी कहीं ठहरनेकी जा नहीं दे रहा है और इसीलिये हम आपके स्थान पर पहुंचे हैं। पुरोहितने बडी प्रसन्नताके साथ, अ विशाल भवनमें, जहां छात्रोंके पठन-पाठनकी पाठशाला थी, उसके एक एकान्त भागमें इनको ठहरने जगह दे दी। पुरोहितके कुछ अनुचरोंके साथ भिक्षानिमित्त अन्यान्य घरोंमें जा कर इन्होंने वह अपने उचित भिक्षान्न प्राप्त किया और अपने स्थानमें बैठ कर उसका प्राशन किया।

राजपुरोहितके मकान पर इस तरहके कोई अपरिचित जैन यति आ कर ठहरे हैं, इसकी च एकदम सारे नगरमें फैल गई। प्रथम तो बहुतसे याज्ञिक, स्मार्त, दीक्षित, अग्निहोत्री आदि ब्रा विद्वान् कुतूहलवश वहां आ पहुंचे। उनके साथ इन्होंने कई प्रकारकी प्रौढ एवं गंभीर शास्त्रचर्चा और इनके इस प्रकारके असाधारण शास्त्र-प्रावीण्यको देख कर वे सब बहुत सन्तुष्ट हुए।

इतने-ही-में नगरके प्रमुख चैत्यवासी आचार्यके भेजे हुए कुछ मनुष्य आ पहुंचे और उन्होंने इ आक्रोशपूर्वक शब्दोंमें हुकम दिया कि इस शहरमें चैत्यबाह्य श्वेतांबरोंको ठहरनेका कोई अधिकार है, इसलिये शीघ्र ही यहांसे नीकल जाओ—इत्यादि।

उनके इस प्रकारके असभ्य और धार्ष्ट्यपूर्ण कथनको सुन कर, पुरोहितने स्वयं उत्तर दिया कि इस निर्णय तो राजसभा द्वारा किया जा सकता है, इसलिये आप लोग वहां पहुंचे। उन्होंने जा कर पुरोहि यह सन्देश अपने आचार्यको सुनाया। दूसरे दिन यथा-समय चैत्यवासी यतिगण, अपने प्रधान प्र व्यक्तियोंके साथ राजसभामें पहुंचे और उन्होंने पुरोहितके इस कार्यके प्रति अपना विरोध प्रकट कि पुरोहित भी उस समय वहां उपस्थित हुआ। उसने कहा कि मेरे स्थान पर दो जैन मुनि आये जि इस महान् नगरमें इन जैन मतवालोंने कहीं पर ठहरनेकी जगह नहीं दी। मैंने इन मुनियोंको गुण समझ कर अपने मकानमें ठहरनेकी व्यवस्था की है। इन लोगोंने अपने भट्टोंको भेज कर मेरे स्थान इस प्रकार असभ्य व्यवहार किया, इसलिये महाराजसे मेरा निवेदन है कि मैंने जो कोई इसमें अनु कार्य किया हो तो उसका दण्ड मैं भुगतनेको तैयार हूं।

राजाने सुन कर कहा कि मेरे नगरमें देशान्तरसे जो कोई गुणवान् व्यक्ति आवे तो उसे न ठ देनेका या नीकाल देनेका किसीको क्या अधिकार है? और उनके ठहरनेके लिये जो कोई स आदिकी व्यवस्था करे तो उसमें उसका क्या दोष है?

इसके उत्तरमें चैत्यवासियोंकी ओरसे राजाको यह कहा गया कि—महाराज! आप जानते हैं कि नगरकी स्थापना चापोत्कटवंशीय वनराजने की है। बालपनमें उसका पालन-पोषण पंचासरके चै

रहने वाले नागेन्द्रगच्छके देवचन्द्र सूरिने किया था। वनराजने जब इस नूतन नगरकी स्थापना की तो सबसे पहले यहां पर पार्श्वनाथका मन्दिर स्थापित किया गया जिसका नाम 'वनराजविहार' ऐसा रक्खा। फिर उसने अपने गुरुको यह मन्दिर समर्पित कर दिया और उनकी बडी भक्ति की। उसी समय संघके समक्ष वनराजने एक ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि जिससे भविष्यमें जैनोंमें परस्पर मतविभेदके कारण कोई कलह न उत्पन्न हो। वह व्यवस्था यह है कि अणहिलपुरमें वे ही जैन यति आ कर निवास कर सकते हैं जो चैत्यवासी यतिजनोंको सम्मत हों। दूसरोंको यहां वासस्थान न दिया जाय। पूर्वराजाओंकी की हुई व्यवस्थाका पालन करना यह पिछले अनुगामी नृपतियोंका धर्म है। इसमें यदि हमारा कोई अनुचित कथन हो तो आप उसका निर्णय दें।

राजाने इसके उत्तरमें कहा–'पूर्वकालीन नृपतियोंकी की हुई व्यवस्थाका हम दृढतापूर्वक पालन करना चाहते हैं; परंतु साथमें हम गुणवानोंकी पूजाका उल्लंघन भी होने देना नहीं चाहते। आप जैसे सदाचारनिष्ठ पुरुषोंके आशीर्वादसे ही तो राजाओंका ऐश्वर्य बढता है और यह राज्य तो फिर आप ही लोगोंका है इसमें कोई संदेह नहीं है। अब इस विषयमें हमारा आपसे यह अनुरोध है कि हमारे कथनसे आप इन आगन्तुक मुनियोंको यहां वसनेकी अनुमति दें।'

राजाकी इस इच्छाके अनुसार उन चैत्यवासी आचार्योंने, इन नवागन्तुक मुनियोंको शहरमें निवास करने देनेके विषयमें अपनी सम्मति प्रदर्शित की।

इसके बाद पुरोहितने राजासे विज्ञप्ति की कि इनके रहनेके लिये कोई स्थान स्वयं महाराज ही अपने मुखसे उद्घोषित कर दें जिससे फिर किसीको कुछ कहने-सुननेका न रहे।

इतने ही में वहां पर, राजगुरु शैवाचार्य, 'कूरसमुद्र' बिरुद धारक, ज्ञानदेव आ पहुंचे। राजाने उठ कर उनको प्रणामादि किया और अपने ही आसन पर उन्हें बिठाया। फिर उनसे उसने विज्ञप्ति की कि–अपने नगरमें ये जैन महर्षि आए हुए हैं इनके ठहरनेका कोई उचित स्थान नहीं है; यदि आपकी दृष्टिमें कोई ऐसा स्थान हो तो सूचित करें जो इनका उपाश्रय हो सके।

यह सुन कर ज्ञानदेव बडे प्रसन्न हुए और बोले–'महाराज! आप इस तरह गुणीजनोंकी अभ्यर्चना करते हैं यह देख कर मुझे बहुत ही हर्ष होता है। शैव और जैन दर्शनमें वास्तवमें मैं कोई भेद नहीं मानता। दर्शनोंमें भेदबुद्धि रखना मिथ्यामतिका सूचक है। 'त्रिपुरुषप्रासाद'[1]के अधिकार नीचे 'कणहट्टी' नामक जो जगह है वह इनके उपाश्रयके योग्य हो सकती है इसलिये उस स्थानको पुरोहितजी उपाश्रयके तौर पर उपयोगमें ला सकते हैं। इसके निमित्त अपने या पराये–किसी भी पक्षवालेने कुछ विघ्न उपस्थित किया तो मैं उसका निवारण करूंगा।' ऐसा कह कर उन्होंने एक मुख्य ब्राह्मणको ही इस कार्यको संपन्न करनेके लिये नियुक्त किया और कुछ ही समयमें वहां अच्छा उपाश्रय बन गया।

उसके बाद, अणहिलपुरमें सुविहित जैन यतियोंके निवास करनेके लिये अनेक वसतियोंके–उपाश्रयोंके बननेकी परंपरा शुरू हो गई। महान् पुरुषों द्वारा स्थापित हुए कार्यकी वृद्धि होती ही है–इसमें कोई संदेह नहीं।

बस प्रभावकचरितमें यहीं तक जिनेश्वर सूरिका चरितवर्णन है। इसके आगे फिर अभयदेव सूरिका चरितवर्णन शुरू होता है। प्रभावकचरितकारके कथनानुसार, इसके बाद जिनेश्वर सूरि विहरण करते

---

१ अणहिलपुरमें 'त्रिपुरुषप्रासाद' नामका राज्यका मुख्य शैवमन्दिर था।

हुए मालवाकी धारा नगरीमें गये और वहां महाधर नामक सेठ और उनकी पत्नी धनदेवीके पुत्र अ कुमारको दीक्षित किया। अभयकुमार बहुत बुद्धिशाली, अत्यंत तेजस्वी एवं क्रियानिष्ठ यतिपुंगवके रू प्रसिद्धि प्राप्त करने लगे। इससे फिर जिनेश्वर सूरिने अपने गुरु वर्द्धमान सूरिकी आज्ञासे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया।

इसके बाद, फिर किस तरह अभयदेव सूरिने नव अंग सूत्रोंकी व्याख्याएं कीं तथा स्थंभनपार्श्वना मूर्तिका प्रकटन किया इत्यादि अभयदेवके जीवनसे संबद्ध बातोंका वर्णन दिया गया है जि उद्धरण करना हमें प्रस्तुत प्रकरणमें उद्दिष्ट नहीं है। अन्तमें इतना ही सूचित किया गया है बुद्धिसागराचार्यने ८ हजार श्लोकप्रमाण बुद्धिसागर नामक व्याकरण ग्रन्थकी रचना की और इस ये दोनों भ्राता अपने अपने आयुष्यके अन्तमें समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर दिवंगतिको प्राप्त हुए।

## ६. जिनेश्वर सूरिके चरितका सार।

### गणधरसार्द्धशतक वृत्ति तथा बृहद्गुर्वावलिके वर्णनका सार भाग।

अब हम यहां पर, उक्त गणधरसार्द्धशतक वृत्तिगत सुमतिगणिलिखित तथा बृहद्गुर्वावलिके अ जिनपाललिखित जिनेश्वर सूरिके चरित का सार देते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है, ये दोनों चरित्रवर्णन प्रायः एकसे ही है—एक ही प्रक शब्दरचनामें संकलित है। चरितकी मुख्य वस्तुघटनाओंका उल्लेख दोनोंमें एक ही समान है—कोई त्व सूचक न्यूनाधिकता नहीं है। परन्तु सुमति गणिकी लेखनशैली कहीं कहीं बातको कुछ बढा और शब्दोंका अनावश्यक आडंबर दिखा कर, वक्तव्यको अधिक पल्लवित करनेकी पद्धतिकी है जिनपालकी रचनाशैली बहुत सीधी-सादी एवं परिमित शब्दोंमें वार्तागत मुख्य वस्तु-ही-के कह पद्धतिकी है। इसलिये हम यहां पर जिनपालके निबन्धका ही मुख्य सार देते हैं।

जिनपाल एवं सुमति गणीका वर्णन वर्द्धमानाचार्यके वर्णनसे प्रारंभ होता है जो जिनेश्वर सू चरितकी पूर्वभूमिकारूप है। अतः हम भी उसीके अनुसार यहां यह सारालेखन करते हैं।

१. अभोहर प्रदेशमें एक जिनचन्द्राचार्य नामके देवमन्दिर (चैत्य) निवासी आचार्य थे जो स्थावलक (ठिकानों) के नायक थे। उनका वर्द्धमान नामक शिष्य था। वह जब सिद्धान्तवाचना रहा था तब उसमें जिनमन्दिरके विषयकी ८४ आशातनाओंका वर्णन पढनेमें आया। उनको पढ उसके मनमें आया कि इन आशातनाओंका निवारण किया जाय तो अच्छा कल्याणकर है। उ अपने गुरूसे इसका निवेदन किया। परंतु गुरुने सोचा इसका यह विचार हमारे लिये हितकर नहीं गुरुने उसको मोहबद्ध करनेके लिये आचार्य पद दे कर अपना सब अधिकार उसे समर्पित कर दिय परन्तु उसका मन चैत्यवासके उस व्यापारमें न चौंटा और आखिरमें गुरुकी सम्मतिपूर्वक वह अ कुछ अनुगामी यतियोंके साथ वहांसे नीकल कर दिल्लीके प्रदेशमें आया जहां उद्यतविहारी उद्योतनाच ठहरे हुए थे। उनके पास उसने आगमके तत्त्वोंको अच्छी तरह समझ कर, उपसंपदा ग्रहण की और उनका अन्तेवासी बना। उद्योतन सूरिने उसको सूरिमंत्र दे कर आचार्य पद पर स्थापित किया।

सूरिमन्त्रको प्राप्त करने पर वर्द्धमानाचार्यको यह संकल्प हुआ कि इस मंत्रका अधिष्ठाता कौन है इसके जाननेके लिये उन्होंने तीन उपवास किये। तब धरणेन्द्रने आ कर उनसे कहा कि मैं इस मंत्रक अधिष्ठाता हूं। फिर उस इन्द्रने मंत्रके प्रत्येक पदका क्या फल है इसका भी ज्ञान इनको कराया आचार्यको इस मंत्रका फिर बहुत संस्फुरण होने लगा अतः वे संस्फुराचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए।

२. इस प्रसंगमें, एक दफह पण्डित जिनेश्वर गणीने इनसे विज्ञप्ति की कि—'भगवन्! हमने जो यह जैन शास्त्रोंका परिज्ञान प्राप्त किया है उसका क्या फल है यदि कहीं जा कर इसका प्रकाश न किया जाय। सुना जाता है कि, गुजरात देश जो बहुत विशाल है, चैत्यवासी आचार्योंसे व्याप्त है। अतः हमें उधर जा कर शुद्धाचारका उपदेश करना चाहिये। वर्द्धमानाचार्यने जिनेश्वरके ये विचार सुन कर वैसा करनेके लिये अपनी सम्मति प्रकट की। फिर अच्छे शकुन प्राप्त कर, उधरसे एक भामह नामक सेठका बडा भारी व्यापारी संघ आ रहा था उसके साथ, अपने १८ शिष्यों सहित वर्द्धमान सूरिने गुजरातकी ओर प्रस्थान किया।

क्रमसे चलते हुए वे मारवाडके पाली नामक स्थान पर पहुंचे। वहां पर इनकी सोमध्वज नामक एक जटाधरसे भेंट हो गई जो बडा विद्वान् और ख्यातिमान् पुरुष था। उसके साथ ज्ञानगोष्ठी करते हुए जिनेश्वर गणीको बडा आनन्द आया। जटाधर भी इनके पाण्डित्यसे बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इनकी अच्छी भक्ति की।

वहांसे फिर उसी संघके साथ चलते हुए क्रमसे अणहिलपुर पहुंचे। उस समयमें वहां पर न कोई ऐसा उपाश्रय था जहां ये ठहर सके न कोई ऐसा श्रावक भक्त ही था जो इनको ठहरनेका स्थान दे सके। इन्होंने अपना मुकाम पहले शहरके कोटके आश्रयमें कहीं किसी खुली पडशालमें डाला। वहां पर घंटे दो घंटे बैठे रहने पर सूर्यका ताप आ गया और इससे ये सब धूपमें सिकने लगे।

तब जिनेश्वर पण्डितने कहा कि—'गुरुमहाराज! इस तरह बैठे रहनेसे क्या होगा?' गुरुजीने कहा—'तो फिर क्या किया जाय?' जिनेश्वर बोले 'यदि आपकी आज्ञा हो तो वह सामने जो बडासा मकान दिखाई देता है, वहां मैं जाऊं और देखूं कि कहीं हमें कोई आश्रय मिल सकता है या नहीं? गुरुजीने कहा—'अच्छी बात है, जाओ।' फिर गुरुजीके चरणको नमस्कार करके जिनेश्वर उस मकान पर पहुंचे।

वह बडा मकान नृपति दुर्लभराजके राजपुरोहित का था। उस समय पुरोहित स्नानाभ्यंगन करा रहा था। जिनेश्वरने एक सुन्दर भाववाला संस्कृत श्लोक बना कर उसको आशीर्वाद दिया। उसे सुन कर पुरोहित खुश हुआ। बोला कोई विचक्षण व्रती मालूम देता है।

पुरोहितके मकानके अन्दरके भागमें बहुतसे छात्र वेदपाठ कर रहे थे। इनके पाठमें कहीं कहीं अशुद्ध उच्चारण सुनाई दिया। तब जिनेश्वरने कहा—'यह पाठोच्चार ठीक नहीं है। ऐसा उच्चार करना चाहिये।'

यह सुन कर पुरोहितने कहा—'अहो! शूद्रोंको वेदपाठ करनेका अधिकार नहीं है।' इसके उत्तरमें जिनेश्वरने कहा—'हम शूद्र नहीं है। सूत्र और अर्थ दोनों ही दृष्टिसे हम चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं।

पुरोहित सुन कर संतुष्ट हुआ। बोला—'किस देशसे आ रहे हो?' जिनेश्वर—'दिल्लीकी तरफसे।' पुरो॰ 'कहां पर ठहरे हुए हो?' जिनेश्वर—'शुल्कशाला (दाणचौकी) के दालानमें। हम सब अपने गुरुके, सब १८ यति हैं। यहां का सब यतिगण हमारा विरोधी होनेसे हमें कहीं कोई उतरनेकी जगह नहीं दे रहा है।

पुरोहितने कहा—'मेरे उस चतुःशालवाले घरमें एक पडदा लगा कर, एक पडशालमें आप लोग ठहर सकते हैं। उधरके एक दरवाजेसे बहार जा-आ सकते हैं। आइये और सुखसे रहिये। भिक्षाके

लिये मेरे आदमी आपके साथ अगुआ हो कर ब्राह्मणोंके घरों पर ले जाया करेंगे । इससे भिक्षा मिलनेमें भी आपको कोई कष्ट नहीं होगा ।' बादमें वे वहां पर आ कर ठहर गये ।

अब पाटन नगरके लोगोंमें यह बात फैली कि कोई वसतिनिवासी यतियोंका एक समुदाय शहर आया है। जब यह बात चैत्यवासी यतियोंके सुननेमें आई तो उनको लगा कि यह घटना तो अच्छी नहीं है। इससे हमको हानि होगी। अतः उन्होंने सोचा कि इस उगते हुए व्याधिका अभी ही उच्छे कर देना अच्छा है।

उन यतिजनोंके पास शहरके बहुतसे अधिकारियोंके पुत्र पढनेके लिये आया करते थे। उनको कु बतासे आदि दे कर खुश कर लिये गये और फिर उनसे कहा कि—'तुम सब जगह यह बात फैला कि शहरमें यतिजनोंके रूपमें कितनेक ऐसे लोग बहारसे आये हैं जो महाराज दुर्लभराजके राज्यकी गु बातें जाननेके लिये आये हुए किसी राज्यके गुप्तचरसे मालूम देते हैं।'

थोडे ही समयमें, यह बात सारे शहरमें फैलती हुई राजसभामें भी जा पहुंची । राजाने सुन क अपने निकट जनोंसे कहा, कि ऐसे कहांके विदेशी गुप्तचर यहां आये हैं और उनको किसने आश्र दिया है? तब किसीने कहा कि—'महाराज! आपके गुरु राजपुरोहितने ही तो इनको अपने मका पर ठहराया है।' राजाने पुरोहितसे पूछा—'तुमने इन गुप्तचरोंको किसलिये अपना स्थान दिया है! पुरोहितने कहा—'महाराज! किसने इनपर ऐसा दोषारोपण लगाया है? । यह सर्वथा मिथ्यादोष है यदि कोई इसको सिद्ध कर दे तो मैं उसको एक लाख पारुत्थ (उस समय गुजरातमें चलने वाल सोनेका शिक्का) देनेकी घोषणा करता हूं। मैं अपनी यह पिछौडी इसके लिये यहां डालता हूं—जि किसीको हिम्मत हो वह इसे छुए।' पर वैसा करनेकी किसीकी हिम्मत नहीं हुई । फिर पुरोहितने राजासे कहा—'महाराज! मेरे स्थान पर जो साधुजन आ कर ठहरे हैं वे तो साक्षात् धर्मकी मूर्ति दिखाई दे रहे हैं। उनमें ऐसा कोई दोष मैं नहीं देख रहा हूं।'

तब इस बातको सुन कर सूराचार्य आदि सब चैत्यवासियोंने मिल कर सोचा—वाद-विवाद करके इन नवागन्तुक यतियोंको पराजित करना चाहिये और इस तरह इनको शहरमेंसे नीकलवाना चाहिये। उन्होंने अपना यह विचार पुरोहितको कहलाया और सूचित कराया कि 'हम लोग आपके स्थान पर ठहरे हुए यतिजनों के साथ शास्त्रार्थ करना चाहते हैं।'

पुरोहितने उनसे कहलाया कि 'मैं उनको पूछ कर इसका उत्तर दूंगा।' फिर उसने अपने मकान पर जा कर उन मुनियोंसे कहा—'विपक्षी लोग आपके साथ शास्त्रविचार करना चाहते हैं।' तब उन्होंने कहा—'ठीक ही है। इसमें डरनेकी कोई बात नहीं है। परंतु उनसे यह कहलाइये कि—यदि वे हमसे शास्त्रविषयक वाद-विवाद करना चाहते हैं तो महाराज दुर्लभराजके समक्ष, जहां वे कहेंगे वहां, हम विचार करनेको तैयार हैं।'

यह उत्तर सुन कर उन चैत्यवासियोंने सोचा—कोई हर्ज नहीं है। राजाके समक्ष ही विचार हो। सब अधिकारी लोग तो हमारे ही हैं। इससे उनकी तरफसे किसी प्रकारके भयकी कोई चिंता हमें नहीं है। फिर उन्होंने तदनुकूल दिनका निश्चय कर सबके सामने प्रकट किया कि अमुक दिनको पंचासरके बडे मन्दिरमें शास्त्रविचार किया जायगा।

पुरोहितने भी एकान्तमें जा कर राजासे निवेदन किया कि 'आगन्तुक मुनियोंके साथ शहरके

निवासी यतिजन शास्त्र-विचार करना चाहते हैं। ऐसा विचार न्यायवादी राजाके समक्ष ही किया हुआ शोभा देता है। इसलिये आप श्रीमान् कृपा करके उस समय वहां पर प्रत्यक्ष रूपसे उपस्थित रहनेका अनुग्रह करें।' राजाने कहा—'यह युक्त ही है। हम वैसा करेंगे।'

बादमें निश्चित किये गये दिनको उसी मन्दिरमें श्रीसूराचार्य आदि ८४ आचार्य अपनी अपनी समृद्धिके अनुरूप सज्जित हो कर, वहां पर आ कर बैठे। प्रधानोंने राजाको भी उचित समय बुला भेजा, सो वह भी वहां आ कर बैठ गया। फिर राजाने पुरोहितसे कहा—'तुम जा कर अपने सम्मत मुनियोंको बुला लाओ।' वह जा कर वर्द्धमान सूरिसे बोला—'सभी मुनिगण सपरिवार वहां पर आ कर बैठ गये हैं। श्रीदुर्लभराज भी आ गये हैं। अब आपके आगमनकी प्रतीक्षा की जा रही है। राजाने सब आचार्योंको तांबूल दे कर सम्मानित किया है।'

पुरोहितके मुखसे यह वृत्तान्त सुन कर वर्द्धमानाचार्य अपने ईष्ट देव-गुरुका मनमें ध्यान कर तथा उनका स्मरण कर, पण्डित जिनेश्वर आदि कुछ विद्वान् शिष्योंके साथ, शुभ शकुन पूर्वक चले और देवमन्दिरमें पहुंचे। राजाके बताये हुए स्थान पर पण्डित जिनेश्वरने आसन बिछा दिया जिस पर वे बैठ गये। जिनेश्वर भी उनके चरणके समीप ही अपना आसन डाल कर बैठ गये। राजाने उनको भी फिर तांबूल देना चाहा। तब उन्होंने कहा—'राजन्! साधुओंको तांबूलभक्षणका निषेध है। शास्त्रोंमें कहा है कि—ब्रह्मचारी यतियोंको और विधवा स्त्रियोंको तांबूलका भक्षण करना मानों गोमांसका भक्षण करने जैसा है।' इससे विवेकी लोग जो वहां उपस्थित थे उनको अच्छी प्रसन्नता हुई।

फिर वर्द्धमानाचार्यने कहा—'हमारी ओरसे ये पण्डित जिनेश्वर जो कुछ उत्तर-प्रत्युत्तर करेंगे वह हमें स्वीकृत है, ऐसा आप सब समझें।' सबने उसका स्वीकार किया।

इसके बाद सूराचार्य, जो उन सब चैत्यवासी यतिजनोंके मुख्य नायक थे, उन्होंने विचार उपस्थित करते हुए कहा—'जो मुनि वसति अर्थात् गृहस्थके मकानमें रहते हैं वे प्रायः षड्दर्शन-बाह्य समझने चाहिये। षड् दर्शनमें क्षपणक (दिगंबर) जटी (जटाधारी) आदि सब आ जाते हैं।' इसका निर्णय देनेके लिये उन्होंने 'नूतनवादस्थल' पुस्तिकाकोपढनेके लिये अपने हाथमें लिया। इसको सुन-देख कर जिनेश्वरने बीच-ही-में यह प्रश्न उपस्थित किया कि महाराज दुर्लभदेव! आपके यहांके लोगोंमें क्या पूर्व पुरुषोंकी चलाई हुई पुरातन नीतिका प्रवर्तन हैं या आधुनिक पुरुषोंकी चलाई हुई कोई नवीन नीतिका प्रचार है?' राजाने उत्तरमें कहा—'हमारे देशमें अपने पूर्वजोंकी निश्चित की हुई राजनीतिका ही प्रचलन है, दूसरीका नहीं।

तब जिनेश्वरने फिर कहा—'महाराज! हमारे मतमें भी, अपने पूर्वपुरुष गणधर और चतुर्दशपूर्वधर आदि जो हो गये हैं उन्हींका कहा हुआ मार्ग प्रमाण माना जाता है, दूसरा नहीं।' तब राजाने कहा—'यह तो ठीक ही है।'

तब फिर जिनेश्वरने कहा—'महाराज! हम दूर देशसे यहां पर आये हैं। पूर्व पुरुषोंके बनाये हुए ग्रन्थ आदि हम अपने साथ नहीं लाये हैं। इसलिये आप इनके मठोंमेंसे शास्त्रोंके गट्ठड मंगवानेकी व्यवस्था करें जिससे उनके आधार पर मार्ग-अमार्गका निश्चय किया जाय। राजाने उन स्थानस्थित आचार्योंको उद्देश्य करके कहा—'ये ठीक कहते हैं। आप लोग अपने स्थान पर संदेशा भेज दें जिससे मेरे राजकर्मचारी जा कर उन पुस्तकोंके गट्ठडको यहां पर ले आवें।' उन्होंने मनमें समझ लिया कि

उसमेंसे तो इन्हींका पक्ष सिद्ध होगा। इसलिये वे मौन रहे। राजाने अपने नोकरोंको भेजा और क कि शीघ्र ही पुस्तक यहां पर ला कर हाजर करो। तदनुसार वे शीघ्र ही वहां लाये गये।

पुस्तकोंके आते ही सद्भाग्यसे जिनेश्वर सूरिके हाथमें सबसे पहले दशवैकालिक सूत्र नामक ग्र आ गया। उसको खोल कर उन्होंने उसमेंकी यह गाथा पढी—

**अन्नट्ठं पगडं लेणं भइज्ज सयणासणं। उच्चारभूमिसंपन्नं इत्थीपसुविवज्जियं॥**

साधुओंको कैसी वसतिमें ठहरना चाहिये इसका वर्णन इस गाथामें किया है। इसका अर्थ समझा हुए जिनेश्वरने कहा—ऐसी वसतिमें साधुओंके ठहरनेका शास्त्रोंमें विधान है न कि देवमन्दिरोंमें।

सुन कर राजाने मनमें समझ लिया, कि इनका यह कथन युक्तियुक्त माछ्म देता है। उन अन्या सब अधिकारियोंने भी समझ लिया कि हमारे गुरु निरुत्तर हो गये हैं। फिर भी वे सब अधिकारी ए दूसरेको कहने लगे, कि ये हमारे गुरु हैं, ये हमारे गुरु हैं—इत्यादि। उन्होंने सोचा, ऐसा कहने राजा समझेगा कि जो हमारे गुरु हैं वे मान्य पुरुष हैं; अतः उनके विरुद्ध वह कुछ अभिप्राय नहीं प्रक करना चाहेगा। परंतु राजा तो न्यायवादी था इसलिये उसने सब कुछ सत्य समझ लिया था।

इतनेमें जिनेश्वर सूरिने कहा—'महाराज! देखिये तो सही इनमेंसे कोई तो मंत्रीके गुरु हैं, को श्रीकरणाध्यक्षके गुरु हैं और कोई पटवोंके गुरु हैं। इस तरह यहां पर सब कोई सबके संबन्धी दिखा दे रहे हैं। लेकिन हमारा कोई संबन्धी नहीं दिखाई देता।' तब हंस कर राजाने कहा—'आप हमारे संबन्धी है—हमारे गुरु हैं।' राजाके मुखसे ये शब्द सुन कर वे सब आचार्य खिन्नमनस्क हो गये।

फिर राजा व्यंग्य करते हुए बोला—'ये सब अधिकारियोंके गुरु इस तरह बडी बडी गद्दियों पर बैठे हुए हैं तो फिर हमारे गुरु क्यों इस प्रकार नीचे आसन पर बैठे हुए हैं?' इस पर जिनेश्वरने कहा 'महाराज! साधुओंको गद्दी पर बैठना शास्त्रमें निषिद्ध है।' और फिर उसके समर्थनमें उन्होंने कितनेक शास्त्रके श्लोक कह सुनाये।

राजाने पूछा—'आप लोगोंके ठहरनेके स्थानका क्या प्रबन्ध हुआ है?' तो जिनेश्वरने उत्तरमें कहा—'यहां विपक्षियोंके ऐसे प्राबल्यमें हमें कहां ठहरनेकी स्वतंत्र जगह मिल सकती है। हम तो वहीं पुरोहितजीके आश्रयमें ठहरे हुए हैं।' सुन कर राजाने आज्ञा दी कि करडीहट्टीमें जो नावारिसका एक बडा मकान पडा है वह इन मुनियोंको ठहरनेके लिये दे दिया जाय। राजाने फिर पूछा—'आप लोगोंके भोजनकी क्या व्यवस्था है?' तो इसके उत्तरमें भी जिनेश्वरने वैसी ही दुर्लभता बताई। फिर राजाने पूछा—'आप सब कितने साधु हैं?' जिनेश्वर—'अठारह।' राजा—'अहो एक हाथीके पिंडसे सब तृप्त हो जायेंगे।' जिनेश्वरने कहा—'महाराज! हम मुनियोंको राजघरानेका अन्न लेना निषिद्ध है।' राजा—'अच्छी बात है, मेरे आदमियोंके द्वारा आपको भिक्षा सुलभ हो जायगी।'

इस प्रकार शास्त्रविचारमें जिनेश्वर सूरिके पक्षका समर्थन होनेसे राजाने उनको सत्कृत किया और फिर वे राजसम्मानके साथ उस राजप्रदत्त वसति (उपाश्रय) में जा कर स्थिर भावसे रहने लगे; और इस प्रकार, पहले पहल, गुजरातमें 'वसतिवास'की स्थापना हुई।

इस प्रकार, जिनेश्वर सूरिको पाटनमेंसे बहार नीकाल देनेके लिये जो दो प्रयत्न किये गये वे दोनों निष्फल हो गये। तब उन चैत्यवासियोंने एक और उपाय सोचा। वे जानते थे कि राजा राणीका बडा वशवर्ती है—वह जो कुछ कहती है सो वह करता है। अतः उन्होंने राणीको प्रसन्न करनेके लिये एक

तजवीज सोची। सब जितने बडे बडे राजाके अधिकारी थे वे, अपने अपने गुरुकी ओरसे आम, केले, द्राक्षा आदि फलोंसे भरे हुए थालोंमें कुछ मूल्यवान् गहने और वस्त्रादि रख कर उन्हें भेंटके रूपमें सजा कर राणीके पास ले गये। जैसे देवताके आगे पूजाका सामान रखा जाता है वैसे उस राणीके आगे जा कर उन्होंने वह सब रख दिया और अपना मनोगत भाव प्रकट किया। राणी इससे तुष्ट हो कर उनके हितमें कुछ करनेकी इच्छा प्रकट कर ही रही थी कि इतने ही में राजाका एक विश्वस्त कर्मचारी, जो दिल्लीकी तरफका रहने वाला था और जो जिनेश्वर सूरिका भक्तजन था, राजाका कोई विशिष्ट सन्देश ले कर वहां आ पहुंचा और उसने राणीको राजाका वह सन्देश दिया। राणीके सामने उक्त प्रकारसे भेंटके भरे हुए थालादि देख कर तथा उन अधिकारी जनोंको वहां उस प्रकार बैठे हुए जान कर, उसने समझ लिया कि जरूर यह कोई, हमारे देशसे आये हुए महात्माओंको नीकालनेका जाल रचा जा रहा है। मुझे भी इसमें कुछ प्रयत्न करना चाहिये और अपने देशके महात्माओंका पक्षपोषक बनना चाहिये। उसने जा कर राजासे निवेदन किया कि 'महाराजका सन्देश राणीको पहुंचा आया हूं'; और फिर साथमें वह बोला कि 'महाराज! मैंने आज महाराणीके यहां बडा भारी कौतुक देखा।' राजा–'सो कैसा?' पुरुष–'महाराणी आज अर्हतकी मूर्ति बन गई है। जैसे अर्हतकी मूर्तिके आगे पूजानिमित्त फल, आभूषण और वस्त्रोंसे भरे हुए थाल रखे जाते हैं वैसे ही आज राणीके आगे किया गया है'–इत्यादि। राजाने तुरन्त समझ लिया कि जिन न्यायवादी महात्माओंको मैंने गुरुरूपसे सत्कृत किया है, ये लोग अब भी उनका पीछा नहीं छोड रहे हैं। इससे राजाने उसी पुरुषको कहा कि 'तुम शीघ्र जा कर राणीको कह आओ कि महाराजने कहलाया है कि जो भी चीजें तुम्हारे सामने ला कर रखी गई हैं उनमेंसे यदि एक सुपारीमात्र भी तुमने ली है तो महाराज बहुत कुपित होंगे और उसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।' राणी यह सुन कर डर गई और उसने एकदमसे कह दिया कि जो जो आदमी ये चीजें लाये हैं वे सब अपने घरपर वापस ले जायँ। मुझे इनसे कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार यह उपाय भी उनका निष्फल हुआ।

इसके बाद, फिर उन्होंने एक चौथा उपाय सोचा। वह था देवमन्दिरोंकी पूजाविधि न करनेरूप 'सत्याग्रह' का। उन चैत्यवासियोंने यह निर्णय किया कि यदि राजा इन देशान्तरीय साधुओंका बहुमान करता रहेगा तो हम सब इन देवमन्दिरोंको शून्य छोड कर देशान्तरोंमें चले जायेंगे। किसीने जा कर राजाको यह बात निवेदन की तो उसने कह दिया कि 'यदि उनको यहां रहना अच्छा न लगता हो तो खुशीसे चले जायें।' राजाने उन देवमन्दिरोंकी पूजाके लिये दूसरे बटुक नियुक्त कर दिये और आज्ञा कर दी कि ये लोग सब देवताओंकी पूजा करते रहेंगे। पर देवमन्दिरके विना उन चैत्यवासियोंका बहार रहना शक्य नहीं था। इससे कोई किसी बहाने और कोई किसी बहाने, वे सब फिर अपने अपने मन्दिरोंमें आ कर जम गये।

वर्द्धमानसूरि इस प्रकार राजसम्मान प्राप्त कर फिर अपने शिष्यपरिवारके साथ देशमें सर्वत्र घूमने लगे। कोई कुछ उन्हें कह नहीं सकता था। बादमें उन्होंने अच्छे मुहूर्त में अपने पट्टपर जिनेश्वर सूरिकी स्थापना की। उनके दूसरे भ्राता बुद्धिसागरको भी आचार्य पदसे अलंकृत किया। उनकी बहिन जो कल्याणमति नामक थी, और वह भी साध्वी बनी हुई थी, उसको 'महत्तरा' का पद दिया गया।

जिनेश्वर सूरि फिर अनेक स्थानोंमें विहार करते रहे और लोगोंको अपने आदर्शका उपदेश देते रहे।

उन्होंने जिनचन्द्र, अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव, सहदेव, सुमति आदि अनेक
दीक्षित किये ।

वर्द्धमान सूरि अपना आयुष्य काल समाप्त कर, आबूपर्वतके शिखर पर समाधिपूर्वक देवत्
प्राप्त हुए ।

पीछेसे, जिनेश्वर सूरिने जिनचंद्र और अभयदेवको, विशिष्ट गुणवान् जान कर, सूरिपद समर्पित कि
वे दोनों 'युगप्रधान' बने । दूसरे और दो शिष्योंको—धनेश्वरको (जिनभद्र का नाम दे कर)
हरिभद्रको आचार्य पद दिया । धर्मदेव, सुमति और विमल इन तीन शिष्योंको उपाध्याय पद दिया।

धर्मदेव उपाध्याय और सहदेव गणी ये दोनों सहोदर भाई थे । धर्मदेवोपाध्यायने हरिसिंह
सर्वदेव गणी इन दोनों भाईयोंको तथा पण्डित सोमचन्द्रको अपना दीक्षित शिष्य बनाया ।

सहदेव गणीने अशोकचन्द्रको दीक्षा दे कर अपना शिष्य बनाया जो अपने गुरुका अतीव
शिष्य बना । इनको जिनचन्द्र सूरिने विशेष प्रेमके साथ पढाया था और फिर आचार्य पदपर स्था
किया था । फिर इन अशोकचन्द्रने अपने पदपर हरिसिंहाचार्यकी स्थापना की । तथा अन्य और
विद्वानोंको—प्रसन्नचन्द्र और देवभद्रको—आचार्य पद दिया । इनमें देवभद्र सुमति उपाध्यायके शिष्य
प्रसन्नचन्द्र, वर्द्धमान, हरिभद्र और देवचन्द्र इन ४ विद्वानोंको अभयदेव सूरिने तर्कादि शास्त्रोंका अध्य
कराया था ।

जिनेश्वर सूरि एक दफह आशापल्ली (आधुनिक अहमदाबादकी जगह प्राचीन नगर)में चातुर्मा
आ कर रहे । उनकी व्याख्यानसभामें वहां अनेक विचक्षण श्रोता जमते थे । उनको सुनानेके लि
उन्होंने अनेक प्रकारके अर्थों और वर्णनोंसे भरी हुई 'लीलावती' नामक बडी मनोरम कथाकी स्वतं
रचना की ।

इसी तरह, डिण्डियाणा (मारवाड) नामक नगरमें चातुर्मास किया तब व्याख्यानके लि
'कथानक' कोश नामक (प्रस्तुत) ग्रन्थकी रचना की । इसकी रचनाका मुख्य कारण यह हुआ कि
वहां पर जब वे चातुर्मासके लिये आये तो उन्होंने वहांके देवमन्दिर-निवासी आचार्यसे व्याख्यान
बाचनेके लिये किसी पुस्तककी याचना की, तो उसने वैसा करनेसे इन्कार कर दिया । तब जिनेश्व
सूरि स्वयं, रोज दिनके पिछले दो प्रहरोंमें इस कथानक ग्रन्थकी रचना करते रहते थे और प्रातःकालमें
इसका व्याख्यान करते थे । इस प्रकार वहां चातुर्मासमें इस ग्रन्थकी रचना की गई ।

वहीं पर मरुदेव गणिनी नामक साध्वीने अनशन किया जो ४० दिनमें समाप्त हुआ और वह
समाधिमरणपूर्वक स्वर्गको सिधारी । जिनेश्वर सूरिने उस साध्वीको 'समाधि' दिलाई थी और मृत्युके
समय उससे कहा कि 'जहां जा कर तुम जन्म लो उस स्थानका हमको निवेदन करना ।' उसने स्वीकार
किया कि—'मैं ऐसा करूंगी ।'

इसके कुछ दिनों बाद, एक श्रावक, जिसके मनमें यह जाननेकी उत्कट इच्छा हुई कि इस वर्तमान
समयमें युगप्रधानाचार्य कोई है या नहीं और है तो वह कौन? इसके लिये उज्जयन्त अर्थात् गिरनार
तीर्थ पर जा कर उसने तीन उपवास किये और वहांके अधिष्ठायक देव ब्रह्मशान्तिकी आराधना की ।
ब्रह्मशान्ति यक्ष उसी समय तीर्थंकरोंकी वन्दना निमित्त महाविदेह क्षेत्रमें गया हुआ था । वहां पर उसे
उस मरुदेविके नूतन जन्मस्वरूप देवसे भेंट हुई जिसने अपना सन्देशा जिनेश्वर सूरिके पास पहुंचानेके

लिये तीन गाथाएँ दीं। इन गाथाओंका अर्थ यह है कि 'मरुदेवि नामक गणिनी आर्या, जो आपके गच्छमें थी, वह मर कर प्रथम स्वर्गके टक्कल नामक विमानमें, दो सागरोपम आयुष्यवाले एक महर्द्धिक देवके अवताररूपमें उत्पन्न हुई है। श्रमणपति जिनेश्वर सूरिको यह सन्देश पहुँचा देना और कहना कि अपने चारित्रके पालनमें उद्यत रहना, और विशेष कुछ नहीं।'

ब्रह्मशान्तिने आ कर उस श्रावकको उठाया और उसके कपडेके अंचल पर **'म स ट स ट च'** ऐसे ६ अक्षर (जो उक्त ३ गाथाओंके प्रत्येक अर्द्धखण्डके आदि अक्षर थे) लिख दिये। यक्षने कहा—'पाटनमें जा कर आचार्योंको यह अंचल बताना। जो इनका अर्थोद्घाटन कर सकेगा वही युगप्रधानाचार्य है ऐसा समझना।' फिर वह श्रावक पाटन गया। वहांकी सब वसतियोंके आचार्योंको जा कर उसने वह वस्त्रांचल दिखाया पर किसीने उसका रहस्य न समझा। फिर जब जिनेश्वर सूरिके पास गया तो उन्होंने चिन्तन करके उस वस्त्रका प्रक्षालन किया तब उस पर उक्त ३ गाथाएँ लिखी हुईं दृष्टिगोचर हुईं। श्रावकका निश्चय हो गया कि ये ही आजके 'यु ग प्र धा ना चा र्य' हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीरके उपदिष्ट धर्ममार्गकी प्रभावना करके जिनेश्वर सूरि देवगतिको प्राप्त हुए।

उनके पश्चात् उनके पट्टधर जिनचन्द्र सूरि बने, जिनको १८ नाममालाएँ (शब्दकोश), मय सूत्रार्थके मनमें रम रही थीं। वे सर्व शास्त्रोंके जानकार थे। उन्होंने १८००० श्लोक प्रमाण 'संवेगरंगशाला' नामक महान् ग्रंथ भव्य जनोंके हितके लिये बनाया। जाबालिपुर (आधुनिक जालोर, मारवाड)में जब वे थे तब वहांके श्रावकोंके आगे 'चीवंदणमावस्सय' इस गाथासूत्रकी व्याख्या करते हुए जो सिद्धान्त संवाद उन्होंने बतलाये वे उनके शिष्यने लिख लिये थे। उस परसे तीन सौ श्लोकवाले एक 'दिनचर्या' ग्रन्थकी रचना की गई जो श्रावकोंके लिये बडा उपकारी सिद्ध हुआ। इस प्रकार वे भी महावीरके धर्मका यथार्थ प्रकाश कर स्वर्गको प्राप्त हुए।

इस तरह यह जिनपालोपाध्यायरचित जिनेश्वर सूरिके चरितका यथाक्षर सार है। सुमति गणिका चरित भी इसी प्रकारका—प्रायः अक्षरशः इससे मिलता हुआ है।

## सोमतिलक सूरिवर्णित जिनेश्वर सूरिके चरितका सार।

अब यहां पर संक्षेपमें, सोमतिलक सूरिने जिस प्रकार इनका चरित-वर्णन, उक्त धनपाल-कथामें किया है उसका भी थोडासा सार, पाठकोंको कुछ कल्पना आ जाय इस दृष्टिसे, दे दिया जाता है।

इस कथाके अनुसार, जिनेश्वर सूरिकी पूर्वावस्थाका वर्णन इस प्रकार है—मध्यदेशकी वाणारसी (बनारस) नगरीमें गौतम गोत्रवाला एक कृष्णगुप्त नामका ब्राह्मण था जिसके श्रीधर और श्रीपति नामके दो पुत्र हुए। वे दोनों भाई १८ विद्यास्थानके पारगामी थे, ब्राह्मण्य कर्ममें निपुण थे और परस्पर अत्यंत प्रेम रखने वाले थे। वे हमेशां गंगा नदीमें स्नान करके विश्वेश्वर महादेवकी पूजा-अर्चा किया करते थे।

फिर किसी समय उनके मनमें सोमेश्वर महादेवकी यात्रा करनेकी इच्छा हुई इस लिये वे वहांसे चल दिये। महादेवकी भक्तिके निमित्त अपने कंधोंपर खड्डे करके, उनमें दीपक रख कर, उनको जलाते हुए वे चलने लगे। इस तरह बहुतसा मार्ग काटते हुए वे गुजरातके बढवाण नगरमें पहुंचे।

वहां पर जैनाचार्य वर्द्धमान सूरि ठहरे हुए थे। रातको जब वे दोनों भाई किसी जगह हुए थे तब उनकी इस प्रकारकी देहकष्टदायक भक्तिके वश हो कर, सोमेश्वर देव प्रत्यक्ष हुए औ

कहा कि 'वत्स ! तुम इस प्रकारका कष्ट उठा कर क्यों चल रहे हो ?' । उन्होंने कहा 'देव ! हमको इस संसारमें किसी प्रकारके ऐहिक सुखकी अभिलाषा नहीं है । हमें तो शिव-वासकी उत्कंठा है इसलिये वह जैसे प्राप्त हो उसका उपाय बताओ ।' तब सोमेश्वरने कहा 'इस नगरमें एक जैन महर्षि रहते हैं उनके चरणोंका आश्रय लो, जिससे तुमको अपने कल्याणके मार्गका दर्शन होगा ।' ऐसा कह कर शिवजी अन्तर्धान हो गये । दूसरे दिन सवेरे ये दोनों भाई वढवाणकी पौषधशालामें गये जहां वर्द्धमान सूरि धर्मोपदेश कर रहे थे ।

उनकी प्रशान्त मूर्ति देख कर वे दोनों भाई, अपने कंधोंपर जलती हुई दीपिकाओंको निकाल कर उनके चरणोंमें गिरे और बोले कि 'सूरिवर ! हमें अपने धर्मकी दीक्षा दे कर मुक्तिका मार्ग बतलाईये ।' तब सूरिने कहा 'वत्स ! पहले तुम जैन मतके तत्त्वोंका अभ्यास करो, उनका हृदयमें विमर्श करो और फिर यदि तुम्हें वे रुचिकर लगें तो उनका अंगीकार करो ।'

उन्होंने उनके उपदेशानुसार जैन धर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंका अध्ययन करना शुरू किया । थोडे ही समयमें वे इनमें अच्छी तरह प्रविष्ट हो गये और उनकी श्रद्धा इनपर दृढ जम गई । तब उनको सूरिने दीक्षा दी और बडे भाईका नाम जिनेश्वर और छोटेका बुद्धिसागर ऐसा रखा ।

कुछ ही समयमें वे दोनों बन्धु-मुनि जैन दर्शनके बडे समर्थ पण्डित बन गये और उनका प्रभाव सर्वत्र फैलने लगा । तब फिर वर्द्धमान सूरिने उनको आदेश किया कि 'अणहिलपुर पाटनमें चैत्यवासी यतिजनोंका बहुत ही प्राबल्य हो गया है, वे सुविहित साधु–मुनियोंका वहां पर प्रवेश तक नहीं होने देते हैं, इसलिये तुम अपनी शक्ति और बुद्धिका प्रभाव दिखा कर वहां पर साधुओंके प्रवेश और निवासका मार्ग खुल्ला करो ।'

गुरुकी ऐसी आज्ञाके अनुसार वे फिर अणहिलपुर गये और वहांपर सोमेश्वर पुरोहितकी सहायतासे दुर्लभराजकी सभामें उन चैत्यवासियोंसे शास्त्रार्थ कर उनका पराजय किया और वहां पर वसतिवासकी स्थापना की ।

वहांसे फिर वे परिभ्रमण करते हुए मालव देशकी उज्जयिनी नगरीमें गये । वहांपर राजमान्य ऐसा सोमचन्द्र नामक ब्राह्मण था जिसके साथ उनकी अच्छी प्रीति हो गई । एक दिन उस ब्राह्मणने उनसे पूछा कि 'आप लोग तो 'चूडामणि'नामक ज्योतिष शास्त्रके बडे ज्ञाता हैं । क्या मेरे मनके एक प्रश्नका उत्तर देंगे ?' जिनेश्वरने कहा 'बताओ तुम्हारा क्या प्रश्न है ?' तब ब्राह्मणने कहा 'मेरे पूर्वजोंका कुछ महानिधि जमीनमें कहीं गडा हुआ पडा है पर उसका स्थान मैं नहीं जानता । सो आपके ज्ञानसे उसका कुछ पता लगे तो मुझ पर बडा अनुग्रह होगा । यदि वह मिल गया तो उसका आधा हिस्सा मैं आपको अर्पण कर दूंगा ।' जिनेश्वर सूरिने मनमें कुछ भावि सोच कर उसके कथनका स्वीकार किया और फिर अपने ज्ञानसे उसे उस स्थानको दिखाया । वहांपर खोदने पर वह महानिधि निकल आया । सोमचन्द्रने कहा– 'मुनिवर ! इसका आधा हिस्सा आपका है सो आप उसे लें लीजिये ।' सूरिने इसके उत्तरमें कहा 'विप्र ! हमें इस अनर्थकारी अर्थकी अपेक्षा नहीं है । हम तो जो अपना निजका था उसे भी छोड कर चले आये हैं ।' यह सुन कर वह ब्राह्मण चिन्तितसा हो गया । उसके मनमें आया कि यदि ये इसमेंसे कुछ नहीं लेते हैं तो फिर मेरा वचन तो मिथ्या हो जायगा । उसके मनकी इस समस्याको लक्ष्य कर सूरिने कहा 'विप्र ! हमने जो तुम्हारी संपत्तिमेंसे आधा हिस्सा लेनेका मनोभाव प्रकट किया है उसका असली आशय यह है,

कि तुम्हारे जो दो पुत्र हैं उनमेंसे एककी भिक्षा हमें दे दो। हमें सूचित हो रहा है कि ये तुम्हारे पुत्र बडे भाग्यशाली होंगे। यदि इनमेंसे एक हमारा शिष्य होगा तो वह सद्धर्मका बडा प्रभावक बनेगा और हजारोंका कल्याण करनेवाला होगा।'

सूरिका यह कथन सुन कर ब्राह्मण विचारमें पड गया। उसको यह बात बिल्कुल रुचिकर नहीं लगी। अपने पुत्रोंसे यह बात कहनेकी उसकी इच्छा नहीं हुई। उसने वह सारा निधि अपने पुत्रोंको सोंप दिया लेकिन उसके मनमें अपने वचनका खयाल रह रह कर कठने लगा। कुछ दिन बाद वह बीमार पडा और आखिर दशामें आ पहुंचा। मरते समय उसने अपने मनका वह शल्य पुत्रोंके आगे प्रकट कर दिया और कहा कि इसमें तुमको जैसा उचित लगे वैसा करना। उसके इन दो पुत्रोंमेंसे बडेका नाम था धनपाल और छोटेका शोभन। पिताका मृत्युकृत्य करलेने बाद, छोटे शोभनने पिताकी प्रतिज्ञाका पालन करना निश्चय किया और जिनेश्वर सूरिके पास जा कर उनका शिष्य बननेका और उस तरह अपने पिताके उक्त वचनका ऋण चुकानेका भाव प्रकट किया।

सूरिने उससे कहा 'भाई! हमारा धर्म हठका नहीं है। इस प्रकार अनिच्छासे किया हुआ धर्मकर्म फलदायक नहीं होता। अपने मनकी उत्कट भावनासे प्रेरित हो कर जो कर्म किया जाता है वह सफल होता है। इसलिये तुम्हारे मनमें यदि हमारी दीक्षा लेनेकी इच्छा है तो पहले तुम जैन तत्त्वोंको पढ़ो सुनो, उनका रहस्यार्थ समझो और फिर यदि तुम्हारी उन पर श्रद्धा बैठे तो दीक्षा ग्रहण करो; अन्यथा अपने घर जाओ। आचार्यके ऐसे हितकर वचन सुन कर शोभनका मन अधिक शान्त हुआ और वह उनके पास रह कर जैन शास्त्रोंका मनन करने लगा। जब उसका मन अच्छी तरह दृढ हो गया तब उसको आचार्यने दीक्षा दी। शोभन मुनिके नामसे आगे जा कर वह बडे विद्वान् और संयमी महापुरुषके रूपमें प्रख्यात हुआ।

उसका छोटा भाई धनपाल, जो बडा भारी महाकवि था, भोजराजाकी सभाका प्रधान पण्डित बना। अपने पिताके पास इस प्रकार छलसे आधी संपत्तिका हिस्सा मांगने और फिर उसके निमित्त अपनेमेंसे एक भाईको ही अपना शिष्य बना लेनेके कारण, धनपालको जैन साधुओं पर बडा क्रोध उत्पन्न हो गया। उसने भोजराजाको कह कर धारा नगरीमें जैन साधुओंका आना-जाना ही बन्ध करा दिया।

इस प्रकार कितनेक वर्ष बीत जाने पर, जब शोभन मुनि एक अच्छे विद्वान् साधुपुरुषकी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके तब उनको साथ ले कर जिनेश्वर सूरि धारा नगरीमें पहुंचे।

गुरुकी आज्ञासे शोभन मुनि अपने भाईके घर पर गये और उससे मिले। धनपाल अपने भाईको इस प्रकार बहुत वर्षोंबाद देख कर स्नेह-पुलकित हुआ।

भाईके स्नेहके कारण वह फिर जिनेश्वर सूरिके पास भी आने-जाने लगा। धीरे धीरे सूरिने उसको जैन धर्मके उदात्त तत्त्वोंका परिज्ञान कराया और इस प्रकार उसे अपने धर्मका अभिमुख बनाया। फिर तो धनपाल भी जैनधर्मके अहिंसा-सिद्धान्तका दृढ उपासक बन कर उन्हीं जिनेश्वर सूरिका परम भक्त बन गया।

बस यहीं तक इस कथामें जिनेश्वर सूरिका वर्णन है। इसके आगे फिर धनपालकी वह सारी कथा है जो प्रभावकचरित्र, प्रबन्धचिन्तामणि आदिमें मिलती है। इस कथाका यहां पर वर्णन करना आवश्यक नहीं।

## वृद्धाचार्य प्रबन्धावलिगत जिनेश्वर सूरिके चरितका सार।

ऊपर हमने, इनके चरितका साधनभूत ऐसे एक प्राकृत 'वृद्धाचार्यप्रबन्धावलि' नामक ग्रन्थका भी निर्देश किया है। इसमें बहुत ही संक्षेपमें जिनेश्वर सूरिका प्रबन्ध दिया गया है जो कि असंबद्धप्रायः है। तथापि पाठकोंकी जिज्ञासाके निमित्त इसका सार भी हम यहां पर दे देते हैं।

इस कृतिमें, पहले वर्द्धमान सूरिका प्रबन्ध दिया है और फिर उसके बाद जिनेश्वरका प्रबन्ध है। इसमें कहा गया है कि – किसी समय वर्द्धमान सूरि परिभ्रमण करते हुए सिद्धपुर नगरमें पहुंचे जहां सदानीरा सरस्वती नदी बहती है। उस नदीमें बहुतसे ब्राह्मण रोज स्नान किया करते हैं। उनमें एक पुष्करणागोत्रीय जगा नामक ब्राह्मण, जो सब विद्याओंका पारगामी था, एक दिन नदीसे स्नान करके आ रहा था तब बहिर्भूमिके लिये जाते हुए वर्द्धमान सूरिसे उसकी भेंट हो गई। सूरिको देख कर उसने उनकी निन्दा की। बोला 'ये श्वेतांबर शूद्र हैं, वेद बाह्य हो कर अपवित्र हैं।' सुन कर सूरिने उत्तर दिया कि 'हे ब्राह्मण! केवल बाह्य स्नानसे थोडी ही शुद्धि हो जाती है। देख तेरा ही शरीर शुद्ध नहीं है। तेरे शिर पर तो मृतक कलेवर पडा हुआ है।' सुन कर ब्राह्मण क्रुद्ध हुआ और बोला 'क्यों ऐसा मिथ्या वचन बोल रहे हो? यदि मेरे मस्तकमें मृतक बता दोगे तो मैं तुम्हारा शिष्य बन जाऊंगा; नहीं तो फिर तुमको मेरा शिष्य बनना पडेगा।' सूरिने कहा 'ठीक है, तुम अपने शिर परका कपडा उतारो।' सूरिका कथन सुनते ही उसने कुपितभावसे अपने मस्तक परका कपडा एकदम जोरसे खींच कर उनके सामने झटकारा, तो उसमेंसे एक मरी हुई मछली निकल कर नीचे गिर पडी। यह देख कर वह विलक्षितसा हो गया। अपना पण हार गया और वचनपालनके निमित्त सूरिका शिष्य बन गया।

बादमें वह गुरुके पास बडी श्रद्धासे सब प्रकारकी शिक्षा ग्रहण कर, सिद्धान्तोंका पारगामी विद्वान् बना। गुरुने योग्य समझ कर 'जिनेश्वर सूरि' इस नामसे उनको अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया। पीछे वर्द्धमान सूरि तो अनशन कर स्वर्गको प्राप्त हो गये और जिनेश्वर सूरि गच्छनायक हो कर सर्वत्र विचरने लगे। फिरते फिरते वे अणहिलपुरमें पहुंचे। वहां पर ८४ गच्छोंके भट्टारक (आचार्य) चैत्यवासी हो कर मठपति बने हुए थे और मात्र द्रव्यलिंगीके भेषमें दिखाई देते थे। जिनेश्वर सूरिने उनके विपक्षमें दुर्लभराजकी सभामें, १०२४ (?) की सालमें, वाद-विवाद किया, जिसमें वे सब मत्सरी आचार्य अपना पक्ष हार गये। राजाने तुष्ट हो कर उनको 'खरतर' ऐसा बिरुद दिया। इसके बाद उनका गच्छ 'खरतर'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

जिनेश्वर सूरिकी पूर्वावस्थाका जो यह वर्णन इस प्रबन्धावलिमें किया गया है, इससे मिलता जुलता वर्णन, खरतर गच्छकी पिछली कुछ अन्यान्य पट्टावलियोंमें भी किया हुआ मिलता है। उदाहरणके तौर पर, खरतर गच्छकी जो पट्टावलि क्षमाकल्याणक गणिकी बनाई हुई है उसमें लिखा है कि – वर्द्धमान सूरि परिभ्रमण करते हुए जब सरसानामक पत्तनमें पहुंचे तो वहां पर सोमनामक ब्राह्मणके शिवेश्वर और बुद्धिसागर नामक ये दो पुत्र तथा कल्याणमती नामकी पुत्री – ये तीनों भाई-बहिन भी सोमेश्वरकी यात्राको जाते हुए उस समय उसी गांवमें आ पहुंचे। वहां पर सरस्वती नदीके किनारे, किसी स्थानमें, रातको जब वे सोये हुए थे तब शिवने प्रत्यक्ष हो कर उनसे कहा कि 'तुम्हारी इच्छा आत्मकल्याण करनेकी है तो यहां पर वर्द्धमान सूरि नामक जैन आचार्य आये हुए हैं उनके पास जाओ। उनकी चरणसेवासे तुमको वैकुण्ठकी प्राप्ति होगी।' फिर दूसरे दिन प्रातःकाल वे तीनों जन नदीमें स्नान करके वर्द्धमान सूरिके पास गये और उनसे उन्होंने वैकुण्ठका मार्ग दिखानेकी विज्ञप्ति की। सूरिने उनको अहिंसामय

जैन धर्मके सिद्धान्त समझाये और उनमेंसे एक भाईकी मस्तककी शिखामें मरी हुई मछली लटक रही थी उसे दिखा कर, केवल ऐसे बाह्य स्नानाचारकी शुद्धिका मिथ्यात्व बतलाया। सूरिके इस उपदेशसे प्रतिबुद्ध हो कर उन्होंने उनके पास फिर जैनयतित्वकी दीक्षा ग्रहण की। इत्यादि।

इसके आगेका वर्णन फिर उक्त अन्यान्य प्रबन्धोंके जैसा ही दिया गया है और उसमें यह दिखलाया गया है कि किस तरह उन्होंने अणहिलपुरमें चैत्यवासियोंके साथ वाद-विवाद कर अपना पक्ष स्थापित किया। इत्यादि।

## कथाओंके सारांशका तारण।

**इस** प्रकार ऊपर हमने जिनेश्वर सूरिके चरितका वर्णन करने वाले जिन प्रबन्धों – निबन्धोंका सार उद्धृत किया है, उससे उनके चरितके दो भाग दिखाई पडते हैं – एक उनकी पूर्वावस्थाका और दूसरा दीक्षित होनेके बादका। पूर्वावस्थाके चरितके सूचक प्रभावकचरित आदि जिन भिन्न भिन्न ३ आधारोंका हमने सार दिया है उससे ज्ञात होता है कि वे परस्पर विरोधी हो कर असंबद्धसे प्रतीत होते हैं। इनमें सोमतिलक-सूरिकथित धनपालकथावाला जो उल्लेख है वह तो सर्वथा कल्पित ही समझना चाहिये। क्यों कि धनपालने स्वयं अपनी प्रसिद्ध कथा-कृति 'तिलकमञ्जरी'में अपने गुरुका नाम महेन्द्रसूरि सूचित किया है और प्रभावकचरितमें भी उसका यथेष्ट प्रमाणभूत वर्णन मिलता है। इसलिये धनपाल और शोभन मुनिका जिनेश्वर सूरिको मिलना और उनके पास दीक्षित होना आदि सब कल्पित हैं। मालूम देता है सोमतिलक सूरिने धनपालकी कथा और जिनेश्वर सूरिकी कथा, जो दोनों भिन्न भिन्न है, उनको एकमें मिलाकर इन दोनों कथाओंका परस्पर संबन्ध जोड दिया है जो सर्वथा अनैतिहासिक है।

वृद्धाचार्य प्रबन्धावलिमें, जिनेश्वरसूरिकी सिद्धपुरमें सरस्वतीके किनारे वर्धमान सूरिसे भेंट हो जानेकी, जो कथा दी गई है वह भी वैसी ही काल्पनिक समझनी चाहिये।

प्रभावकचरितकी कथाका मूलाधार क्या होगा सो ज्ञात नहीं होता। इसमें जिस ढंगसे कथाका वर्णन दिया है उससे उसका असंबद्ध होना तो नहीं प्रतीत होता। दूसरी बात यह है कि प्रभावक-चरितकार बहुत कुछ आधारभूत बातों-ही-का प्रायः वर्णन करते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थमें यह स्पष्ट ही निर्देश कर दिया है कि इस ग्रन्थमें जो कुछ उन्होंने कथन किया है उसका आधार या तो पूर्व लिखित प्रबन्धादि है या वैसी पुरानी बातोंका ज्ञान रखने वाले विश्वस्त वृद्धजन हैं। इसमेंसे जिनेश्वरकी कथाके लिये उनको क्या आधार मिला था इसके जाननेका कोई उपाय नहीं है। संभव है वृद्धपरंपरा ही इसका आधार हो। क्यों कि यदि कोई लिखित प्रबन्धादि आधारभूत होता तो उसका सूचन हमें उक्त सुमतिगणि या जिनपालोपाध्यायके प्रबन्धोंमें अवश्य मिलता। इन दोनोंने अपने निबन्धोंमें इस विषयका कुछ भी सूचन नहीं किया है इससे ज्ञात होता है कि जिनेश्वरकी पूर्वावस्थाके विषयमें कुछ विश्वस्त एवं आधारभूत वार्ता उनको नहीं मिली थी। ऐसा न होता तो वे अपने निबन्धोंमें इसका सूचन किये विना कैसे चुप रह सकते थे। क्यों कि उनको तो इसके उल्लेख करनेका सबसे अधिक आवश्यक और उपयुक्त प्रसंग प्राप्त था और इसके उल्लेख विना उनका चरितवर्णन अपूर्ण ही दिखाई देता है।

ऐसी स्थितिमें प्रभावकचरितके कथनको कुछ संभवनीय मानना हो तो माना जा सकता है।

इन सब प्रबन्धोंके आधारसे इतनी बात तो निश्चित होती है कि जिनेश्वर और बुद्धिसागर ये दोनों सहोदर भाई थे और पूर्वावस्थामें जातिसे ब्राह्मण थे। मध्यदेश – शायद बनारस इनका मूल वतन था। ब्राह्मणपुत्र होनेसे और बहुत बुद्धिमान् होनेसे पूर्वावस्थामें इन्होंने संस्कृत वाङ्मयका – व्याकरण, काव्य,

कोष, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि विषयोंका–अच्छा ज्ञान संपादन कर लिया था। मुमुक्षु और भा वृत्तिके होनेके कारण सांसारिक जीवनकी ओर इनमें विशेष आसक्ति नहीं उत्पन्न हुई थी और त यात्रादि द्वारा ये अपना निःस्पृह जीवन व्यतीत करना चाहते थे। ऐसी स्थितिमें उनको जैना वर्द्धमानसूरिका कहीं परिचय हो गया। कुछ विशेष संसर्गमें आनेसे, इन भाईयोंकी उन पर, उनके त्याग, विरक्ति, विद्याव्यासंग और लोकों पर विशिष्ट प्रकारके प्रभावको देख कर, विशेष श्रद्धा उत्पन्न और अन्तमें इन्होंने उनके पास जैन यतित्वकी दीक्षा ग्रहण की।

शायद इनकी एक विदुषी बहिन भी थी जिसने भी इन्हींके अनुकरणमें जैन साध्वीव्रतकी दी ले ली थी।

इनके गुरु वर्द्धमान सूरि, मूल दिल्लीके समीप-प्रदेशके अभोहर नगरमें रहनेवाले चैत्यवासी आचार्य शिष्य थे। ये आचार्य मठपति थे और बहुत बडी संपत्तिके स्वामी थे। वर्द्धमानको, जो प्रकृतिसे वि स्वभावके थे, अपने गुरुकी संपत्ति पर कोई आसक्ति नहीं उत्पन्न हुई और जैन शास्त्रोंका विशे अध्ययन करने पर उनको वह संपत्ति त्याज्य मालूम दी। गुरुके बहुत कुछ समझाने पर भी उन्हों मठपति होना पसन्द नहीं किया और विरक्त हो कर उद्योतनाचार्य नामक एक तपस्वी और निःसंगविहा आचार्यके पास उपसंपदा ले कर उनके अन्तेवासी बन गये।

वर्द्धमान सूरि जैसे विरक्त थे, वैसे विद्वान् भी थे। जैन शास्त्रोंका अध्ययन उनका खूब गहरा था. जैन यतियोंमें चैत्यवासके कारण बढे हुए तत्कालीन शिथिलाचारको देख कर, उनको उद्वेग होता था औ उसके प्रतिकारके लिये वे यथाशक्ति उपदेश देते रहते थे और सर्वत्र निःसंग और निर्मम भावसे विच करते थे। उनके ऐसे त्यागमय जीवनके बढते हुए प्रभावको देख कर, तथा उसके कारण चैत्यवासके विरुद्ध लोगोंके मनमें उत्पन्न होते हुए भावोंको जान कर, कुछ चैत्यवासी आचार्योंने उनका बहिष्का करना और उन्हें कहीं अच्छे स्थानादिमें न ठहरने देने आदिका प्रयत्न करना शुरू किया। लेकिन धी धीरे वर्द्धमान सूरिका प्रभाव अधिक बढता गया और जब जिनेश्वर और बुद्धिसागर जैसे बडे प्रतिभाशाली और पुरुषार्थी शिष्योंका उन्हें सहयोग मिल गया, तब उनके विचारोंके प्रसारको और भी अधिक वेग मिला।

इस पूर्व भूमिकाके साथ वे गुजरातकी राजधानी अणहिलपुरमें पहुंचे थे, जो उस समय जैसा कि हमने पहले सूचित किया है, सारे भारतवर्षमें एक बहुत ही प्रसिद्ध और समृद्धिका केन्द्र होनेके साथ जैन धर्मका भी बडा भारी केन्द्रस्थान था।

## अणहिलपुरके प्रसिद्ध जैन मन्दिर और जैनाचार्य।

अणहिलपुरकी राजसत्ताके मुख्य सूत्रधार उस समय प्रायः जैन ही थे। आबू, चन्द्रावती, आरासण आदि स्थानोंमें अद्भुत शिल्पकलाके निदर्शक ऐसे भव्य जैन मन्दिरोंका निर्माता विमल शाह गुजरातके साम्राज्यका सबसे बडा दंडनायक और राजनीतिकुशल मुत्सद्दी था। उसका बडा भाई वीरदेव राज्यका सबसे बडा प्रधान था। और भी ऐसे अनेक राजमान्य और प्रजानायक सेंकडों ही धनाढ्य जैन वहां बसते थे जिनका प्रभाव, न केवल अणहिलपुर-ही-के राज्यमें, परंतु उसके आस-पासके मालवा, मारवाड, मेवाड, महाराष्ट्र आदिके सीमासमीपस्थ सभी देशोंमें, पडता था। उस अणहिलपुरमें, जैन समाजकी इस प्रकारकी बहुलता और प्रभुता होनेके सबबसे, वहां पर जैन मन्दिरोंकी संख्या भी बहुत बडी थी और जैन यतियोंका समूह भी बडे प्रमाणमें रहा करता था। इन मन्दिरोंमें सबसे बडा मन्दिर पंचासर पार्श्वनाथका था जिसकी स्थापना अणहिलपुरके राजमहलकी स्थापना-ही-के साथ, एक ही मुहूर्तमें

हुई थी । अणहिलपुरके साम्राज्यका मूल स्थापक पुरुष, चावडा वंशीय वनराज नृपति था, जो अपनी बाल्यावस्थामें, पंचासर गांवके जैन मन्दिरमें वसनेवाले, नागेन्द्र गच्छीय आचार्य शीलगुण सूरि एवं उनके शिष्य आचार्य देवचन्द्र सूरिके संरक्षणमें पला था । अणहिलपुरकी स्थापनाके समय उसने अपने उपकारी आचार्यको वहां बुला कर, उनके आशीर्वाद पूर्वक, अपना राज्याभिषेक कराया और उनको अपने गुरुके रूपमें स्थापित किया । उन्होंनें पंचासर गांवसे अपने अभीष्टदेव पार्श्वनाथकी मूर्तिको वहां मंगवाया और वनराजके बनाये हुए उस नवीन जैन मन्दिरमें उसको प्रतिष्ठित किया । आचार्यने उस मन्दिरका नामकरण वनराजके नामस्मरणके साथ **'वनराज-विहार'** ऐसा किया; लेकिन लोकोंमें अधिकतर वह पंचासर पार्श्वनाथके नामसे ही प्रसिद्ध रहा । इस वनराज-विहारका सर्व प्रबन्ध उक्त आचार्य देवचन्द्र-सूरिकी शिष्यसन्ततिके अधिकारमें चलता था जो नागेन्द्रगच्छीय कहलाते थे । जिनेश्वर सूरिके समयमें इस गच्छके प्रधान आचार्य द्रोणाचार्य और उनके शिष्य महाकवि सूराचार्य थें । वनराज-विहारके अतिरिक्त अणहिलपुरमें और भी कई बडे जैन मन्दिर थें जो अन्यान्य राजकीय एवं धनिक जैन श्रावकोंके बनाये हुए थे । इनमें महामात्य संपकका बनाया हुआ एक थारापद्रीय महाचैत्य था जिसके अधिष्ठाता वादिवेताल शान्तिसूरि थे जो अपने समयमें जैन संप्रदायके सबसे बडे वादी एवं तर्कशास्त्र और साहित्यविद्याके पारगामी विद्वान् थे ।

ये द्रोणाचार्य पूर्वावस्थामें जातिके क्षत्रिय थे और गूर्जरेश्वर महाराजाधिराज भीमदेव चालुक्यके मामा थे । शायद, बचपन-ही-में इन्होंने जैन यतित्वकी दीक्षा ले ली थी और अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कर ये बडे समर्थ विद्वान् बने थे । चालुक्य राजकुमार भीमदेवकी संपूर्ण शास्त्रशिक्षा इन्हींके पास हुई थी, इसलिये ये राज्यमें राजगुरुके रूपमें सम्मानित होते थे । सूराचार्य जो इनके शिष्यके रूपमें ख्यात हुए, वास्तवमें इन्हींके भतीजे थे । इनके भ्राता संग्रामसिंहकी अकाल-ही-में मृत्यु हो जानेके कारण, इनकी भोजाईने, अपने इकलोते पुत्रको, जिसका मूल नाम महीपाल था, शिक्षा-दीक्षा देनेके लिये इन्हींको समर्पित कर दिया था । द्रोणाचार्यने इसको सब प्रकारके शास्त्रोंकी शिक्षा दे कर बहुत निपुण बनाया । फिर इसने स्नेहवश हो कर अपने पितृव्य एवं गुरुको छोड कर गृहस्थावासमें जाना पसन्द नहीं किया और यतिदीक्षा ले कर उनका त्यागी शिष्य बन गया । पीछेसे पंचासरके मन्दिरके मुख्य अधिष्ठाता आचार्यके रूपमें ये प्रतिष्ठित हुए तथा महाराजाधिराज भीमदेवकी राजसभाके सबसे अग्रणी विद्वान्के रूपमें इन्होंने सारे देशमें ख्याति प्राप्त की । मालवाके परमार सम्राट् महाराजाधिराज भोजदेवकी राजसभामें जा कर इन्होंने अपने पाण्डित्यका अद्भुत कौशल बताया और वहां पर अपनी विद्वत्ताकी धाक बिठा कर, भोज जैसे महाविद्वान् और महामति नृपतिको भी चकित किया ।

ऐसा ही प्रसिद्ध एक और चैत्य था जिसके अधिष्ठाता गोविन्दसूरि नामक आचार्य थे । ये आचार्य भी बहुत बडे विद्वान् थे और राजसम्मान्य पुरुष थे । भीमदेवके उत्तराधिकारी महाराज कर्णदेवके बालमित्र कहे जाते थे । सूराचार्यने साहित्यिक विद्याका विशेष अध्ययन इन्हींके पास किया था । सिद्धराजके समयमें जिन्होंने वादिसिंह नामक एक विदेशी महाविद्वान्को शास्त्रार्थमें पराजित किया था तथा जो सिद्धराजके विशिष्ट मित्र समझे जाते थे उन वीराचार्यके भी कलागुरु ये ही गोविन्दसूरि थे ।

इन वीराचार्यके गुरुओंका अधिकारमुक्त भी एक ऐसा ही बडी प्रसिद्धिवाला चैत्य था जो भावाचार्य-चैत्य के नामसे ख्यात था । सिद्धराजने मालवविजय करनेके समय जो विजयपताका हस्तगत की थी उसको ला कर इसी भावाचार्य चैत्यके बलानकके शिखर पर उत्तंभित की थी । इस भावाचार्य-

चैत्यके अधिष्ठाता उस समय विजयसिंहाचार्य थे जो वहांके विशिष्ट आचार्योंमेंसे एक ः जाते थे।

इन कतिपय बहुत प्रसिद्ध चैत्यों के अतिरिक्त वहां पर और भी कई छोटे बडे चैत्य थे जिनके आश्र अनेक यतिजन निवास किया करते थे और जो अपने अपने गच्छवासी गृहस्थोंके समूहके धर्मगुरु कर अपने अधिकृत धर्मस्थानोंका — चैत्योंका तथा उपश्रायोंका — अधिकार-भार वहन किया करते थे

ये यतिजन यों तो प्रायः त्यागी ही होते थे। स्त्री और धनके परिग्रहसे प्रायः मुक्त होते ः विद्याध्ययन, धर्मोपदेश और धर्मक्रियाएं करने — करानेमें ये व्यस्त रहते थे। साहित्य, संगीत, शि ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध कलाओं और विद्याओंका इनमें यथेष्ट आदर और प्रचार था। प्रत्ये मन्दिर और उससे संलग्न उपाश्रय सार्वजनिक शिक्षणके विद्यानिकेतन जैसे थे। जैन और जैनेतर दो वर्गोंके उच्च जातीय बालकोंकी शिक्षा प्रायः इन्हीं स्थानोंमें और इन्हीं यतिजनोंके आश्रय नीचे हुआ क थी। प्रत्येक मन्दिर या उसके उपाश्रयमें छोटा बडा ग्रन्थभंडार रहता था, जिसमें जैनधर्मके सांप्रदावि ग्रन्थोंके अतिरिक्त, सर्वसाधारण ऐसे न्याय, व्याकरण, साहित्य, काव्य, कोष, ज्योतिष, वैद्यक आदि स विषयोंके ग्रन्थोंका भी उत्तम संग्रह होता था। अपनी नित्य-नैमित्तिक धर्मक्रियाएँ करते रहते हुए यतिजन, बाकीका सारा समय अध्ययन, अध्यापन, ग्रन्थप्रणयन और पुराने ग्रन्थोंके प्रतिलिपीकरण कार्य नियमित किया करते थे। इनके भोजनका प्रबन्ध या तो भक्त गृहस्थोंके यहांसे गोचरीके रूप हुआ करता था या फिर अपने स्थान-ही-में किसी भृत्यजनद्वारा किया जाता था।

यों इन जैन यतिजनोंका यह आचार और जीवन-व्यवहार, प्रायः मठनिवासी शैव संन्यासियों जैसा बन रहा था; और अनेक अंशोंमें समाजके हितकी दृष्टिसे, बहुत कुछ लाभकारक भी था। परं जैन शास्त्रोंमें जो यतिजनोंका आचारधर्म प्रतिपादित किया गया है और जिसका सूचन संक्षेपमें हमः ऊपर किया है, वह इससे सर्वथा अन्य रूपमें हैं।

वर्द्धमान सूरि तथा जिनेश्वर सूरि, उस शास्त्रोक्त शुद्ध यतिमार्गका आचरण करनेवाले थे। जैन यति वर्गके बडे समूहमें, उक्त प्रकार के चैत्यवासका विस्तार हो कर, उसके आनुषंगिक दोषोंका — चारित्र्य शैथिल्य और आचार-विप्लव आदि प्रवृत्तियोंका — जो विकास हो रहा था उसका अवरोध कर, वे शुद्धाचारका पुनः उद्धार और प्रचार करना चाहते थे। उनकी दृष्टिमें ऊपर बताया गया चैत्यवासी यतिवर्गका आचार-व्यवहार, जैनधर्मका सर्वथा ह्रास करने वाला था अत एव भगवान् महावीरके उपदिष्ट मोक्षमार्गका वह विलोपक था। इस कारणसे चैत्यवासी यतिजनोंको इनका उपदेश और प्रचारकार्य रुचिकर न हो कर अपने हितका विघातक लगना और उसके लिये इनका विरोध और बहिष्कारादि करना, उनके लिये स्वाभाविक ही था और इसीलिये उक्त रीतिसे जब ये अणहिलपुरमें पहुचे तो इन्हें, तत्कालीन जैनसमाजके उस बडे भारी केन्द्रस्थानमें भी, कहीं ठहरने करनेका कोई उचित स्थान नहीं मिल सका।

फिर उसी अणहिलपुरमें इन्होंने अपने चारित्र और शास्त्रबलके प्रभावसे किस तरह अपना विशिष्ट स्थान जमाया इसका वर्णन जो इन प्रबन्धोंमें दिया गया है वह मुख्य स्वरूपमें प्रायः समान है। दुर्लभ-राजके पुरोहित सोमेश्वर देवकी सहायता और मध्यस्थतासे, चैत्यवासियोंके साथ इनका राजसभामें वाद-विवाद होना और उसमें इनके पक्षका न्याय्यीपन स्थापित हो कर, न्यायप्रिय दुर्लभराजने अणहिलपुरमें वसनेके लिये इनको वसति आदि प्रदान करनेका जो वृत्तान्त प्राप्त होता है वह एकसा ही है और प्रायः तथ्यमय है। परन्तु सुमतिगणि और जिनपालोपाध्यायने इस वर्णनको खूब बढा-चढा कर तथा अपने

गुरुओंका बहुत ही गौरवमय भाषामें और चैत्यवासियोंका बहुत ही क्षुद्र एवं ग्राम्य भाषामें, नाटकीय ढंगसे चित्रित किया है – जिसका साहित्यिक दृष्टिसे कुछ महत्त्व नहीं हैं। तब प्रभावकचरितकारने उस वर्णनको बहुत ही संगत, संयत और परिमित रूपमें आलेखित किया है जो बहुत कुछ साहित्यिक मूल्य रखता है। लेकिन प्रभावकचरितकारने इसका कुछ सूचन नहीं किया कि चैत्यवासियोंकी ओरसे उनके पक्षका मुख्य नायक कौन था। तब सुमतिगणि और जिनपालोपाध्यायके प्रबन्धोंमें चैत्यवासीय पक्षनायकके रूपमें स्पष्टतया सूराचार्यका नाम निर्दिष्ट किया गया है। यों तो प्रभावकचरितमें सूराचार्यके चरितका वर्णन करनेवाला एक स्वतंत्र और विस्तृत प्रबन्ध ही ग्रथित है जिसमें उनके चरितकी बहुतसी घटनाओंका बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण वर्णन किया गया है; लेकिन उसमें कहीं भी उनका जिनेश्वरके साथ इस प्रकारके वाद-विवादमें उतरनेका कोई प्रसंग वर्णित नहीं है। परंतु हमको इस विषयमें उक्त प्रबन्धकारोंका कथन विशेष तथ्यभूत लगता है। प्रभावकचरितके वर्णनसे यह तो निश्चित ही ज्ञात होता है कि सूराचार्य उस समय चैत्यवासियोंके एक बहुत प्रसिद्ध और प्रभावशाली अग्रणी थे। ये पंचासर पार्श्वनाथके चैत्यके मुख्य अधिष्ठाता थे। स्वभावसे बडे उदग्र और वाद-विवादप्रिय थे। अतः उनका इस वाद-विवादमें अग्ररूपसे भाग लेना असंभवनीय नहीं परंतु प्रासंगिक ही मालूम देता है। शास्त्राधारकी दृष्टिसे यह तो निश्चित ही है कि जिनेश्वराचार्यका पक्ष सर्वथा सत्यमय था अतः उनके विपक्षका उसमें निरुत्तर होना स्वाभाविक ही था। इसलिये इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजसभामें चैत्यवासी पक्ष निरुत्तरित हो कर जिनेश्वरका पक्ष राजसम्मानित हुआ और इस प्रकार विपक्षके नेताका मानभंग होना अपरिहार्य बना। इसलिये, संभव है कि प्रभावकचरितकारको सूराचार्यके इस मानभंगका, उनके चरितमें कोई उल्लेख करना अच्छा नहीं मालूम दिया हो और उन्होंने इस प्रसंगको उक्त रूपमें न आलेखित कर, अपना मौनभाव ही प्रकट किया हो।

## जिनेश्वर सूरिकी कार्यसफलता।

जिनेश्वर सूरिका इस प्रकार अणहिलपुरमें प्रभाव जमनेसे और राजसम्मान प्राप्त करनेसे फिर इनका प्रभाव और और स्थानोंमें भी अच्छी तरह बढने लगा और सर्वत्र आदर-सम्मान होने लगा। जगह जगह इनके भक्त श्रावकोंकी संख्या बढती रही और उनके वसतिस्वरूप नये धर्मस्थानोंकी स्थापना होती रही। धीरे धीरे चैत्यवासियोंका इनकी तरफ जो उग्र विरोध-भाव था वह भी शान्त होने लगा और इनके अनुकरणमें और भी कई चैत्यवासी यतिजन क्रियोद्धार करनेमें प्रवृत्त होने लगे। इनका प्रचारक्षेत्र अधिकतर गुजरात, मालवा, मेवाड और मारवाड रहा मालूम देता है।

इनके ऐसे प्रभावको देख कर इनके पास अनेक मुमुक्षु जनोंने दीक्षा लेकर इनका शिष्यभाव प्राप्त किया। इनके ये शिष्य भी बहुत सुयोग्य निकले जिससे इनका शिष्य संप्रदाय संख्यामें और गुणवत्तामें दिन-प्रतिदिन बढता ही गया। ये शिष्य-प्रशिष्य जैसे चारित्रशील थे वैसे ज्ञानवान् भी थे। अतः इन्होंने क्रियामार्गके प्रसारके साथ साथ साहित्यसर्जन और शास्त्रोद्धारका कार्य भी खूब उत्साह और उद्यमके साथ चालू रक्खा। इनके इन शिष्योंने कैसे कैसे ग्रन्थ आदि बनाये इसका कितनाक प्रासंगिक परिचय हम ऊपर दे ही चुके हैं। तालिका-रूपसे, इसके परिशिष्टमें, उनकी यथाज्ञात समग्र सूचि देनेका प्रयत्न किया गया है जिससे पाठक इनके शिष्योंकी साहित्योपासनाका दिग्दर्शन प्राप्त कर सकेंगे।

इनके मुख्य मुख्य शिष्य-प्रशिष्योंकी नामावलि जो उक्त दोनों प्रबन्धोंमें दी गई है वह अन्यान्य साधनोंसे भी समर्थित होती है और उसका कितनाक परिचय हम ऊपर यथाप्रसंग दे चुके हैं।

जिनेश्वर सूरिका जन्म कब हुआ, दीक्षा कब ली, आचार्यपद कब मिला और स्वर्गवास कब हु इसकी निश्चित मितियां इनके चरित-प्रबन्धोंमें कहीं नहीं उपलब्ध होतीं । इससे इनका संपूर्ण कितने वर्षोंका था यह जाननेका कोई साधन नहीं है । तथापि दुर्लभराजकी सभामें चैत्यवासविष वाद-विवादके प्रसंगका निश्चित उल्लेख मिलनेसे तथा इनके बनाये हुए कुछ ग्रंथोंमें समयका निर्देश कि हुआ उपलब्ध होनेसे इनके आयुष्य एवं जीवन-कालकी आनुमानिक कल्पना कुछ की जा सकती है

इनके समय-ज्ञापक कार्यका सबसे पहला सूचन दुर्लभराजके समयका है । गुजरातके अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा यह निश्चित रूपसे ज्ञात है कि दुर्लभराजने वि० सं० १०६६ से १० तक ११-१२ वर्ष राज्य किया था । अतः इन्हीं वर्षोंके बीचमें किसी समय इनका पाटण आना वहां पर उस वाद-विवादका होना सिद्ध होता है[1] ।

सं० १०८० में वे जावालिपुरमें थे और वहां पर हरिभद्रसूरिकृत 'अष्टक प्रकरण' पर विस्तृत संस्कृ टीका रच कर उसे समाप्त की । इसी समय और वहीं पर, इनके लघुभ्राता बुद्धिसागर सूरिने भी अप स्वोपज्ञ 'बुद्धिसागर व्याकरण' ग्रन्थ रच कर पूर्ण किया । इससे यह भी मालूम देता है कि ये दो आचार्य, जावालिपुरमें अधिक समय रहा करते होंगे । यह जावालिपुर इनका एक विशिष्ट कार्यक्षे अथवा केन्द्रस्थानसा मालूम देता है । क्यों कि वि० सं० १०९६ में भी इन्होंने, वहीं अपने 'चैत्य वन्दनटीका' नामक एक और ग्रन्थकी रचना की थी ।

संवत् १०९२ में आशापल्ली (आधुनिक अहमदाबादके स्थान परबसा हुआ पुराना स्थान )में र कर इन्होंने अपने 'लीलावती' नामक विशाल कथा-ग्रन्थकी रचना पूर्ण की ।

संवत् ११०८ में प्रस्तुत 'कथानककोष' ग्रन्थका प्रणयन किया । यद्यपि इसमें यह नहीं सूचित किय गया है कि इस ग्रन्थकी रचना किस स्थानमें की गई थी; परंतु उक्त दोनों प्रबन्धोंमें इसके रचना स्थानका उल्लेख किया हुआ मिलता है और वह है मारवाडका डिण्डवानक नामक गांव । संभव है यह ग्रन्थ जिनेश्वर सूरिकी अन्तिम कृति हो ।

इनके बनाये हुए ग्रन्थोंमें मुख्य एक ग्रन्थ जो 'प्रमालक्ष्म' है उसके अन्तमें बनानेका समय औ स्थानका कोई उल्लेख नहीं मिलता इसलिये उसकी रचनाका निश्चित समय ज्ञात नहीं हो सकता; तथापि उसके अन्तमें बुद्धिसागराचार्यके व्याकरण ग्रन्थकी रचना करनेका उल्लेख किया गया है इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि सं० १०८०, जो उक्त व्याकरणकी रचनाका समय है, उस के बाद ही कभी उसकी रचना की गई थी ।

---

१ पिछली पट्टावलियोंमें इस वाद-विवादका संवत दो तरहका लिखा हुआ मिलता है । एक है वि० सं० १०२४ और दूसरा है सं. १०८० । इसमें १०२४ का उल्लेख तो सर्वथा भ्रान्त है क्यों कि उस समय पाटणमें तो दुर्लभराजके प्रपिता मूलराजका राज्य था । शायद दुर्लभराजका तो उस समय जन्म भी नहीं हुआ था । दूसरा, जो १०८० का संवत्का उल्लेख है वह भी ठीक नहीं है । क्यों कि निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधार पर यह स्थिर हुआ है कि दुर्लभराजकी मृत्यु सं० १०७८ में हो चुकी थी । १०८० में तो उसके पुत्र भीमदेवका राज्य प्रवर्तमान था । इसके विरुद्धमें एक और प्रमाण जिनेश्वर सूरिका स्वयंकृत उल्लेख भी विद्यमान है । सं० १०८० में तो जिनेश्वर सूरि, जैसा कि ऊपर बताया जा रहा है, मारवाडके जावालिपुर (जालोर) में थे जब उन्होंने अपनी हारिभद्रीय-अष्टकग्रंथकी टीका रचकर समाप्त की थी । अतः उस वाद-विवादका दुर्लभराजके समयमें अर्थात् १०७८ के पहले और सं० १०६६ के बीचके किसी समयमें होना ही मानना युक्ति संगत लगता है ।

इनके स्वर्गवासके समयका सूचक कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया; परन्तु इनके अतिप्रसिद्ध शिष्य अभयदेवाचार्यने अपनी बनाई हुई आगमोंकी टीकाओंमेंसे स्थानांग, समवायांग और ज्ञाता सूत्रकी टीकाएँ सं० ११२० में पूर्ण कीं थीं। इन टीकाओंके पीछे जो इन्होंने संक्षेपमें जिन शब्दोंमें अपने गुरुका वर्णन किया है उनसे भासित होता है कि शायद उस समय जिनेश्वर सूरि विद्यमान नहीं थे। उनका स्वर्गवास हो चुका था। अतः हमारा अनुमान है कि सं० १११० और ११२० के बीचमें कभी वे दिवंगत हुए होंगे।

## ७. जिनेश्वर सूरिकी ग्रन्थ-रचना।

जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है (पृ. १४)—वर्द्धमानाचार्यके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि जिनेश्वर सूरिने जैन धर्मके सांप्रदायिक सिद्धान्तोंके प्रतिपादक कतिपय ग्रन्थोंकी रचनाके उपरान्त काव्य, नाटक आदि जैसे सर्वसाधारणोपयोगी विषयोंके कुछ ग्रन्थोंकी भी रचना की थी; परन्तु ये सब रचनाएं अद्यापि उपलब्ध नहीं हुई। इनके शिष्य प्रशिष्यादिने इनकी 'अनेक-ग्रन्थ-प्रणेता'के रूपमें प्रशंसा तो खूब खूब की है, लेकिन किसीने भी इन्होंने कितने और किन किन ग्रन्थोंकीर चना की इसका निश्चायक कोई उल्लेख कहीं नहीं किया। इससे इनकी ग्रन्थ-रचना-विषयक समग्रताकी कोई निर्णायक कल्पना नहीं की जा सकती। इनके गुरुभ्राता बुद्धिसागराचार्यने, इनके बनाये हुए ग्रंथोंमेंसे एक मात्र जैन तर्कशास्त्र प्रतिपादक 'प्रमालक्ष्म' ग्रन्थका उल्लेख किया है। इनके एक प्रधान शिष्य जिनभद्राचार्य (पूर्व नाम धनेश्वर)ने इनकी दूसरी एक विशिष्ट कृतिरूप 'लीलावती कथा' नामक रचनाका उल्लेख किया है। अभयदेव सूरिने इनके किसी ग्रन्थविशेषका नामोल्लेख तो नहीं किया परन्तु—जैसा कि ज्ञातादिसूत्रोंकी वृत्तियोंके प्रान्तोल्लेखोंसे सूचित होता है—इनके जैनाभिमत प्रमाणतत्त्व-प्रदिपादक ग्रन्थ, तथा नाना ग्रन्थोंकी वृत्तियां एवं कथाग्रन्थोंके निर्माता होनेकी प्रशंसात्मक स्तुति की है। अभयदेव सूरिने इनकी एक रचना 'षट्स्थानक प्रकरण' पर भाष्य लिखा जिसमें उक्त ग्रन्थके रचयिताके रूपमें इनका उल्लेख किया है। जिनपति सूरिने इनके बनाये हुए 'पञ्चलिंगी प्रकरण' नामक ग्रन्थ पर विस्तृत टीका बनाई है जिसके उपोद्घातमें इनकी 'षट्स्थानक प्रकरण' और 'पञ्चलिंगी प्रकरण' इस प्रकार दो प्रकरण ग्रन्थोंकी रचनाका उल्लेख किया है। 'गणधरसार्द्धशतक'की बृहद्वृत्तिमें सुमति गणिने तथा जिनपालोपाध्यायने अपनी उक्त 'बृहत्पट्टावलि'में इनके द्वारा रचित 'कथाकोशप्रकरण'का निर्देश किया है।

इस प्रकार (१) **प्रमालक्ष्म,** (२) **लीलावतीकथा,** (३) **षट्स्थानक प्रकरण,** (४) **पञ्चलिंगी प्रकरण** और (५) **कथाकोश**—इन पांच ग्रन्थोंका नाम निर्देश तो उक्त ग्रन्थकारोंके कथनसे परिज्ञात होता है; और इन पांचों ग्रन्थोंमेंसे, एक 'लीलावती कथा' को छोड कर ४ ग्रन्थ तो जैसा कि निम्नलिखित विशेषविवरणसे वाचकोंको विदित होगा, वर्तमानमें उपलब्ध भी है। 'लीलावती कथा' मूल रूपमें अद्यावधि कहीं उपलब्ध नहीं हुई; परन्तु उसका सार-भागात्मक रूप 'निर्वाणलीलावती' नामका ग्रन्थ जिनरत्न विद्वान्का बनाया हुआ उपलब्ध होता है।

इन पांच ग्रन्थोंके अतिरिक्त दो वृत्ति रूपात्मक ग्रन्थ भी इनके उपलब्ध होते हैं, जिसमें एक तो हरिभद्रसूरिकृत 'अष्टक प्रकरण'की व्याख्या और दूसरा 'चैत्यवन्दन विवरण' नामकी व्याख्या है।

इन मुख्य ग्रन्थोंके सिवा कुछ फुटकर 'कुलक', 'स्तवादि'के नाम भी इनकी रचनाके रूपमें गिनाये जाते हैं, परन्तु उनके विषयमें कुछ ज्ञातव्य उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आये।

## जिनेश्वरीय ग्रन्थोंके विषयमें कुछ विशेष विवेचन ।

उपर हमने इनके बनाये हुए जिन ग्रन्थोंका नामोल्लेख किया है उनका कुछ विवरणात्मक परि यहां पर देना चाहते हैं, जिससे पाठकोंको, उन ग्रथोक्त विषयोंका कुछ परिचय मिल जाय ।

### ( १ ) हारिभद्रीय अष्टकप्रकरणवृत्ति ।

जिनेश्वर सूरिके बनाये हुए इन ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट समयवाला जो पहला ग्रन्थ मिलता है वह हरिभद्रसूरि 'अष्टकप्रकरण' नामक ग्रन्थकी वृत्तिरूप है । सुप्रसिद्ध महान् जैन शास्त्रकार हरिभद्रसूरि, कि जिन्हे प्राकृत एवं संकृत भाषामें भिन्न भिन्न विषयके छोटे-बडे सैंकडों ही ग्रन्थोंकी रचना की है उनमें उनका ग्रन्थ 'अष्टक प्रकरण' नामक है । ८-८ श्लोकोंका एक छोटा स्वतंत्र प्रकरण ऐसे ३२ प्रकरणोंका संग्रहात्मक यह संस्कृत ग्रन्थ है । इन अष्टकोंमें हरिभद्रसूरिने जैनदर्शनाभिमत कुछ तात्त्विक, कुछ सैद्धान्तिक और कुछ आचार-विचार विषयक प्रकीर्ण विचारोंका, संक्षेपमें परंतु बहुत ही प्रौढ भाषामें, ऊहापोह किया है । यथा—पहला अष्टक 'महादेव' विषयक है जिसमें 'महादेव' किसे कहना चाहिये और उसके क्या लक्षण होने चाहिये इसका विचार किया गया है । दूसरा अष्टक 'स्नान' विषयक है, जिसमें शुद्ध स्नान किसका नाम है और उसका क्या फल होना चाहिये, इसका विवेचन है । तीसरा अष्टक 'पूजा' विषयक है, जिसमें उपास्य देवकी शुद्ध पूजा किस वस्तुसे की जानी चाहिये और वह क्यों करनी चाहिये इसका विधान है । चौथा अष्टक 'अग्निकारिका' पर है । ब्राह्मणसंप्रदायमें जो 'अग्निकर्म' अर्थात् होम-हवन का विधान है उसका वास्तविक मर्म क्या है और कौनसा होम विशुद्ध होम हो सकता है इसका इसमें स्वरूप निरूपण है । इसी तरह किसी अष्टकमें 'भिक्षा' विषयका, किसीमें 'भोजन' विषयका, किसीमें 'ज्ञान'का, किसीमें 'वैराग्य'का, किसीमें 'तप'का, किसीमें 'हिंसानिषेध'का, किसीमें 'मांस भक्षण-परिहार'का, किसीमें 'मद्यपानदूषण'का, किसीमें 'मैथुन परित्याग'का, किसीमें 'धर्माधर्म'का और किसीमें 'मोक्षस्वरूप'का वर्णन किया गया है । मालूम देता है उस समय धार्मिक जगत्में भारतके ब्राह्मण, बौद्ध और आर्हत संप्रदायोंमें जिन कितनेक आचार-विचार-विषयक एवं तात्त्विक-सिद्धान्तविषयक मन्तव्योंका परस्पर सदैव ऊहापोह होता रहता था और जिन विचारोंके साथ गृहस्थ एवं त्यागी दोनों वर्गोंका जीवन-व्यवहार संबद्ध रहता था, उनमेंसे कितनेक विशेष व्यापक और विशेष विचारणीय प्रश्नोंकी मीमांसाको लेकर हरिभद्र सूरिने, इस प्रकरण ग्रन्थकी, सरल और सुबोध शैलीमें—परंतु बहुत ही तटस्थ और युक्तिसंगत भाषामें—बडी सुन्दर रचना की है ।

जिनेश्वर सूरिके सन्मुख भी ये प्रश्न सदैव उपस्थित होते रहते होंगे; क्यों कि उनका कर्मक्षेत्र भी उसी प्रकारके धार्मिक जगत्के अन्तर्गत था । उनको भी सदैव अपने प्रवासमें और प्रवचनमें इस प्रकारके विषयोंका नित्य ऊहापोह और शंका-समाधान करना पडता रहा होगा । इस दृष्टिसे हरिभद्र सूरिके इन अष्टकोंका अध्ययन और मनन उनको बहुत ही प्रियकर होना स्वाभाविक है । मालूम देता है—उनके समय तक इस ग्रन्थ पर किसी विद्वानने कोई अच्छी सरल और विस्तृत टीका नहीं बनाई थी । इस लिये जिनेश्वर सूरिने इस ग्रन्थके हार्दको विशेषरूपसे स्फुट करनेके लिये और इसमें प्रतिपादित मन्तव्योंका सप्रमाण प्रतिष्ठापन करनेके लिये, इस पर यह संस्कृत वृत्ति बनाई है । जिनेश्वर सूरिकी यह वृत्ति भी हरिभद्र सूरिकी मूल कृतिके अनुरूप ही प्रौढ, सप्रमाण और परिमार्जित शैलीमें लिखी गई है । इसका ... वाक्य और विचार, सुसम्बद्ध और सुनिश्चित अर्थका प्रकाशक है । मूलके प्रत्येक मन्तव्यको

प्रमाणभूत बतलानेके लिये ग्रन्थान्तरों और शास्त्रान्तरोंसे तत्तद्विषयक प्रमाणों और अवतरणोंके उद्धरण दे दे कर जिनेश्वर सूरिने इसमें अपने विशाल अध्ययन और विशिष्ट पाण्डित्यका उत्तम परिचय प्रदर्शित किया है।

जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है, इस ग्रन्थमें हरिभद्रसूरिने ब्राह्मण, बौद्ध और आर्हत अर्थात् जैन इन तीनों संप्रदायोंमें कतिपय विशेष विचारणीय तात्त्विक और आचार विषयक प्रश्नोंके विषयमें ऊहापोह किया है। इन सब प्रश्नोंकी विस्तृत चर्चाका,—यद्यपि वह बहुत मनोरञ्जक और मननीय है तथापि—यहां पर अवकाश न होनेसे, उसका दिग्दर्शन कराना शक्य नहीं है। इसके लिये तो जिज्ञासुओंको उस ग्रन्थका ही अवलोकन करना चाहिये।

जिनेश्वर सूरिने इस ग्रन्थकी वृत्ति करनेका जो अपना उद्देश आदि बतलाया है वह निम्न प्रकार है—

**गुणेषु रागाद् हरिभद्रसूरेस्तदुक्तमावर्तयितुं महार्थम्।**
**विबुद्धिरप्यष्टकवृत्तिमुच्चैर्विधातुमिच्छामि गतत्रपोऽहम्॥**
**सूर्यप्रकाश्यं क नु मण्डलं दिवः खद्योतकः क्वास्य विभासनोद्यमी।**
**क धीशगम्यं हरिभद्रसद्वचः क्वाधीरहं तस्य विभासनोद्यतः॥**
**तथापि यावद् गुरुपादभक्तेर्विनिश्चितं तावदहं ब्रवीमि।**
**यदस्ति मत्तोऽपि जनोऽतिमन्दो भवेदतस्तस्य महोपकारः॥**

जिनेश्वर सूरि कहते हैं कि—मैं विबुद्धि अर्थात् अल्पबुद्धि हो कर भी हरिभद्र सूरिके महार्थवाले 'अष्टक प्रकरण' की जो वृत्ति करना चाहता हूं उसमें मुख्य कारण तो हरिभद्र सूरिके गुणोंमें जो मेरा अनुराग है, वही है। नहीं तो कहां महाबुद्धिवालोंको जानने लायक हरिभद्रके गभीर वचन और कहां मेरे जैसा अल्पबुद्धिवाला उनके अर्थोंका प्रकाश करनेमें उद्यत। यह तो ऐसा ही लगता है जैसे सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होने लायक आकाशके विशाल खण्डको मानों खद्योत प्रकाशित करनेको उद्यत होता है। तब भी मैंने गुरुकी पादसेवा द्वारा जो अर्थ ज्ञात किया है उसको, लज्जा छोड कर, इस विचारसे प्रकट करना चाहता हूं कि जो मेरेसे भी मन्द बुद्धिवाले जन हैं उनका इससे कुछ उपकार हो।

इस वृत्तिकी रचना वि. सं. १०८० में, जाबालिपुर (आधुनिक जालोर, मारवाड राज्य) में समाप्त हुई थी। इसकी अन्तकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

**जिनेश्वरानुग्रहतोऽष्टकानां विविच्य गम्भीरमपीममर्थम्।**
**अवाप्य सम्यक्त्वमपेतरेकं सदैव लोकाश्चरणे यतध्वम्॥ १**
**सूरेः श्रीवर्धमानस्य निःसंबन्धविहारिणः। हारिचारित्रपात्रस्य श्रीचन्द्रकुलभूषिणः॥ २**
**पादाम्भोजद्विरेफेण श्रीजिनेश्वरसूरिणा। अष्टकानां कृता वृत्तिः सत्त्वानामनुग्रहहेतवे॥ ३**
**समानामधिकेऽशीत्या सहस्रे विक्रमाद्गते। श्रीजाबालिपुरे रम्ये वृत्तिरेषा समापिता॥ ४**
**नास्त्यस्माकं वचनरचना चातुरी नापि तादृग्, बोधः शास्त्रे न च विवरणं वास्ति पौराणम्**
**किन्त्वभ्यासो भवतु भणितौ सूदितायाममुष्मात् संकल्पान्नो विवरणविधावत्र जाता प्रवृत्ति**

इति श्रीजिनेश्वराचार्यकृता तच्छिष्यश्रीमदभयदेवसूरिप्रतिसंस्कृता अष्टकवृत्तिः समाप्ता॥

इन श्लोकोंका सारांश यह है कि—जिनेश्वरके अनुग्रहसे अष्टकोंके गम्भीर ऐसे इस अ विवेचन किया गया है उसको ज्ञात करके, सम्यक् तत्त्वकी प्राप्तिके साथ, लोकजन सदैव स लिये प्रयत्न करें।

निःसङ्ग भावसे विचरण करनेवाले, उत्तम चारित्रके पात्र और चन्द्रकुलके भूषण समान, वर्द्धमान सूरिके चरणकमलमें भ्रमरके समान वसने वाले, जिनेश्वर सूरिने प्राणियोंके हितके लिये

यह वृत्ति बनाई है। विक्रम-संवत्सरके १०८० के वर्षमें सुन्दर ऐसे जाबालिपुर स्थानमें रहते हु समाप्त की है।

न तो हममें कोई ऐसी 'वचन-रचना' बतानेवाली चातुरी है, न वैसा कोई शास्त्रोंका बोध है और मार्गदर्शन करानेवाला, इस ग्रन्थ पर कोई पुराना विवरण ही, हमें उपलब्ध है। तथापि अपना अ बढानेके संकल्पके वश हो कर हम इस विवरणकी रचनामें प्रवृत्त हुए हैं।

जिनेश्वर सूरिके इस अन्तिम उद्गारमें, उनकी अपने पाण्डित्यविषयक निरभिमानिता और साथ-ह अपने अभ्यासकी उत्कंठाका भी अच्छा सूचन हमें मिल रहा है। उनकी वचन-रचना कैसी परि परिमार्जित और भावपूर्ण है और साथ-ही-में उनमें कैसा विशाल शास्त्रबोध है, यह तो जो विद्वान् इस विवरणका मननपूर्वक अध्ययन कर सकता है उसे ही इसका ठीक आकलन हो सकता है।

जिनेश्वर सूरिने इस विवरणकी रचनामें, मूलग्रन्थकार हरिभद्र सूरिके समान ही अपना निराग्र भाव प्रदर्शित किया है। क्या तो अन्य दर्शनोंके मन्तव्योंकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते हुए क्या स्वयूथ्योंके विचारोंका खण्डन-मण्डन करते हुए—सर्वत्र इन्होंने अपनी निराग्रह बुद्धिका आ उपस्थित किया है। जहां किसी विवादात्मक विचारके विषयमें, सर्वथा निःशंक विधान करना समुचित नहीं मालूम दिया, वहां "तत्त्वं पुनरिह केवलिनो विदन्ति" अर्थात्—इसमें तत्त्व क्या है यह केवली ( केवलज्ञानधारक=सर्वज्ञ ) ही जानते हैं—ऐसा कह कर अपना निरपेक्ष भाव सूचित कर दि है; और किसी स्थानपर, जहां इनको अपना अभिप्रेत अर्थ ही विशिष्ट रूपसे प्रतिपादन करना उचि जंचा, वहां भी, युक्ति-पूर्वक बडे चातुरीभरे शब्दोंमें उसका समर्थन किया। इसका उदाहरण हमें ग्रन्थके प्रणेता हरिभद्र सूरिके एक जीवनविषयक उल्लेखसे ज्ञात होगा।

हरिभद्र सूरिके विषयमें, उस समय, बहुमान्य परंपराश्रुति यह थी कि वे स्वयं चैत्यवासी आचार्य शिष्य थे और उनकी जीवनचर्या भी कुछ कुछ अंशमें चैत्यवासियोंके जैसी ही थी। यद्यपि वे बहुत विर निःस्पृह, क्रियारुचि और संयमशील आचार्य थे; तथापि उनका बहुतसा आचार-व्यवहार तत्काल परिस्थितिके अनुरूप, चैत्यवासियोंके ढंगका था। जिनेश्वर सूरि तो चैत्यवासके बडे कडे विरोधी थे उन्होंने तो उसका बहुत उग्रभावसे खण्डन किया और उसके पक्षके समर्थक आचार्योंको हीनाचारी कह उनके प्रति कठोर अनादर प्रकट किया। चैत्यवासी यतिजन अपने पक्षके समर्थनमें हरिभद्र जैसे महा समर्थ शास्त्रकारका उदाहरण दिया करते थे और उनको अपना श्रद्धेय पूर्वज बतलाते थे। हरिभद्र जै जैन शासनके एक महान् युगप्रवर्तक और समर्थ संरक्षक आचार्यका चैत्यवासीके रूपमें स्वीक करना जिनेश्वर सूरिको सर्वथा अभिप्रेत नहीं था।

यद्यपि हरिभद्र सूरिकी शास्त्रीय रचनाओंमें ऐसा कोई स्पष्ट विधान कहीं भी नहीं उपलब्ध होता है जिससे उनके चैत्यवासी होनेका समर्थन हो सके या चैत्यवासके पक्षको उत्तेजन मिल सके। बल्कि चैत्यवासके आनुषङ्गिक दोषोंकी और चैत्यवासियोंके प्रकट शिथिलाचारकी उन्होंने अनेक रूपसे निन्दा की है; तथापि वे थे उसी परंपराके अन्तर्गत। इसका ज्ञापक एक सांप्रदायिक मन्तव्य इस 'अष्टक प्रकरण'में अन्तर्निहित है, जिसका तात्पर्य जिनेश्वर सूरिने अपने मन्तव्यानुरूप बतला कर हरिभद्रके विषयमें भी यह बात बडे अच्छे ढंगसे कह दी है कि हरिभद्र तो पूरे संविग्नपाक्षिक अर्थात् संयतमार्गके पक्षके थे। जो संविग्नपाक्षिक होगा वह कभी अनागमिक=आगमके विरुद्ध उपदेश नहीं कर सकता।

प्रसङ्ग यह है—इस अष्टक-संग्रह ग्रन्थमें एक प्रकरण आया है जिसमें तीर्थंकरद्वारा असंयत जनको
दान देनेका वर्णन है। माळूम देता है प्राचीन कालसे इस विषयमें जैनाचार्योंका परस्पर कितनाक मतभेद
चला आता रहा है। हरिभद्र सूरिने इस प्रकरणमें जिस ढंगसे अपना मन्तव्य प्रकट किया है वह कुछ
आचार्योंको सम्मत नहीं था और इस लिये वे कहते थे कि हरिभद्र सूरिने अपने आचारका समर्थन
करनेकी दृष्टिसे इस प्रकरणकी रचना की है—इत्यादि। उन आचार्योंका कहना था कि हरिभद्र सूरिके
कुछ आचार ऐसे थे जो जैनशास्त्र-सम्मत यतिजनोंके आचारसे विरुद्ध थे। हरिभद्र सूरि जब भोजन
करने बैठते तो पहले शंख बजवा कर भोजनार्थी जनोंको आमंत्रित करवाते और उनको भोजन दिलवा
कर फिर अपने आप भोजन करते। यह आचार जैन भिक्षुगणके आचारसे सर्वथा विरुद्ध अतएव दूषित
था। जैन मुनि किसी भी असंयत (जैनेतर) भिक्षुकको, किसी भी प्रकारका दान, न करता है न कर-
वाता है। वैसा करनेवाला जैन मुनि विरुद्धाचारी समझा जाता है। उक्त अष्टक प्रकरणमें हरिभद्र सूरिने
जिस ढंगसे असंयतदानका कुछ समर्थन किया है वह, उन अन्य आचार्योंके विचारमें, हरिभद्र सूरिके
अपने निजी आचारके समर्थनके रूपमें ग्रथित किया माळूम देता है। इसके उत्तरमें जिनेश्वर सूरिने
उक्त प्रकरणका अपने मन्तव्यानुसार विवरण कर, हरिभद्र सूरिका भी चैत्यवासी न होना बतला कर,
संविग्नपाक्षिक होना स्थापित किया है। जिनेश्वर सूरिका यह उल्लेख निम्न प्रकार है—

**स्वकीयासंयतदानसमर्थनार्थमिदं प्रकरणं सूरिणा कृतमिति केचित् कल्पयन्ति। हरिभद्राचार्यो हि स्वभोजन-काले शङ्खवादनपूर्वकमर्थिभ्यो भोजनं दापितवानिति श्रूयते। न चैतत् संभाव्यते। संविग्नपाक्षिको ह्यसौ। न च संविग्नस्य तत्पाक्षिकस्य वानागमिकार्थोपदेशः संभवति। तत्त्वहानिप्रसङ्गात्।**

इस अवतरणके पढनेसे पाठकोंको जिनेश्वर सूरिकी लेखन-शैलीका और प्रतिपादन-पद्धतिका भी कुछ परिचय हो सकेगा।

## (२) चैत्यवन्दनविवरण।

जिनेश्वर सूरिकी व्याख्यारूप दूसरी कृति जो उपलब्ध होती है वह 'चैत्यवन्दन'स्वरूप प्राकृत सूत्रोंकी
संस्कृत वृत्ति है। इस वृत्तिकी रचना भी उन्होंने उसी (उक्त) जाबालिपुरमें की थी जहां उपरि वर्णित
'अष्टकप्रकरण'की व्याख्या-रचना की थी। इसका रचना संवत् १०९६ विक्रमीय है। अर्थात् 'अष्टक-
प्रकरण' वृत्तिके १६ वर्ष बाद, इसकी रचना की गई है। यह एक छोटीसी कृति है जिसका परिमाण
कोई प्रायः १००० श्लोक जितना होगा।

'चैत्यवन्दन'सूत्रपाठ जैन श्वेताम्बर मूर्ति उपासक संप्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है। चैत्य अर्थात् अर्हद्बिम्ब=
जिनमूर्ति। उसकी स्तुति-पूजा किस तरह करनी चाहिये इसके ज्ञापक कुछ सूत्र पूर्वाचार्योंके बनाये हुए बहुत
प्राचीन कालसे प्रचलित हैं। इनमेंसे कुछ सूत्र तो—जैसे शक्रस्तवादि—'आवश्यक सूत्र'के अन्तर्गत पठित हैं—
कुछ उसके बहारके हैं। इन सूत्रों पर शायद सबसे पहले हरिभद्र सूरिने एक अच्छी विस्तृत संस्कृत
व्याख्या लिखी जिसका नाम उन्होंने 'ल लि त वि स्त रा' ऐसा रक्खा। हरिभद्र सूरि रचित ग्रन्थोंमें यह भी
एक विशिष्ट प्रकारकी प्रौढ रचना है। सिद्धर्षि जैसे महान् भावुक विद्वान्को इस रचनाके पढनेसे
उनके मानसिक भ्रमका निवारण हुआ और वे अपने जीवनके आदर्शमें निश्चल हुए। इसके परिणाममें
उन्होंने 'उपमितिभवप्रपञ्चा' कथा नामक ग्रंथकी रूपकात्मक शैलीमें अपनी आध्यात्मिक आत्मकथाकी अद्भुत
और अनुपम रचना की। हरिभद्र सूरिकी यह 'चैत्यवन्दनसूत्र-वृत्ति' कुछ विशेष प्रौढ

सिद्धान्तोंकी मीमांसासे ओतप्रोत है; इस लिये इन सूत्रोंका सुगम और सरल रीतिसे अर्थबोध हो दृष्टिको लक्ष्य करके जिनेश्वर सूरिने अपनी यह नई वृत्ति बनानेका प्रयास किया था। इस सूत्रपाठके कुछ आलापकोंकी ( प्रकरणोंकी ) पाठ्य पद्धतिके विषयमें भी पूर्वाचार्योंका परस्पर मतभेद रहा है। जिनेश्वर सूरि एवं उनके गुरुका, एक प्रकारसे नया ही संप्रदाय प्रस्थापित इस लिये उनको यह भी प्रतीत हुआ होगा कि हमको अपने संप्रदायके लिये किस प्रकार पद्धतिका अवलम्बन करना उचित है। अतः इस व्याख्याकी रचना द्वारा उन्होंने उसका कर देना समुचित समझा।

इसके प्रारंभमें जिनेश्वर सूरिने इस प्रकार उपोद्घातात्मक पद्य लिखे हैं—

**रागाद्यरातिविजयाप्तजिनाभिधानं देवाधिदेवमभिवन्द्य निराकृताघः।**
**तच्चैत्यवन्दननियुक्तमशेषसूत्रं शक्रस्तवादि विवृणोमि यथावबोधम् ॥ १**
**सत्यं सन्ति नयप्रमाणविषयक्षोदः क्षमाः पञ्जिकाः**
**सूत्रस्यास्य चिरन्तनैः कविवृषैर्दृब्धाः परं भेदवान्।**
**नानासूरिनिमित्तकोऽपि विविधो मे संप्रदायोऽस्ति यत्,**
**प्रायस्तस्य निवेदनं परकृतौ कर्तुं नु नो शक्यते ॥ २**
**तस्मादेष समारम्भस्तत्प्रकाशाय युक्तिमान्। पूर्वसूरिभिरप्येवं रचिता वृत्तयः पृथक् ॥ ३**
**नानन्तार्थमिदं सूत्रं व्याख्यातं पूर्वसूरिभिः। नियतार्थप्रकाशेऽतो नोपालम्भोऽस्ति कोऽपि नः ॥**
**साधुश्रावकयोरत्र न विशेषोऽस्ति कश्चन। क्वचित् सूत्रे क्रियायां च विशेषः साधुगोचरः ॥ ५**

इन पद्योंका भावार्थ यह है कि—रागादि शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेश्वर देवको वन्दन करके, चैत्य अर्थात् प्रतिबिम्ब ( मूर्ति ) को वन्दन करनेके ज्ञापक जो 'शक्रस्तवादि' विशेष सूत्र हैं यथामति व्याख्या करनेका प्रयत्न किया जाता है। यों तो इन सूत्रों पर पूर्वकालीन कविश्रेष्ठ ( हरि ने पञ्जिका रूप, नय और प्रमाण विषयक तर्कोंसे परिपुष्ट, जो व्याख्या बनाई है वह विद्यमान परंतु इन सूत्रोंके विषयोंमें अनेक आचार्योंके, विविध प्रकारके, मतभेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं और तरह हमारा भी कुछ थोडासा भिन्नस्वरूप ऐसा निजी संप्रदाय है। अतः उसका प्रकाशन करनेके हम इस विवरणकी रचना करते हैं। क्यों कि दूसरोंकी कृतिके आधार पर अपना अभिमत प्रतिपादित नहीं किया जाता। इस लिये हमारा यह प्रयास युक्तिपुरःसर ही समझना चाहिए। क्यों और और पूर्वाचार्योंने भी अपना अपना अभिमत प्रतिपादित करनेके लिये इसपर अलग अलग वृत्तियां बनाई ही हैं। इस 'चैत्यवन्दन' सूत्रको पूर्वाचार्योंने अनन्तार्थगर्भित बतलाया है। इस इसका कोई एक नियतार्थ प्रगट करनेमें हमको कोई उपालम्भ नहीं हो सकता। इस चैत्यवन्द विधानमें साधु और श्रावक दोनोंका कोई विशेष भेद नहीं है। लेकिन सूत्रोंकी पठनक्रियाकी पद्ध साधुओंका कुछ थोडासा पारस्परिक संप्रदायभेद दृष्टिगोचर जरूर होता है। इत्यादि।

इसके आगे फिर शक्रस्तवादिका पाठ किस ढंगसे, किस आसनसे, करना चाहिये इस विष आचार्योंके जो कुछ विशेष मत हैं उनका संक्षेपमें सूचन कर, अपना अभिमत सूत्रविवरण आलेखित कि है। इस विवरणकी शैली सरल और स्फुटार्थक है। मूल सूत्रका ठीक स्पष्टीकरण हो सके उतना अर्थालेखन इसमें किया गया है। विशेष विस्तृत शास्त्रार्थका जहां कहीं प्रसङ्ग आया वहां उसके लि यह कह दिया गया है कि यहाँ पर बहुत कुछ कहने लायक है; परंतु वह अन्य स्थानसे ( ग्रन्थान्तरसे जान लेना चाहिये। हमें तो यहां पर, दूसरे विवरणकारोंने या व्याख्याकारोंने जो बात न

बतलाई है और जो हमें अपने गुरु-संप्रदायसे ज्ञात हुई है, उसीका निर्देश करना अभीष्ट है; और फिर जहां कहीं यत्किंचित् हमने कुछ अन्य आचार्योंके कथन का अनुवर्तन किया है, तो वह मात्र स्थान शून्य न रखनेकी दृष्टिसे ही किया है।[1]

जहां कहीं अन्य आचार्योंके संप्रदायसे इनका मतभेद रहा वहां कह दिया है कि इस विषयमें हमारे गुरुओंका कोई व्यवहार नहीं है इसलिये हम इसके विधानमें कोई निर्णय नहीं देना चाहते[2] इत्यादि।

इस विवरणमें उपलब्ध एक उल्लेखसे हमें यह एक ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है कि इनके समयमें पादलिप्त सूरिकी प्रसिद्ध 'तरङ्गवती' कथा मूलरूपमें विद्यमान थी। अपने एक मन्तव्यके विधानके समर्थनमें इन्होंने लिखा है कि—"अत एव प्रदीप्तकाचार्येण तरङ्गवत्यां दर्शितमिति[3]।"

इस टीकाके उपसंहारमें निम्न लिखित पद्य लिखे हैं जिससे इनके मनोभावका अच्छा आभास मिलता है—

**नो विद्यामदविह्वलेन मनसा नान्येषु चेर्ष्यावशात्**
**टीकेयं रचिता न जातु विपुलां पूजां जनाद् वाञ्छता।**
**नो मौढ्यान्न च चापलाद् यदि परं प्राप्तं प्रसादाद् गुरोः**
**सूरेर्जैनमतानुरक्तमनसः श्रीवर्द्धमानस्य यः॥ १॥**
**सत्संप्रदायोऽयमशेषभव्यलोकोपकाराय भवत्वविघ्नः।**
**बुद्ध्येति टीकां विरहय्य नायं (?) भव्यानशेषानुपकर्तुमीशः॥ २॥**
**श्रीमज्जिनेश्वराचार्यैः श्रीजावालिपुरे स्थितैः।**
**षाण्णवते कृता टीका वैशाखे कृष्णभौतिके॥ ३॥**

**भावार्थ**—इस टीकाके बनानेमें न मेरा विद्यामदविह्वल मन ही निमित्त है, न किसीकी कृतिकी ईर्ष्या ही उत्तेजक है अथवा न लोकोंसे पूजा प्राप्त करनेकी लालसा ही कोई कारण है। इसी तरह न मूढता एवं चपलता ही इसमें प्रेरक है। केवल जैन मतमें अनुरक्त ऐसे मेरे गुरु श्री वर्द्धमान सूरिके प्रसादसे जो सत्संप्रदाय मैंने प्राप्त किया है, वह भव्य जनोंके उपकारके लिये निमित्त हो इस बुद्धिसे मैंने यह टीका बनाई है। संवत् ९६ (विक्रमाब्द १०९६) के वैशाखमासमें, जाबालिपुरमें रहते हुए इस टीकाको समाप्त की।

## (३) षट्स्थानक प्रकरण।

जिनेश्वर सूरिने जैनमतानुयायी गृहस्थ उपासकोंके कैसे आचार और विचार होने चाहिये इसको लक्ष्य करके एक छोटासा प्रकरण प्राकृत गाथाओंमें बनाया जो 'षट्स्थानक प्रकरण'के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें श्रावक (उपासक) जीवनके उत्कर्षक ऐसे ६ स्थानोंका अर्थात् गुणोंका स्वरूप वर्णन किया गया है इससे इसका नाम 'षट्स्थानक प्रकरण' ऐसा प्रसिद्धिमें आगया है। इसका दूसरा नाम 'श्रावकवक्तव्यता प्रकरण' ऐसा भी है।

---

१ 'अत्र च बहु वक्तव्यं तच्च स्थानान्तरादवसेयम्। इह तु वृत्त्यन्तरानुपात्तस्य स्वगुरुप्रसादावाप्तसंप्रदायस्यैवाभिधातुमिष्टत्वात्। यत्तु परैरेवोक्तं तत्र स्थानाशून्यार्थं यदि परं क्वचिदिति।'

२ 'तत्र प्रवृत्तिनिमित्तसंप्रदायो नास्माकमतो न तदर्थमायास इति।'—
'तत्रापि न प्रवृत्तौ संप्रदायोऽस्माकं किञ्चित्।'

३ पादलिप्त सूरिका नाम प्रदीप्ताचार्यके रूपमें यहां उल्लिखित किया है जो प्राकृत पलित्त का सीधा संस्कृत भाषान्तर रूप है। एक और जगह भी इन्होंने इसी नामसे इनका उल्लेख किया है।

इस प्रकरणकी मूलसूत्र भूत मात्र दो प्राकृत गाथाएं हैं जो किन्हीं पूर्वाचार्यकी बनाई हुई हैं। उन्हीं दो गाथाओंमें वर्णित पदोंके विवरण रूपमें इस प्रकरणकी रचना की गई है। इसकी मूल गाथाओंके साथ, कुल मिलाकर १०३ गाथाएं हैं। इन गाथाओंके विशेष-विवरण रूपमें इनके शिष्य नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेव सूरिने, प्राकृत गाथाबद्ध एक भाष्यकी रचना की है। बादमें इन्हींकी शिष्य परंपरामें होने वाले, वि० सं० १२९२ में, जिनपति सूरिके शिष्य जिनपाल उपाध्यायने इस पर विस्तृत संस्कृत टीका बनाई।

श्रावक अर्थात् उपासक वर्गके गुणोंको लक्ष्य करके जैनाचार्योंने अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएं की हैं और उनमें अनेक प्रकारके गुणोंका अनेक रूपसे वर्णन किया गया है। इनमें हरिभद्र सूरिका प्रसिद्ध 'धर्म बिन्दुनामक' ग्रन्थ, शान्ति सूरिका 'धर्मरत्नप्रकरण', प्रद्युम्न सूरिका 'मूलशुद्धि' अपरनामक 'सप्तस्थानक प्रकरण' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें श्रावकोंके व्यावहारिक और धार्मिक जीवनकी विशुद्धि और प्रगतिके लिये कैसे कैसे गुणोंकी आवश्यकता है, इसको उद्दिष्ट करके भिन्न-भिन्न प्रकारके उपदेशात्मक विचार प्रदर्शित किये गये हैं। जिनेश्वर सूरिने भी इस ग्रन्थमें अपने ढंगसे पूर्वाचार्य ग्रथित २ गाथाओंके विवरणरूपमें ऐसे ही ६ गुणोंका वर्णन किया है।

ये २ गाथाएं इस प्रकार हैं—

**कयवयकम्मयभावो[१] सीलत्तं[२] चेव तह य गुणवत्तं[३]।**
**रिउमइववहरणं[४] चिय गुरुसुस्सूसा [५]य बोद्धवा ॥ १ ॥**
**पवयणकोसल्लं[६] पुण छट्ठं तु होइ नायव्वं।**
**छट्ठाणगुणेहिं जुओ उक्कोसो सावओ होइ ॥ २ ॥**

इन गाथाओंमें यह सूचित किया गया है कि—जो गृहस्थ, उत्कृष्ट अर्थात् आदर्शभूत श्रावक होना चाहे उसे इन छः स्थानोंका (गुणोंका) अपने जीवनमें विकास करना चाहिये। ये छः स्थान इस प्रकार हे—(१) गृहस्थ धर्मके व्रतोंका परिशीलन करना; (२) शील अर्थात् सदाचारका सेवन करना; (३) गुणवत्ताको बढाना; (४) व्यवहार सरल रखना; (५) गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा करना; और (६) प्रवचन अर्थात् जैन मतमें कौशल्य प्राप्त करना। इन छः गुणोंका नाना प्रकारके भेदों द्वारा स्पष्टीकरण करके आचार्यने इनका स्वरूप इस ग्रन्थमें समझाया है। उदाहरणके लिये—दूसरे शीलस्थानके विवरणमें गृहस्थको किन किन स्थानोंमें जाना-या न जाना चाहिये इसका विवेचन करते हुए यह कहा है कि—वैसे धर्मस्थानोंमें कभी न जाना चाहिये जहां पाखण्डियोंका निवास हो, इतना ही नहीं, परंतु जहां आचारहीन यतिलोक रहते हैं ऐसे जैन मन्दिरोंमें भी न जाना चाहिये—इत्यादि। यह उनके समयकी चैत्यवास स्थिति और उसका जो उन्होंने विरोध किया उसका सूचक है। इसके साथ यह भी कहा है कि गृहस्थको, किसी अन्य गृहस्थके, ऐसे घर पर भी नहीं जाना चाहिये जहां घरका मालिक उपस्थित न हो; और उस घरमें तो किसी तरह न जाना चाहिये जहां अकेली स्त्री रहती हो। श्रावकको ऐसा वचन-व्यवहार भी कभी न करना चाहिये जिससे किसी दूसरेके मनमें द्वेषभाव पैदा हो और जो लोकोंमें या राजवर्गमें अप्रीति पैदा करनेवाला हो। श्रावकको अपनी वेष-भूषादि भी, अपनी जन्म भूमि, जाति और परिस्थितिके अनुरूप ही रखनी चाहिये। कभी भी नट विटादिकोंके जैसा उद्भट वेष नहीं पहनना चाहिये। कुल और देशके विरुद्धका वेष, राजाको भी शोभा नहीं देता तो फिर श्रावकजन जो प्रायः जातिसे वणिक् होते हैं, उनको तो ऐसा वेष कभी शोभा दायक नहीं हो

सकता। इसमें भी विशेष करके उनकी स्त्रियोंका वेष तो बहुत ही सादा और शिष्टताका सूचक होना चाहिये।

इस प्रकार वेषकी शिष्टताका कथन करते हुए जिनेश्वर सूरिने संक्षेपमें श्रावकको कैसे वस्त्र शोभा दे सकते हैं इसका भी थोडासा विधान कर दिया है। यह वस्त्र-विधान उस समयकी सादगीका सूचक है। इसमें तीन वस्त्रविशेषका सूचन किया गया है जिसमें एक तो धोती है दूसरी अंगिया है और तीसरा दुप्पट्टा अर्थात् उत्तरीय वस्त्र है। धोती कैसे पहननी चाहिये, अंगिया कैसी होनी चाहिये और उत्तरीयको कैसे डालना चाहिये इसका भी निर्देश किया गया है।[1]

इसी तरह श्राविकाओंका वस्त्र-परिधान कैसा होना चाहिये इसका भी थोडासा निर्देश कर दिया है। इसके विपरीत, नट विटादि अशिष्ट जनोंका वेष कैसा होता है उसका स्वरूप बतानेके लिये थोडासा उल्लेख करके,[2] वैसे ही अशिष्ट समाजकी वेश्यादि स्त्रियोंका वस्त्रालंकार किस प्रकारका होता है उसका भी वर्णन किया है।[3]

'व्यवहार सरल रखना' ऐसा जो चतुर्थ स्थानक कहा है उसमें भी धार्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टिसे श्रावकको अपना व्यवहार कैसा सीधा-सादा और प्रामाणिक रखना चाहिये, इस विषयमें कुछ लौकिक उपदेश भी कहा है। जैसा कि – अर्थोपाय अर्थात् अर्थोपार्जन निमित्त जो व्यवसाय किया जाय उसमें श्रावकको सदैव सचाईका व्यवहार रखना चाहिये। तोल नापमें न्यूनाधिकता न करनी चाहिये। जो वस्तु जैसी देनी-दिलानी बतलाई गई हो उसमें फेर-फार न करना चाहिये[4]। अतिलोभके वश हो कर किसीको ऊधार आदि न देना चाहिये। जिस वस्तुका व्यापारनिमित्त[5] संग्रह किया जाय वह प्रचलित मूल्यसे अधिक मूल्यकी न होनी चाहिये। व्यवसाय निमित्त हाथी, घोडा, बैल आदिकोंका विशेष संग्रह न करना चाहिये। क्यों कि अधिक संग्रह करनेसे उनको दाना चारादिके खिलानेमें अधिक व्यय होगा और मरजाने आदिके कारणसे हानि होगी। इसी तरहसे धान्य अर्थात् अनाजका भी विशेष संग्रह नहीं करना चाहिये। क्यों कि ज्यादह समय तक पडे रहनेसे उसमें कीडे आदिके पडनेसे सड जानेका और उससे हानि होनेका संभव रहता है। श्रावकको खास करके कपास, रूई, सूत, वस्त्र, प्रवाल, मोती, मंजिष्ठा, सुपारी इत्यादि चीजोंका व्यवसायनिमित्त संग्रह करना अच्छा है। क्यों कि ऐसी वस्तुओंके, अधिक समय तक भांडशालाओं (गोदामों) में पडे रहने पर भी किसी विशेष प्रकारकी अर्थहानिकी संभावना नहीं रहती। बहुत लाभ होनेकी संभावनाके होने पर भी किसी ग्राहकको अंग ऊपर

---

१ इस वस्त्र-विधानमें उस समय प्रचलित देश्य शब्दोंका प्रयोग किया गया है जो विशेषज्ञोंके लिये अध्ययनीय है। यथा –
संतलयं परिहाणं झलंब चोडाइयं च मज्झिमयं। सुसिलिट्ठमुत्तरीयं धम्मं लच्छि जसं कुणइ ॥ २,१६

२ नट विटोंका वेष कैसा होता है उसका उल्लेख इस प्रकार है –
लंखस्स व परिहाणं गसइ व देहं तहंगिया गाढा। सिरवेढो टमरेणं वेसो एसो सिडिंगाणं ॥ २,१९

३ वेश्यादिका वस्त्र-परिधान कैसा होता है उसका वर्णन इस तरह है –
असिलिट्ठु नीविबंधो चूडा संकुसइ पायनहरेहं। जंघद्धं उग्घाडं परिहाणं हवइ वेसाणं ॥ २,२०
सिहिणाण मग्गदेसो उग्घाडो नाहिमंडलं तह य। पासा य अद्धपिहिया कंचुओ सहइ वेसाणं ॥ २,२१

४ ववहारे पुण ऊणं न देइ पडिरूवगं नवा कुणइ। ४,६

५ अत्थोवाओ पुव्वं तं पुण सच्चेण ववहरंतस्स। अहवा अइलोभेणं उद्धरगमाइ नो देइ ॥ ४,१२
भंडं पि अइमहग्घं न संगहे कुणइ नियमुल्लाओ। आस-करि-गोणमाई न नियट्ठा धारए महमं ॥ ४,१३

1263
Date........

ऊधार द्रव्य नहीं देना चाहिये । चाहे थोडा लाभ हो परंतु सोना चांदी आदि वस्तुओंको बन्धकमें र कर ही किसीको रुपये आदि देना चाहिये । इस प्रकार संक्षेपमें श्रावकको द्रव्योपार्जनके निमित्त कि चीजोंका और कैसे, व्यापार व्यवसाय करना चाहिये इसका उपदेश किया गया है ।

श्रावकको सदैव अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी आदि स्वजनोंके मनोभावके अनुकूल वर्तन रख चाहिये और उनको कौन व्यवहार प्रिय है तथा कौन अप्रिय है इसका खयाल रखकर उनके मन सन्तुष्ट रखना चाहिये । साथ ही में उनको सत्य वस्तुका उपदेश दे कर उनके मनोभावको सत्सं बनाते रहना चाहिये ।

इसी तरह जो अपने अभिनव सहधर्मी भाई हैं उनके भी मनके प्रिय-अप्रियादि भावोंका लक्ष्य रख चाहिये और जिस तरह उनका मन धर्ममें अनुरक्त और स्थिर रहे वैसा व्यवहार करना चाहिये उनसे किसी प्रकारका लडाई-झगडा अथवा असभ्य भाषण आदि न करना चाहिये । चैत्यवन्दन, पूज प्रतिक्रमणादि धर्मक्रियाओंके करनेमें उनके मनमें विसंवादी भाव उत्पन्न हो वैसी कोई प्रवृत्ति नहीं करन चाहिये – बल्कि इन क्रियाओंके करनेमें उनका उत्साह बढता रहे वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

छट्ठा प्रकरण 'प्रवचन कौशल' विषयक है जिसमें श्रावकको व्यवहार-कुशल होनेके बारेमें भी कुछ बातें कही हैं । इस व्यवहार-कुशलताके धर्म, अर्थ, काम और लोक ऐसे उपविभाग किये हैं । धर्मकौश ल्यके विषयमें कहा है कि श्रावकको शाक्य, भौत, दिगम्बर, विप्रादि पाखंडियोंका संसर्ग नहीं रखन चाहिये; वैसे ही उन-उन मतवालोंके उपास्य देवताओंकी मूर्तियोंका क्रय-विक्रयादि भी नहीं करन चाहिये । चैत्यालय संबंधी जो द्रव्य हो उसको तथा साधारण द्रव्यको भी अपने लिये अंगऊधार नहं लेना चाहिये; और इतना ही नहीं, परंतु जिन लोगोंने ऐसा द्रव्य ऋणके रूपमें लिया हो उनके गाडी, बैल आदिका भी, अपने कामके लिये, किसी प्रकारका भाडा आदि दिये विना, उपयोग नहीं करना चाहिये । यहां पर एक यह भी बात कही गई है कि कुछ लोग चैत्यके द्रव्यको अर्थात् मन्दिरोंमें जमा होनेवाले रूपयों वगैरह शिक्कोंको लेकर उनमेंसे अच्छे अच्छे शिक्कोंको अपने पास रख लेते हैं और अपने पासवाले शिक्कोंमें जो घिसे हुए अथवा कुछ नुकसानीवाले शिक्के होते हैं उनको बदल कर सूत्रधार ( सलावट ) आदि कर्मकर लोगोंको, वैसे शिक्के उनकी मजदूरीके वेतनके रूपमें दे देते हैं । सो ऐसा करना भी चैत्यद्रव्यके उपभोगके पापका भागी होने जैसा है । ये सब बातें श्रावकको धर्मकुशल बननेकी दृष्टिसे कही गई हैं ।

अर्थकुशलकी दृष्टिसे कहा है कि – श्रावकको सदैव ऐसा ही भाण्ड अर्थात् माल लेना-वेचना चाहिये जिसमें किसी प्रकारका नुकसान न पहुंचे ।

कामकुशल होनेके संबंधमें कहा है कि – श्रावक अपनी पत्नीको सदैव प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करे । संभोगादिमें भी सावधानतापूर्वक प्रवृत्त हो । संभोग करनेके पूर्व स्त्रीसे स्नान और मुख शुद्धि आदि क्रियाएं करवानी चाहिये । उसको किसी प्रकारकी रहस्यमय बात न बतलानी चाहिये । ऐसा ही व्यवहार वेश्या स्त्रीके साथ भी रखना चाहिये । पाठकोंको यह बात पढ कर कुछ विलक्षणसा लगेगा कि श्रावकका वेश्यासे क्या संबंध । परंतु यह उस समयकी समाजमें प्रचलित सर्वसामान्य रूढिका सूचक विधान है । वेश्या जातिका उस समय समाजमें एक प्रकारका विशिष्ट स्थान था । वेश्याओंके साथ संपर्क रखना और उनके स्थानमें आना-जाना तथा उनसे सहवास करना कोई खास निंद्य व्यवहार नहीं समझा जाता था

बल्कि एक प्रकारका श्रीमंताईका औदार्य सूचक शिष्ट आचार माना जाता था। इसलिये उस समय धनवान् और सत्तावान् जनोंका वेश्या-संसर्ग बहुत सामान्य व्यवहार था। धनिक श्रावक लोग भी जो परस्त्रीगमनका व्रत लेते थे उसमें वेश्यागमनका निषेध नहीं माना जाता था। इस दृष्टिसे वेश्या स्त्रीके साथ संभोग व्यवहारमें श्रावकको कैसे कुशल रहना चाहिये इसका सूचन जिनेश्वर सूरिने यहां पर किया है।

इस प्रकारके सूचन पर, शायद कुछ अतिचार्चिक एवं संकीर्ण मनोवृत्तिवाले उपदेशकोंने ऐसा प्रश्न भी उठाया होगा कि जिनेश्वर सूरि जैसे परमविरागी जैनाचार्यका यह कामकुशल विषयक उपदेश देना जैन सिद्धान्तानुसार कैसे संगत हो सकता है। इसका उत्तर इस ग्रन्थके टीकाकारने स्वयं दिया है जो मनन करने लायक है। टीकाकार कहते हैं कि – 'जिनेश्वर सूरिका यह स्त्रीको प्रसन्न रखने आदिका उपदेश, विषयभावका पोषक होनेसे, जैन प्रणालिसे असंगत है' – ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्यों कि शरीरकी रक्षाकी दृष्टिसे यह उपदेश दिया गया है और शरीर-रक्षाका उपदेश, धर्म-रक्षाका निमित्त होनेसे उसका विचार कर्तव्यसंगत है[1]।

इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम विषयक कुशलताके उपदेशके बाद लोक-कुशलताकी दृष्टिसे भी कुछ व्यावहारिक बातें कही गई हैं; जो इस प्रकार हैं – श्रावकको अपने समाज या राष्ट्रमें जो लोक प्रधान (अग्रणी) समझे जाते हों उनसे मैत्री रखनी चाहिये। राजाके पास जाते-आते रहना चाहिये और सदैव सद्भाव पूर्वक उसकी उपचर्या करते रहना चाहिये। कभी भी राजाका अवर्णवाद नहीं करना चाहिये, उसके विपक्षियोंका संसर्ग न रखना चाहिये, और जो जो गुण उसमें विद्यमान हों उनका उच्चारण करते रहना चाहिये। इसी तरह ज्ञानसे, जन्मसे और जाति आदिसे जो जन अधिक प्रसिद्ध हैं उनके भी गुणोंकी सदा प्रशंसा करते रहना चाहिये और किसी प्रकारका कोई अपराधजनक भी उनका व्यवहार हो तो उसको यत्नपूर्वक सुधार लेना चाहिये – इत्यादि बातें लोक-कौशलकी दृष्टिसे श्रावकको ध्यानमें रखनी चाहिये।

ऊपर जो धर्म, अर्थ, काम और लोक-कौशलके विषयकी बातें कही गई हैं उन बातोंके करनेमें, श्रावकको न केवल ऊपरी बातोंका ही ज्ञान रखना चाहिये, अपि तु उन उन बातोंके करनेमें आवश्यक ऐसे अन्दरके भावोंकी जानकारी भी रखनी चाहिये। जैसे कि धर्म-कौशलकी दृष्टिसे श्रावकको अपने नवीन जो साधर्मी भाई आदि हों उनकी बाह्य चेष्टाओंसे – शारीरिक और वाचिक आदि प्रवृत्तियोंसे – उनके मनोगत भावोंके जाननेका प्रयत्न करना चाहिये और तदनुसार उनके धर्ममें स्थिरमनस्क होनेके उपायोंकी योजना करनी चाहिये। वैसे ही काम-कौशलकी दृष्टिसे स्त्री और वेश्याके इंगितभाव जानते रहना चाहिये और तदनुकूल अपने शरीरकी रक्षाके संबंधमें सावधान रहना चाहिये। अर्थ-कौशलकी अपेक्षासे ऋणिक (कर्जदार) आदिकी चेष्टाओंको समझ कर तदनुसार उसके साथ व्यवहार रखना चाहिये। क्यों कि कभी कभी कर्जदार दुष्टवृत्तिवाला बन कर लेनदारका घात करने-करानेमें उद्यत हो सकता है। इसलिये उसके मनोभाव जान कर तदनुसार उसके साथ व्यवहार करना चाहिये। यदि ऐसा मालूम हो जाय कि देनदारको अधिक तंग करनेसे वह किसी प्रकारका अनर्थ करनेपर उतारु हो जायगा तो उसके साथ कठोर व्यवहार न कर उसको अनुकूल बनाना चाहिये और समझना चाहिये कि वह पैसा था ही नहीं। इसी तरह लोक-कौशलकी

---

१ 'न चायं स्त्रीप्रसादनाद्युपदेशोऽसङ्गतः सावद्यत्वात् इति वाच्यम्। शरीररक्षाधारणे धर्मरक्षानिदानत्वात्।' मुद्रित प्रति, पृ. ४७.

दृष्टिसे राजाके मनोभावोंको जान कर उसके साथ अपने प्रयोजनका तदनुकूल व्यवहार करना-करा चाहिये। राजा जब किसी पर कुपित हो तब, उससे किसी प्रकारके कार्यके लिये विज्ञप्ति नहीं क चाहिये। वह जब सन्तुष्ट और सुप्रसन्न हो तब ही किसी प्रयोजनके निमित्त उसे कहना-कहलाना अ चाहिये। इत्यादि।

इस प्रकार, इस प्रकरण ग्रन्थमें संक्षेपमें श्रावकके जीवनोत्कर्षके सूचक ६ स्थानोंका प्रकीर्णा उपदेश किया गया है। ग्रन्थके अन्तमें कोई उपसंहारात्मक कथन नहीं मिलता इससे मालूम देता है इसकी संकलना कोई विशिष्ट प्रकारका संदर्भ ग्रन्थ रचनेकी दृष्टिसे नहीं हुई है, परंतु प्रसंगानुसार जैसे विचार स्फुरित होते गये वैसे वैसे, सूत्रात्मक रूपमें, इसकी गाथाओंकी फुटकर रचना प्रतीत होती है।

## (४) पंचलिंगी प्रकरण।

षट्स्थानक प्रकरणका अनुसन्धानरूप दूसरा ग्रंथ 'पंचलिंगी प्रकरण' है जिसकी १०१ प्र गाथाएं हैं। इसमें सम्यक्त्वके ५ लिंग अर्थात् चिन्ह (लक्षण) का स्वरूप वर्णन किया गया है। मनुष्यको सम्यग् दर्शनकी प्राप्ति हुई हो उसके जीवनमें उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्ति इस प्रकारके ५ आन्तरिक भावोंका विकास होता है। इस लिये जैन शास्त्रोंमें सम्यक्त्वके ये ५ बतलाये गये हैं। इन्हीं पांच लिंगों अर्थात् चिन्होंका स्वरूपवर्णन इस 'पंचलिंगी प्रकरण'में किया गया यों तो यह वर्णन, प्रायः जिस तरह अन्यान्य प्राचीन शास्त्रोंमें ग्रथित किया हुआ मिलता है वैसा है तथापि ग्रन्थकारके समयके तथा सांप्रदायिक पक्षके सूचक एवं पोषक ऐसे कुछ विचार भी, इसमें तत्र ग्रथित हुए, दृष्टिगोचर होते हैं। जैसा कि उपशमलिंगके वर्णनमें, असदाग्रहके परित्यागका करते हुए, उस समयमें चैत्यवासी आदि कुछ संप्रदायके यतिजनोंमें, कोई कोई क्रिया-विधान प्रचलित होगा जो जिनेश्वर सूरिको शास्त्रसम्मत नहीं प्रतीत होता होगा, तो उसके लिये इन्होंने क्रियाविधानका करना-कराना असद्-आग्रह बतलाया है। उदाहरणके तौर पर, जब कोई स्त्री यतिव्रतकी दीक्षा धारण करता है तब उसको ऐसा दिग्बन्ध कराया जाता है, कि 'तुम आजसे अ गच्छके, अमुक आचार्यके, अमुक गुरुके, शिष्य या शिष्यिणी बने हो और इसलिये तुमको सदैव इन आज्ञानुसार अपना जीवनव्यवहार व्यतीत करना चाहिये' इत्यादि। साधु-साध्वीके लिये इस प्रक दिग्बन्धका विधान तो सब आचार्योंको सम्मत है, लेकिन कुछ आचार्य ऐसा ही दिग्बन्ध अपने ग धर्मानुयायी श्रावक–श्राविकाओंको भी, श्रावकव्रतका नियम देते समय, कराते थे जो जिनेश्वर सू सम्मत नहीं था। इसलिये इस विधिको उन्होंने असदाग्रहमें उल्लिखित करके, इसको मिथ्यात्व प्रकट किया है। इसी प्रकारकी कुछ और भी क्रियाप्रवृत्तियां, जो उस समयके कुछ यति प्रचलित थीं परंतु जिनको जिनेश्वर सूरि अपने सिद्धान्तसे सम्मत नहीं मानते थे, उनकी गणना उ असदाग्रहके स्वरूपमें ग्रथित की हैं[1]।

मालूम देता है जिनेश्वर सूरिने अपने संप्रदायकी पुष्टि और वृद्धिके लिये नये नये जैन मन्दिर निर्माण करवाना और नये-पुराने शास्त्रोंकी प्रतिलिपियां करवा कर जैन ज्ञानभंडारोंका स्थापन करवाना महत्त्वका समझा था। इसलिये उन्होंने इस ग्रन्थमें, अनुकंपा नामक सम्यक्त्वके तृतीय लिंग प्रकर किसी तरह इस विषयका संबंध लगाकर, मन्दिर-निर्माण और पुस्तकालेखनका विषय भी इसमें

१ गिहिदिसिबन्धो तह णाहवंत अव्वहरणमच्छरो गुणिसु। अववायपयालंबण पयारणं मुद्धधम्माणं॥ ११
सड्याए समाइन्नं पुयं अन्नं च गीयपडिसिद्धं। तव्वंसजाण तव्बहुमाणाउ असग्गहो होइ॥ १२

लित कर दिया है । जिनमन्दिर बनवानेका उपदेश उन्होंने किस ढंगसे किया है इसका वर्णन पढने लायक है । लिखा है कि – जिस आत्माको सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है उसके मनमें, संसारके जीवोंके कष्टोंको देख कर, अनुकंपा होती रहती है; और वह सोचता रहता है कि किस तरह किसीका दुःख दूर करनेमें वह यथाशक्ति प्रयत्न करें । वह सोचता है कि संसारके दुःखोंसे मुक्त करनेवाला एक मात्र जैन धर्म है । जैन धर्मके पालनके सिवा और कोई सच्चा उपाय नहीं है । इसलिये जो जीव मिथ्यात्वमें लिपटे हुए हैं उनको, जैन धर्मके प्रति अनुराग कैसे उत्पन्न हो इसका वह विचार करता है और सोचता है, कि मैं अपने नीतिपूर्वक उपार्जित किये हुए धनसे ऐसा सुन्दर जिन मन्दिर बनवाऊं, जिसको देख कर गुणानुरागी जनोंको धर्मके बीजकी प्राप्ति हो । इसी तरह वैसा ही सुन्दर जिनबिंब (जैनमूर्ति) बनवाऊं जिसके दर्शनसे तथा पूजा-महोत्सव आदिके प्रभावसे गुणरागी मनुष्यको बोधी अर्थात् सम्यग् दर्शनका लाभ हो ।[1]

इसी तरह पुस्तकालेखनका उपदेश भी जिस ढंगसे किया है वह मनन करने लायक है । कहा है कि – जिनमन्दिरादिके निर्माणका जो उपदेश ऊपर दिया गया है वह सब विधिपूर्वक अर्थात् शास्त्रोक्त रीतिसे किया जाना चाहिये । शास्त्रका ज्ञान पुस्तकोंके पढनेसे होता है, अतः सम्यक्त्वधारक जीव दूसरोंकी अनुकंपाके निमित्त, पुस्तकालेखनमें प्रवृत्त होता है । वह सोचता है, जैन प्रवचनरूप अमृतश्रुतिके प्रभावसे मनुष्यको वस्तुके सत्यस्वरूपका ज्ञान होकर कुश्रुति (मिथ्याज्ञान)का नाश होता है । इसलिये जैन-शास्त्रोंको पुस्तकके रूपमें लिखवा लिखवा कर, उनका उपदेश करनेवाले साधुजनोंको समर्पित करना कल्याणकर है । यहीं पर जिनेश्वर सूरिने यह भी उपदेश किया है, कि इस प्रकार श्रावक न केवल जैन मतके शास्त्रोंका ही लेखन करावे किंतु व्याकरण, छंद, नाटक, काव्य अलंकारादि ग्रन्थोंका, तथा छहों दर्शनोंके तर्क ग्रन्थोंका, एवं ब्राह्मणोंके श्रुति, स्मृति, पुराणादि ग्रन्थोंका भी, लेखन कराकर जैन साधुओंको समर्पित करें । क्यों कि विना इन शास्त्रों और ग्रन्थोंके सम्यग् ज्ञानके, उपदेशक साधुजन, अन्य मतावलंबी विद्वानोंके विचारोंका सारासार भाव नहीं जान सकते और विना वैसे जाने, अपने सिद्धान्तोंका समर्थन और दूसरोंके सिद्धान्तोंका खण्डन आदि भी नहीं कर सकते । इसलिये श्रावकको ये सब शास्त्र-ग्रंथ आदि अवश्य लिखवाने चाहिये । उसको ऐसा विचारना चाहिये कि – प्रतिभा आदि गुणयुक्त जो साधुजन हैं उनको वसति, सयनाशन, आहार, ओषधि, भैषज्य, वस्त्र आदि वस्तुओंकी सदैव सहायता पंहुचा कर और पुस्तकोंका समर्पण कर, जैन शासनको अन्य दार्शनिकोंके आक्षेपोंसे सुरक्षित करूं और वैसा करके अन्य भव्यजनोंको जैन धर्ममें अनुरक्त करूं – इत्यादि[2] ।

---

१ सम्मद्दिट्ठी जीवो अणुकंपा परो सयावि जीवाणं । भाविदुहविप्पओगं ताण गणंतो विचिंतेइ ॥ ५३
नियसहावेण हया तावदभव्वा ण मोइउं सक्का । भवदुक्खाओ इमे पुण भव्वा परिमोयणीया उ ॥ ५४
संसारदुक्खमोक्खणहेउं जिणधम्ममन्तरा नन्नो । मिच्छत्तुदयसंगयजणाणं स य परिणमिज्जइ कहं नु ॥ ५५
नायज्जियवित्तेणं कारेमि जिणालयं महारम्मं । तद्दंसणाउ गुणरागिणो जंतुणो बीयलाभु त्ति ॥ ५६
कारेमि बिंबममलं दट्ठुं गुणरागिणो जओ बोहिं । सज्जो लभेज्ज अन्ने पूयाइसयं च दट्ठूणं ॥ ५७

२ अन्नेसिं पवत्तीए निबन्धणं होइ विहिसमारंभो । सो सुत्ताओ नज्जइ तं चिय लेहेमि ता पढमं ॥ ६१
जिणवयणामयसुइसंगमेण उवलद्ध वत्थुसब्भावं । कुस्सुइनियतभावा भयंति जिणधम्ममेगे उ ॥ ६२
जिणवयणं साहंता साहू जं तेवि साहणसमत्था । वायरणछंदनाडयकव्वालंकारनिम्माया ॥ ६३
छद्दरिसणतक्कविआ कुतित्थिसिद्धंतजाणया धणियं । ता ताण कारणे सव्वमेव इह होइ लिहणीयं ॥ ६४
पइभाइगुणजुयाण वसहीसयणासणाइणा निच्चं । आहारोसहिभेसज्जवत्थमाईहिं उवठंभं ॥ ६५
काऊण पुत्थयाइं समप्पियं सासणं कुतित्थीणं । अधरिसणीयमेयं काहामि तओ य जिणधम्मे ॥ ६

पिछले समयके जैन इतिहासका सिंहावलोकन करने पर, ज्ञात होता है कि जिनेश्वर सूरिके उपदेशको उनके अनुयायी श्रावकगणने बडी अच्छी श्रद्धाके साथ ग्रहण किया और इसको कार्यान्वित करनेमें बहुत ही उत्साह बतलाया। जिनेश्वर सूरिकी शिष्यपरंपराके अनुयायी होनेवाले श्रावकोंने पिछले सात सौ–आठ सौ वर्षोंमें, हजारों ही जैन मन्दिर बनवाये और लाखों जैन मूर्त्तियां तैयार करवाई। इसी तरह लाखों ही पोथियां (प्रतियां) जैन अजैन शास्त्रों एवं ग्रंथोंकी लिखवा लिखवा कर साधु-जनोंको समर्पित कीं और उनके संग्रहके सेंकडों ग्रन्थभण्डार स्थापित किये-करवाये।

जिनेश्वर सूरिने इस ग्रंथमें आगे चल कर यह भी एक बात कही है कि अनुकंपाशील व्यक्तिको चाणक्य, पंचतंत्र, कामंदक आदि राजनीति शास्त्रोंका उपदेश देना-लेना नहीं चाहिये। क्यों कि इनमें अनेक प्रकारके छल, कपट, प्रपंच, मित्रविरोध, कूटयुद्ध आदि प्रयोगोंका वर्णन किया गया है जिससे मनुष्य हिंसाकार्यमें प्रवृत्त होनेको उत्तेजित होता है। इसलिये इन हिंसा-उत्तेजक ग्रन्थोंका व्याख्यान करना उचित नहीं है।

इसी तरह ज्योतिष, अर्घकांड, मनुष्य, हस्ति और अश्व चिकित्साविषयक वैद्यक, धातुवाद और धनुर्वेद आदि विषयक ग्रन्थोंका व्याख्यान करना भी उचित नहीं है। क्यों कि इन ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारके जीव-जन्तु-विनाशक उपायोंका विवेचन किया हुआ है[1]। सर्व प्रकारके प्राणियोंके प्रति अनु-कंपाभाव रखनेवाले सम्यक्त्ववान् आत्माको किसी भी प्रकारके प्राणीके नाशका कोई विचार नहीं प्रदर्शित करना चाहिये।

राजकीय, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोणसे अहिंसा तत्त्वके विवेचकों और प्रतिपादकोंके लिये जिनेश्वर सूरिका यह कथन अवश्य विचारणीय और विवेचनीय है।

इस ग्रन्थके आस्तिक्य लिंगवर्णन नामक ५ वें प्रकरणमें, कुछ दार्शनिक विचारोंकी मीमांसा की गई है जिनमें बौद्ध, सांख्य, मीमांसा, न्याय और वेदान्त विषयक सिद्धान्तोंकी आलोचना-प्रत्यालोचना मुख्य है। इनमें जैन दृष्टिसे आत्मवाद, सर्वज्ञवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, मुक्तिवाद आदि मतोंका स्थापन अथवा निरसन किया गया है। जैन दर्शनके सिद्धान्त ही आत्माको मुक्ति प्राप्त करानेवाले हैं ऐसी भावना जिसकी हो वह सम्यग्दृष्टि आत्माका आस्तिक्य नामक लक्षण है।

## संस्कृत विवरण–

जैसा कि ऊपर सूचित किया है मूलरूपसे तो यह प्रकरण १०१ गाथाका एक छोटासा ही ग्रन्थ है। परंतु इसपर व्याख्यारूपसे जिनपति सूरिने जो संस्कृतमें विस्तृत विवरण लिखा है उसका ग्रन्थ परिमाण कोई ७–८ हजार श्लोक जितना होगा। इस विवरणमें व्याख्याताने मूल ग्रन्थके विचारोंको खूब अच्छी तरह विस्तृत रूपमें विवेचित किये हैं और उनके समर्थनमें जगह जगह दूसरे शास्त्रोंके प्रमाणोंको उद्धृत कर ग्रन्थोक्त बातोंकी पुष्टि करनेका यथेष्ट प्रयत्न किया है। इस विवरणमें आस्तिक्य नामक लिंगके विवेचनमें भिन्न भिन्न दर्शनोंके उक्त आत्मवादादि सिद्धान्तोंकी जो आलोचना-प्रत्यालोचना की है वह इतनी विस्तृत और प्रौढ है कि उसे दार्शनिक चर्चाका एक स्वतंत्र एवं सुन्दर संदर्भ-ग्रन्थ कहा जा सकता है।

---

१ चाणक्क-पंचतंतय- कामंदयमाइरायनीइओ। वक्खाणंतो जीवाणं न खलु अणुकंपओ होइ॥ ७१
तह जोइसग्घकंडाइ विजयं मणुयतुरयहत्थीणं। तहा हेमजुत्तिमिसुकलमक्खायंतो हणे जीवे॥ ७२

## ( ५ ) प्रमालक्ष्म अथवा प्रमालक्षण ।

जिनेश्वर सूरिके रचे हुए ग्रन्थोंमें यह एक स्वतंत्र और मौलिक रचना है । मूल संस्कृत श्लोकबद्ध है और इसपर 'स्वोपज्ञ' ऐसी विस्तृत संस्कृत गद्य व्याख्या है । मूलके सब मिलाकर कोई ४०५ श्लोक हैं । जैन न्यायशास्त्रके आद्य प्रतिष्ठापक आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका बनाया हुआ 'न्यायावतार सूत्र' नामका ३२ श्लोकोंवाला एक छोटासा ग्रन्थ है जो जैन साहित्यमें बहुत ही प्रसिद्ध एवं प्रमाणभूत शास्त्र है । जैन न्यायशास्त्रका यही आदि ग्रन्थ माना जाता है । इसका आद्यश्लोक इस प्रकार है–

**प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।**
**प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥**

समग्र ग्रंथका यह आदि 'शास्त्रार्थसंग्रह'रूप श्लोक है । इसमें कहे गये पदार्थोंका विस्तृत और विशद विवेचन करनेकी दृष्टिसे जिनेश्वर सूरिने वार्तिकके रूपमें ४०० श्लोक बनाये और फिर उनपर गद्यमें विशेष विवेचनात्मक वृत्ति बनाई । यह वृत्ति अनुमानतः कोई ४ हजार श्लोकप्रमाण जितनी बडी है ।

इस ग्रन्थमें जिनेश्वर सूरिने जैनदर्शनसम्मत प्रमाण तत्त्वकी विस्तारसे चर्चा की है और प्रमाण ज्ञानके लक्षणका स्वरूप प्रदर्शित किया है । इसीलिये इसका नाम 'प्रमालक्ष्म' अथवा 'प्रमालक्षण' ऐसा रखा गया है ।

इस ग्रन्थकी रचना करनेमें मुख्य विचार जो प्रेरक हुआ है, उसका उल्लेख, ग्रन्थके अन्तमें जिनेश्वर सूरिने स्वयं किया है । उसका भावार्थ यह है कि – जिनेश्वर सूरिके समयतकमें, श्वेताम्बर संप्रदायके किसी विद्वान्‌ने कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं बनाया था जिसमें जैनसम्मत प्रमाण ज्ञानका – अर्थात् प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाणोंका – लक्षण और स्वरूप स्पष्ट किया गया हो । इनके पहले सिद्धसेन, मल्लवादी, हरिभद्र और अभयदेव जैसे बहुत समर्थ और प्रखर ऐसे जो जैन श्वेतांबर दार्शनिक आचार्य हो गये हैं और जिन्होंने दर्शनशास्त्र एवं प्रमाणशास्त्रके साथ संबंध रखनेवाले ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण और प्रौढ कोटिके ग्रन्थोंकी जो रचनाएं की हैं, उनमें प्रतिपक्षी दार्शनिकोंके किये गये प्रमाणोंके लक्षणोंके खण्डनद्वारा ही स्वकीय सिद्धान्तोंका और मन्तव्योंका समर्थन किया गया है । परन्तु स्वकीय मन्तव्यानुसार प्रमाणके लक्षण आदि प्रकट रूपसे उन ग्रंथोंमें नहीं बताये गये हैं । उन आचार्योंका यह खयाल रहा कि प्रतिपक्षीके किये गये लक्षणोंको यदि हम दूषित सिद्ध कर सकते हैं और उस प्रकारसे उनके सिद्धान्तोंका खण्डन कर सकते हैं, तो फिर हमें अपने नये लक्षणोंका उद्भावन करनेकी आवश्यकता ही क्या है । और यदि अन्य दार्शनिकोंका बताया हुआ लक्षण दोषशून्य है, तो फिर हमें उसका स्वीकार करनेमें आपत्ति भी क्यों होनी चाहिये ? क्यों कि जो प्रमाण वास्तवमें निर्दोष अर्थात् सत्य है वह सर्वत्र और सर्वदा सत्य ही रहेगा; उसको दोषदुष्ट अथवा असत्य कौन सिद्ध कर सकता है ? । और जो इस प्रकार वास्तविक सत्य प्रमाण है वही जैनसम्मत सिद्धान्त है । इस उदार विचारसरणिके कारण श्वेतांबर संप्रदायके पूर्वाचार्य, बौद्ध और ब्राह्मण न्यायके ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी उसी उदार दृष्टिसे करते रहते थे; और उनके अध्ययन-मननसे अपना न्यायशास्त्रविषयक ज्ञान परिपुष्ट और परिवर्द्धित किया करते थे । वे न केवल अन्य दार्शनिक ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन कर के ही सन्तुष्ट रहते थे परंतु वैसे कुछ ग्रन्थोंपर तो उन्होंने स्वयं टीका-टिप्पण आदि भी बनाये और उनका प्रचार एवं महत्त्व भी बढाया है । दिङ्नागाचार्य विरचित 'न्यायप्रवेश' सूत्र पर हरिभद्रसूरिकृत टीका और 'धर्मोत्तरवृत्ति' पर मल्लवादीकृत टिप्पण तथा भासर्वज्ञकृत 'न्यायसार' पर जयसिंहसूरिकृत विवृति आदि कुछ विशिष्ट कृतियां, इसके उदाहरणस्वरूप, आज भी विद्यमान हैं ।

श्वेतांबर संप्रदायके विद्वानोंकी इस प्रकारकी नीति-रीतिके सम्मुख, दिगम्बर संप्रदायके विद्वानोंकी विचारसरणि कुछ ठेठसे ही भिन्न प्रकारकी रही है। अन्य सांप्रदायिक साहित्यके अध्ययन-मननके विषयमें वे उतने उदार विचारके नहीं रहे मालूम देते। अपने संप्रदायके आचार्यों द्वारा बनाये गये शास्त्रों और ग्रन्थोंके सिवा अन्य सांप्रदायिक ग्रन्थों–शास्त्रोंका पठन-पाठन करनेकी ओर उनका समादरभाव प्रायः नहींसा रहा है। यहां तक कि श्वेताम्बराचार्यों द्वारा रचित जैन साहित्यका भी वे प्रायः स्वाध्याय करना पसन्द नहीं करते रहे। इसलिये प्रारंभहीसे दिगम्बर आचार्योंने आगम, पुराण, चरित, कथा, काव्य, व्याकरण और न्याय आदि विषयक अपने संप्रदायके उपयुक्त साहित्यका स्वतंत्र सर्जन करनेका प्रयत्न किया है। वैसे तो श्वेताम्बर आचार्योंने भी कथा, चरित और अन्य धार्मिक एवं तात्त्विक विषयके ग्रन्थोंकी स्वतंत्र रचना बहुत प्राचीन समयसे ही करनीं प्रारंभ कर दी थीं और इस विषयका तो श्वेतांबर साहित्य, दिगम्बरीय साहित्यसे अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन और अधिक समृद्ध भी है। तथापि व्याकरण और प्रमाणशास्त्र, जो सर्वसामान्य ज्ञानका विषय है और सभी मतों–दर्शनोंको समान रूपसे उपादेय है उस विषयके अपने स्वतंत्र ग्रन्थोंकी रचना करने तरफ श्वेताम्बर आचार्योंका उस समयतक कोई खास लक्ष्य नहीं गया था। दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद देवनन्दीने विक्रमकी ६ ठी ७ वीं शताब्दीके आसपास पाणिनि, इन्द्र, चान्द्र आदि व्याकरण ग्रन्थोंका आलोडन कर, 'जैनेन्द्रव्याकरण' नामक स्वतंत्र ग्रन्थकी रचना की और फिर उस संप्रदायके अनुयायियोंमें उसीके पठन-पाठनका खास प्रचार होता रहा। उसके बाद ८ वीं ९ वीं शताब्दीके मध्यमें, शाकटायनाचार्य नामक यापनीयसंघके आचार्यने 'शाकटायन' नामका एक और स्वतंत्र विस्तृत व्याकरण ग्रन्थ बनाया। इसीतरह भट्ट अकलंक देव, विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी आदि आचार्योंने जैनसिद्धान्तसम्मत प्रमाण तत्त्वके लक्षण आदिका निरूपण करनेवाले छोटे बडे कई तर्कशास्त्रीय ग्रन्थोंकी रचनाएं कीं जिससे उक्त संप्रदायके अभ्यासियोंमें उन उन कृतियोंके पठन-पठनका खूब प्रचार रहा। इसके मुकाबलेमें श्वेतांबर संप्रदायमें जिनेश्वर सूरिके प्रादुर्भावके समय तक–अर्थात् विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके मध्यकाल तक–श्वेतांबर आचार्य द्वारा बनाया गया कोई स्वतंत्र व्याकरणविषयक ग्रन्थ अथवा जैन ही कोई प्रमाणप्रतिपादक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। श्वेतांबर संप्रदायमें, जैसा कि ऊपर सूचित किया है, जैन एवं ब्राह्मण संप्रदाय रचित लक्षण ग्रन्थोंका ही विशेष पठन-पाठन प्रचलित था। इस-लिये सांप्रदायिक प्रतिस्पर्द्धाके संघर्षप्रसंगमें, दिगंबर संप्रदायकी ओरसे श्वेतांबर संप्रदायके विषयमें, शायद ऐसे आक्षेप किये जाते होंगे कि–श्वेतांबरोंके अपने निजी कोई न्याय, व्याकरणादिके लक्षणप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं हैं अतएव इनका संप्रदाय पुरातन न होकर नवोत्पन्न है–ये पर लक्ष्मोपजीवी हैं–इनके अपना मौलिक सर्जन नहीं है–इत्यादि। इस प्रकारके कुछ आक्षेपोंसे प्रेरित होकर जिनेश्वर सूरिके [illegible] बुद्धिसागराचार्यने एक नया स्वतंत्र व्याकरण ग्रन्थ बनाया और जिनेश्वर सूरिने न्यायशास्त्र-प्रतिपादित 'प्रमालक्ष्म' ग्रन्थ बनाया। इस बातका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकारने निम्नलिखित श्लोकोंमें किया है–

प्रमाणवादिनां तस्माद्वाद एव विचारणा। साधनाभासमन्यैस्तु वादिभिरभियुज्यते ॥ ४००
तेनावधीरणाप्यत्र महतां लक्ष्मशासने। परपक्षनिरासो हि साधनाभासतोऽप्यसौ ॥ ४०१
... ... ... ... ... ... ...
ऐश्वर्यभागिनि यत्तु प्रवृत्तिरावयोरिह। तत्र दुर्जनवाक्यानि प्रवृत्तेः सन्निबन्धनम् ॥ ४०३
शब्दलक्ष्म प्रमालक्ष्म यदेतेषां न विद्यते। नादिमन्तस्ततो ह्येते परलक्ष्मोपजीविनः ॥ ४०४
श्रीबुद्धिसागराचार्यैर्वृत्तैर्व्याकरणं कृतम्। अस्माभिस्तु प्रमालक्ष्म वृद्धिमायातु सांप्रतम् ॥ ४०५

जिनेश्वर सूरिने प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रमाण और नयादि विषयोंकी जो चर्चा की है उसका उपसंहार करते हुए ये श्लोक लिखे हैं। इनका भावार्थ यह है कि—पक्ष और प्रतिपक्षको लेकर जो तत्त्वचर्चा की जाती है उसके दो स्वरूप होते हैं। इनमें एक तो है वादात्मक स्वरूप—जिसमें विशुद्ध प्रमाणको लक्ष्य करके तत्त्व-विचार किया जाता है। दूसरा है जल्पात्मक स्वरूप—जिसमें साधनाभासोंका प्रयोग होता है। जो जिज्ञासु-भावसे वस्तुका सत्य स्वरूप जानना चाहते हैं उनकी तत्त्वचर्चा वादस्वरूप होती है और जो प्रतिपक्षका खण्डन और स्वपक्षका मण्डन करनेकी विजिगीषासे प्रेरित होकर, पदार्थमीमांसा करते हैं, उनकी वह चर्चा जल्पस्वरूप होती है। अतएव जो प्रमाणवादी हैं वे 'वाद'हीकी विचारणा पसन्द करते हैं और जो अन्य वादी हैं वे साधनाभासों द्वारा 'जल्पका' आश्रय लेते हैं। अतः जिनको परपक्षका निरास करना ही अभीष्ट है वे साधनाभासोंका ही खास विचार करते रहते हैं। उनका मन्तव्य है कि परपक्षका निरास करनेसे स्वपक्षका समर्थन स्वयं हो जायगा; उसके लिये अलग प्रयास करनेकी क्या जरूरत है?। इसलिये वे किसी प्रमाणस्वरूपका लक्षण बतलानेकी आवश्यकता नहीं समझते। यही कारण है कि हरिभद्र और अभयदेव जैसे समर्थ आचार्योंने अपने 'अनेकान्तजयपताका' और 'सम्मतितर्कटीका' जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थोंमें, परपक्षका निरास करनेका ही प्रयत्न किया है। उन्होंने लक्षणप्रति-पादनकी तरफ अपनी अवधीरणा—उपेक्षा प्रकट की है। इसीतरह मल्लवादीने भी 'नयचक्र' ग्रन्थकी रचनामें अपना आदर प्रकट किया परंतु प्रमाणके लक्षण बतलानेका कोई प्रयास नहीं किया[1]। इससे जिज्ञासुओंको यह प्रश्न होगा, कि फिर जिनेश्वर सूरिको इस प्रमाणलक्षणके प्रतिपादक ग्रन्थके रचनेकी क्यों आवश्यकता प्रतीत हुई? इसके उत्तरमें वे कहते हैं, कि उन बडे आचार्योंके उपेक्षित कार्यमें, हम दोनों (जिनेश्वर और बुद्धिसागर) गुरुभ्राताओंकी जो प्रवृत्ति हुई है, उसके निमित्त हैं दुर्जनोंके वाक्य[2]। वे दुर्जन कहते रहते हैं, कि इन (श्वेतांबरों)के पास अपने निजके बनाये कोई शब्दलक्षण और प्रमाणलक्षण विषयक ग्रन्थ नहीं हैं; इसलिये ये परलक्ष्मोपजीवी होकर इनका मत आदिकालसे चला हुआ नहीं है। इसलिये बुद्धिसागर सूरिने पद्यबन्ध ऐसा स्वतंत्र व्याकरण शास्त्र बनाया है और हमने यह प्रमालक्ष्म ग्रन्थ बनाया है; जो अब वृद्धिको प्राप्त हो ऐसी हमारी कामना है[3]।

माल्रम देता है कि जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर आचार्यके इस प्रकार, न्याय और व्याकरणके लक्षणप्रतिपादक ग्रन्थोंके प्रणयनकी प्रवृत्तिका प्रारंभ करने बाद, उनके पीछे होनेवाली पीढीमें इस

---

१ अत एव श्रीहरिभद्रसूरिपादैः श्रीमदभयदेवसूरिपादैश्च परपक्षनिरासे तैर्यतितम्—अनेकान्तजयपताकायां तथा सम्मतिटीकायामिति। अत एव श्रीमन्महामल्लवादिपादैरपि नयचक्र एवादरो विहितः। न तैरपि प्रमाणलक्षणमाख्यातं परपक्षनिर्मथनसमर्थैरपि। परपक्षनिरासादपि स्वपक्षस्य पारिपोष्यात् सिद्धिरिति। प्रमालक्ष्म, पृ॰ ८९

२ कीदृशानि दुर्जनवाक्यानि इत्याह—'शब्दलक्ष्म॰'—शब्दलक्ष्म व्याकरणम्, श्वेतभिक्षूणां स्वीयं न विद्यते। तथा प्रमालक्ष्मापि प्रमाणलक्षणमपि तेषां स्वीयं न विद्यते। नादिमन्तो नैवादावेव एते संभूताः, किन्तु कुतोऽपि निमित्तादर्वाचीना एते जाता इति। ततो ह्येते परलक्ष्मोपजीविनः बौद्धादिप्रणीतलक्षणमुपजीवितुं शीलाः।

३ श्रीबुद्धिसागराचार्यैः पाणिनि-चन्द्र-जैनेन्द्र-विश्रान्त-दुर्गटीकामवलोक्य, वृत्तबन्धैः धातुसूत्रगणोणादिवृत्तबन्धैः कृतं व्याकरणं संस्कृतशब्द-प्राकृतशब्दसिद्धये। अस्माभिस्तु प्रमालक्ष्म=प्रमाणलक्षणम्। अत एव पूर्वाचार्यगौरव-दर्शनार्थं वार्तिकरूपेण, तत्रापि स्वाभिप्रायनिवेदनार्थं वृत्तिकरणेन च। प्रमालक्ष्मवृत्ति, पृ॰ ९०

इस कथनके करनेमें जिनेश्वर सूरिका आशय यह माल्रम देता है कि दिगंबर विद्वानोंकी तरह श्वेताम्बराचार्योंमें ऐसे स्वतंत्र शब्दशास्त्र अथवा प्रमाणशास्त्र विषयक ग्रंथोंकी रचना करनेकी शक्ति या योग्यताका अभाव था सो बात नहीं है। परंतु उनको वैसा प्रयास करनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई थी; इसलिये उन्होंने ऐसे कोई ग्रन्थोंका प्रणयन करनेका खास प्रयत्न नहीं किया।

प्रकारके साहित्यके सर्जनका उत्साह खूब बढा। वादी देवसूरिने न्यायशास्त्रके सभी अंग-प्रत्यंगों लक्षण प्रतिपादन करनेवाला 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' नामक बहुत प्रौढ और प्रकृष्ट सूत्रात्मक ग्रन्थ बना और उस पर 'स्याद्वादरत्नाकर' नामकी स्वोपज्ञ ऐसी बहुत ही विस्तृत व्याख्या बनाई जो ८४००० श्लो प्रमाण जितनी बडी थी। ऐसा ही एक बडा सूत्रग्रन्थ 'कलिकालसर्वज्ञ' बिरुद धारक हेमचन्द्राचा 'प्रमाणमीमांसा' नामक बनाया; तथा अन्य अन्य आचार्योंने भी इस प्रकारके छोटे बडे अनेक प्रकरणग्र बनाये। व्याकरणके विषयमें भी हेमचन्द्राचार्यने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' नामक सर्वांग परिपूर्ण सर्वोत्कृष्ट कोटिमें गिना जाय ऐसा महान् शब्दशास्त्र बनाया। वैसे ही मलयगिरि सूरिने भी 'मलयगिरि व्याकरण' नामक स्वतंत्र ग्रन्थकी रचना की; एवं 'गणरत्नमहोदधि' नामक आदि अन्य ग्रन्थों भी अन्यान्य आचार्योंने रचनाएं कीं। इस तरह जिनेश्वर सूरिके बाद, कोई सौ वर्षके भीतर ही, श्वेतां साहित्यका भंडार, व्याकरण और प्रमाण विषयके लक्षणप्रतिपादक ऐसे अनेक उत्तम प्रकारके ग्रन्थरत्नों वृद्धिसे अलंकृत होकर, संप्रदायानुयायियोंको गौरवका अनुभव कराने लगा।

जिनेश्वर सूरि चाहते तो वे अकलंक देवके 'प्रमाणसंग्रह' 'न्यायविनिश्चय' आदि तथा माणिक्यनन्दि 'परीक्षामुख' आदि ग्रन्थोंकी तरह स्वतंत्र प्रकरणग्रन्थ बना सकते; परंतु वैसा न करके उन्होंने सिद्धसे सूरिके उक्त 'न्यायावतार' ग्रन्थमें ग्रथित आदि 'शास्त्रार्थसंग्रह' श्लोकको ही आधारभूत मान कर, उसके वार्तिकरूपमें अपने ग्रन्थकी जो रचना की, इसमें उनका लक्ष्य अपने पूर्वाचार्यकी कृति तरफ बहुमान प्रदर्शित करनेका भी रहा है—ऐसा उनके उल्लेखसे स्पष्ट ज्ञात होता है। उनके उल्लेखसे यह भी सिद्ध होता है कि जैन वाङ्मयमें न्यायतत्त्वकी प्रस्थापना करनेवाला वह 'न्यायावतार' ही आद्य कृति है और सिद्धसेन दिवाकर ही उस तत्त्वके प्रस्थापक आद्य सूरि हैं[1]।

प्रायः जिनेश्वर सूरिके ही समकालीन होनेकी जिनकी संभावना की जा सके ऐसे अन्य एक शान्तिसूरि नामक आचार्यने भी सिद्धसेन दिवाकरके इसी आद्य श्लोक पर, जिनेश्वर सूरिके समान ही, स्वतंत्र वार्तिक श्लोक और उनपर 'विचारकलिका' नामक विशद वृत्ति बनाई है। इन दोनों कृतियोंका परस्पर मिलान करनेसे ज्ञात होता है, कि ये कृतियां परस्पर एक-दूसरे ग्रन्थकारके देखनेमें नहीं आईं, और अतः इस एक ही सूत्रग्रन्थ पर, इस प्रकार दो वार्तिक-रचनाएं एक साथ निर्माण हुईं। इससे लाभ यह हुआ कि अभ्यासियोंको ग्रन्थके अध्ययनमें अधिक विचारकी सामग्री उपलब्ध हुई। क्यों कि शान्तिसूरिने अपने वार्तिकमें एक प्रकारसे विवेचना की, तो जिनेश्वर सूरिने अपने वार्तिकमें दूसरे प्रकारसे विचारणा की। अतः ये दोनों कृतियां एक दूसरीकी पुनरावृत्तिरूप न होकर पूरक रूप होने जैसी बनी हैं[2]।

जिनेश्वर सूरिने इस ग्रन्थमें, जैनसम्मत प्रमाणके लक्षण प्रस्थापित करते हुए अन्यदार्शनिक लक्षणोंका, संक्षेपमें परंतु सारभूत विवेचनके साथ, निरसन किया है। इस निरसनमें मुख्य करके बौद्ध, मीमांसक, नैयायिक और सांख्य जैसे मौलिक दर्शनोंके प्रमाणविचारकी आलोचना की गई है। इस आलोचनामें, बौद्ध दार्शनिकोंमेंसे खास करके दिग्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तिरक्षित जैसे सुप्रसिद्ध और प्रमाणभूत ग्रंथकारोंके विचारोंका ऊहापोह किया गया है। मीमांसकोंमें खास करके महातार्किक भट्ट कुमारिलके

---

१ ग्रन्थारंभमें प्रास्तविकरूपसे जो ७ पद्य लिखे हैं उनमें ४ थे पद्यके चतुर्थ पादमें यह भाव व्यक्त किया गया है। यथा–'श्लोकैर्वार्तिकमाद्यसूरिसुकृतौ टीकां च तत्रारभे।'

२ शान्तिसूरिकी यह प्रौढ कृति भी इसी ग्रन्थमालामें, इसी ग्रन्थके प्रकाशनके साथ साथ, प्रकट हो रही है। इसका संपादन पं० श्रीदलसुख मालवणियाने किया है जो अपने ढंगका एक अपूर्व और विशिष्ट संस्करण है।

मन्तव्योंका प्रतिक्षेप किया गया है। सांख्यमें सुप्रसिद्ध शास्त्रकार ईश्वरकृष्णके कथनोंका और नैयायिकोंमें सूत्रकार गौतम और उसके भाष्यकार वात्स्यायनके तत्तद्विषयक सिद्धान्तोंका परिहार प्रदर्शित किया गया है।

प्रमाणात्मक ज्ञानके स्वरूप, संख्या और लक्षण आदिके विषयमें जैन दर्शनका सभी अन्य दर्शनोंके साथ कुछ-न-कुछ मतभेद है; इसलिये प्रमाणतत्त्वका विचार करते समय उन मतभेदोंका विचार करना आवश्यक हो जाता है और तत्तद् दर्शनोंके मौलिक सिद्धान्तोंका आलोचन-प्रत्यालोचन करना भी अनिवार्य हो जाता है। इसीतरह अन्य दार्शनिकोंका भी दूसरे-दूसरे दर्शनोंके साथ कुछ-न-कुछ मतभेद है ही और इसीलिये उन्होंने भी अपने-अपने सिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें अन्यान्य दार्शनिकोंके विशिष्ट सिद्धान्तोंकी यथेष्ट आलोचना-प्रत्यालोचना की है।

## प्रमालक्षणमें विवेचित विचारोंका संक्षिप्तसार।

प्रस्तुत ग्रन्थमें जिनेश्वर सूरिने प्रारंभके १९ श्लोकोंमें, जैनसम्मत **प्रत्यक्ष प्रमाण**का विचार किया है और इसके अन्तर्गत सर्वज्ञकी सिद्धि और वह सर्वज्ञ जिन ही हो सकता है अन्य नहीं, यह संक्षेपमें स्थापित किया है। प्रत्यक्ष प्रमाणके स्वरूपके विषयमें बौद्ध तार्किकोंका जो विधान है उसका संक्षेपमें खण्डन कर, सर्वज्ञके विरुद्धमें जो कुमारिलका कथन है उसका निरसन किया है। इसीमें नैयायिकदर्शन-सम्मत सर्वज्ञ ईश्वरके अस्तित्वका एवं उसके जगत्कर्तृत्वका अभाव भी सूचित किया गया है।

२१ वें श्लोकसे लेकर ११३ वें श्लोक तक, **परार्थ अनुमान प्रमाण**का वर्णन है। इसमें अनुमान प्रमाणके साधक-बाधक हेतुओं, हेत्वाभासों आदिका विस्तारसे विवेचन किया है और अन्यान्य दार्शनिकोंके दिखाए हुए तत्तद्विषयोंके हेतु आदिकोंका ऊहापोह किया है।

११४ वें श्लोकसे लेकर ३१६ वें श्लोक तकमें, **शब्द प्रमाण**की विस्तृत चर्चा उपस्थित की गई है। ग्रन्थका विशेष भाग इसी प्रकरणमें व्याप्त है। शब्द प्रमाणसे तात्पर्य है **आगम प्रमाण**का। मोक्षमार्गका स्वरूप बतलानेमें एक मात्र आगम ही प्रमाणभूत साधन है। जीवात्माका पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरकगमन और मोक्षप्राप्ति आदि जैसी बातोंको केवल आगमके आधार पर ही हम मानते हैं। इसलिये मनुष्यको पारलौकिक जीवनकी दृष्टिसे आगम प्रमाणका स्वरूप जानना परमावश्यक है।

दर्शनशास्त्रकारोंने आगमका अर्थ बतलाया है 'आप्तवचन' – अर्थात् आप्तपुरुषका जो वचन अथवा उपदेश है उसीका नाम आगम है। इसलिये दर्शनशास्त्रोंमें आप्तपुरुषका भी लक्षण और स्वरूप बतलाना आवश्यक हुआ। अतः जिनेश्वर सूरिने इस शब्दप्रमाणवाले प्रकरणमें आगम और आप्तपुरुषके विषयमें विस्तारसे चर्चा की है। इनकी चर्चाका निष्कर्ष, जो इन्होंने प्रकरणके प्रारंभमें ही सूचित कर दिया है, उसका आशय है कि सर्वविद् वीतराग पुरुषका जो वचन है वही शब्द प्रमाण है।[1]

परंतु, इस विधानके विरुद्धमें तो दार्शनिकोंकी अनेक विप्रतिपत्तियां हैं। दर्शनशास्त्रके वाद-विवादका सबसे बडा और सबसे मुख्य विषय तो यही रहा है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकोंके नाना-प्रकारके मतामत इस विषयमें उपस्थित हैं। ब्राह्मणधर्म का सबसे प्रधान और प्राचीन संप्रदाय जो मीमांसक मत या वैदिक मतके नामसे प्रसिद्ध है उसमें सर्वविद् या सर्वज्ञ पुरुषका अस्तित्व ही मान्य नहीं है। उनका मन्तव्य है कि भूत, भविष्य और वर्तमान कालके सब भावों और सब पदार्थोंके जाननेकी शक्तिवाला पुरुष न कोई, कभी, कहीं हुआ है न हो सकता है। इसलिये सर्वज्ञ जैसी कोई व्यक्तिका अस्तित्व उनको स्वीकार्य

१ 'सर्वविद्वीतरागोक्तः सोऽपि तस्या निबन्धनम् ॥'; तथा 'सर्वविद्वीतरागस्य वचनं नापरोऽप्यसौ ॥'

नहीं है। पारलौकिक जीवनके मार्गका उपदेश करनेवाला उनका आगम **वेद** है। वेदमें जो प्रतिपादि किया गया धर्म या कर्मका विचार है वही श्रेयस् है, वही मोक्षमार्ग है। वेदकी उत्पत्ति कब हुई इसका किसीको ज्ञान नहीं है, अतः वह सनातन अर्थात् अनादिकालीन है; उसका कर्ता कोई नहीं। इसलिये वह अपौरुषेय है।

इस वेदवादी मीमांसक मतके विरुद्ध, बौद्ध और जैन दोनों मतोंने बडा प्रचंड प्रतिवाद उपस्थित किया है। इनका कहना है कि वेद सद्धर्म या मोक्षमार्गका प्रतिपादक नहीं हो सकता। उसमें तो हिंसा और अभिचार जैसे दुष्कर्मोंका विधान किया गया है। यदि हिंसा और अभिचारके कर्म भी धर्मके निमित्त हो सकते हैं तो फिर अधर्म किस कर्मका नाम रहा। जिनेश्वर सूरिने यह भी दिखलाया है कि वेदमें न केवल यज्ञ-यागके रूपमें होनेवाली हिंसा ही विहित बतलाई गई है, अपि तु मातृसंभोग और भगिनी-संभोग आदि जैसे लोकविरुद्ध कर्म भी विहित बतलाये गये हैं[1]। ऐसे हिंसाप्रधान और लोकविरुद्धाचार प्रतिपादक आगमका प्रामाण्य कैसे स्वीकार किया जाय। इसलिये –

**तस्मादतीन्द्रियार्थेषु सर्वज्ञगदितागमः। मानमभ्युपगन्तव्यो, न वेदस्तात्त्विको यतः॥ २०५**

अर्थात्–अतीन्द्रिय (पारलौकिक) भावोंके विषयमें सर्वज्ञका कहा हुआ जो आगम है वही प्रमाण-भूत मानना चाहिये, न कि अतात्त्विक ऐसा वेद। वेदकी इस प्रकारकी अनागमत्व विषयक आलोचना-प्रत्यालोचना करते समय, बौद्ध एवं जैन दार्शनिकोंने उसके सनातनत्व और अपौरुषेयत्वका भी खण्डन करनेका यथेच्छ प्रयत्न किया है।

वैदिक, बौद्ध और जैन दार्शनिकोंके बीचमें इस विषयके वाद-विवादकी परंपरा बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है। तीनों मतोंके दार्शनिक ग्रन्थ इस विषयके खण्डन-मण्डनात्मक तर्क-वितर्कोंसे भरे पडे हैं। पूर्वकालीन आचार्योंके प्रदर्शित किये गये तर्क-वितर्कोंके उत्तर, उनके उत्तरकालमें होनेवाले आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें देनेका प्रयत्न किया और फिर उनके प्रत्युत्तर, उनके बाद होनेवाले आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें ग्रथित करनेका उद्योग किया।

मीमांसक मतके सबसे बडे समर्थक और सबसे बडे आचार्य भट्ट कुमारिल हुए, जिन्होंने अपने 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' नामक प्रकृष्ट ग्रन्थमें, वेदके विरुद्ध जिन-जिन मतों-संप्रदायों द्वारा जो-जो आक्षेप किये गये उनका, बहुत ही मार्मिक, तीव्र और उदग्र युक्तियों द्वारा खण्डन किया। इसके साथ उन्होंने बौद्ध और जैन आदि दर्शनोंके कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर भी, वैसी ही प्रचण्ड शैलीसे, बहुत उग्र आक्षेप किये। पुनः भट्ट कुमारिलके बाद होनेवाले बौद्ध, जैन आदि विद्वानोंने, उनके किये गये उन-उन आक्षेपोंके प्रत्युत्तर देनेमें भी वैसा ही उग्र और तीव्र प्रयत्न किया है। दर्शनशास्त्र विषयका शायद ही कोई ऐसा प्रसिद्ध ग्रन्थ हो जिसमें कुमारिलके प्रतिपादित तर्कों और विचारोंका ऊहापोह न किया गया हो।

---

1 ऐसे लोकविरुद्ध कर्मके कुछ वैदिक उद्धरण भी जिनेश्वर सूरिने अपनी व्याख्यामें उद्धृत किये हैं। यथा—

'यद्वा लोकविरुद्धेऽपि' वेदे। न खलु लोके मातृभोगादि प्रशस्यते। यथा चोक्तम्–ऋग्वेदे त्रयस्त्रिंशतिमे ब्राह्मणे हरिचन्द्रकथायाम्। पाठः–'नापुत्रस्य गतिरस्तीति सर्वे पशवो विदुः। तस्मात् पुत्रार्थं मातरं स्वसारं चाभिगच्छेदिति। एष पन्था उभयगामी'त्यादि। तथा सामवेदे सौमित्रिकाणां गोसवे यज्ञोपदेशः। पाठः — 'एतत्ते स्वभगे भगं आलिप्य मधुसर्प्पिषा जिह्वया लेलिहामी'त्यादि। न चैतल्लोके सम्मतम्। न च लोकप्रतीतिबाधितं गण्यं साध्यमित्यलं विस्तरेण। प्रमालक्षण–व्याख्या, २४७.

वेदके अपौरुषेयत्व, अनादित्व और आगमत्वकी सिद्धि करते हुए कुमारिलने खास करके जैनोंके सर्वज्ञवाद-केवलज्ञानकी भी मार्मिक आलोचना की है और उसमें यह स्थापित करनेका प्रयत्न किया, कि जैन जैसा कहते हैं वैसा सर्वज्ञ या केवलज्ञानी न कोई कभी कहीं हुआ है न हो सकता है । यदि कहा जाय कि जिन अर्थात् अर्हन् वैसे सर्वज्ञ थे, तो फिर बुद्ध और कपिल – जिनको कि तत्तद्दर्शन वाले वैसे सर्वज्ञ मानते हैं, सर्वज्ञ नहीं थे इसमें क्या प्रमाण है ? । और यदि वे भी सर्वज्ञ थे, तो फिर उन सबके कथित सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध कैसे ? इसलिये न अर्हन् सर्वज्ञ थे, न बुद्ध और नाही कपिल । इस तरह सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होने पर, उसका कहा हुआ वचन भी कैसे प्रमाणभूत आगम समझा जाय ? । इसलिये धर्माधर्मविषयक विचारमें अपौरुषेय वेद ही प्रमाणभूत आगम हो सकता है, अन्य नहीं । और इस अपौरुषेय वेदके धर्मविचारमें किसी प्रकारके सन्देह अथवा तर्कके करनेका कोई अवकाश नहीं ।

भट्ट कुमारिलने अपने सिद्धान्तका समर्थन करते हुए, जैन और बौद्ध तार्किकोंने वेदके विरुद्ध जो जो युक्तियां – प्रत्युक्तियां उपस्थित की थीं, उनका उत्तर देते हुए – उन्होंने अन्तमें निम्न प्रकारसे बड़े कठोर शब्दोंमें इन वेदविरोधियोंकी अपभ्राजना भी की ।

**धारणाध्ययनव्याख्यानित्यकर्माभियोगिभिः । मिथ्यात्वहेतुरज्ञातो दूरस्थैर्ज्ञायते कथम् ॥**
**ये तु ब्रह्मद्विषः पापा वेदाद् दूरं बहिष्कृताः । ते वेदगुणदोषोक्तिं कथं जल्पन्त्यलज्जिताः ॥**

अर्थात् – जो ब्राह्मण वेदका धारण करते हैं, अध्ययन करते हैं, व्याख्यान करते हैं और उसमें प्रतिपादित नित्यकर्ममें अभियुक्त रहते हैं, उनको जब वेदके मिथ्यात्व होनेका कोई हेतु ज्ञात नहीं हुआ, तो फिर जो वेदसे दूर रहते हैं उनको वह कैसे ज्ञात हो सकता है ? । जो ब्रह्मद्वेषी होकर वेदसे दूर रहते हैं और वेदमार्गसे बहिष्कृत हैं वे पापात्मा लज्जाहीन होकर वेदके गुण-दोषकी उक्तियां कैसे बकते रहते हैं ? ।

कुमारिलके इन आक्रोशयुक्त वचनोंका जिनेश्वर सूरिने निम्न प्रकार व्यङ्ग्यभरे शब्दोंमें उत्तर दिया –

**धारणाध्ययनेत्यादि नाक्रोशः फलवानिह । अज्ञैरज्ञाततत्त्वोऽपि पण्डितैरवसीयते ॥ २४८**

अर्थात् 'धारणाध्ययन' इत्यादि उक्तिद्वारा कुमारिलने जो आक्रोश प्रदर्शित किया है उसका, इस तत्त्वविचारमें कोई फल नहीं निकलता । तात्पर्य कि इस तत्त्वमीमांसामें निर्लज्ज, पापात्मा, ब्रह्मद्वेषी जैसे उद्गारोंका प्रयोग करनेसे किसी तत्त्वकी सिद्धि नहीं होती । और जो कुमारिल यह कहते हैं कि – वेदका नित्य गाढ परिचय रखनेवाले जब उसके मिथ्यात्वको जान नहीं सकते तो फिर जो ये उससे दूर रहनेवाले उसके जाननेका कैसे दावा कर सकते हैं ? । इसका उत्तर तो यह है कि – अज्ञजनोंके लिये जो तत्त्व अज्ञात होता है उसको पण्डितजन तो अच्छी तरह जान सकते हैं, इसमें आश्चर्यकी बात क्या है ? ।

इस प्रकार कुमारिलके कथनोंका शंका – समाधान करते हुए जिनेश्वर सूरिने अन्तमें – प्रकरणके उपसंहारमें – इस प्रकारके कर्कश आक्षेपात्मक वचनोंके लिये, कुमारिल को भी फिर वैसे ही पाप शब्दसे संबोधित करके अपना रोष शान्त किया है ।

**सन्दिग्धेऽपि धर्मज्ञे भव्यजन्तोर्न कर्कशाः । अधिक्षेपस्य दायिन्यो वाचः पाप यथा तव ॥ २७**

जिनेश्वर सूरि कहते हैं कि – सर्वज्ञकी सत्ताके सन्दिग्ध होने पर भी, जो भव्यजन है उसके वैसे आक्षेपात्मक कर्कश वचन नहीं निकलते, जैसे हे पापिष्ठ कुमारिल ! तेरे निकले हैं ।

मीमांसक कुमारिलकी तरह, बौद्ध तार्किक शान्तिरक्षित भी बौद्ध दर्शनके बडे समर्थक विद्वानोंमें गि जाते हैं। उन्होंने 'तत्त्वसंग्रह' नामक विशालपरिमाण ग्रन्थकी रचना की जिसमें दार्शनिक विषयके स मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंकी चर्चा ग्रथित है। इसमें बौद्धसम्मत प्रमेयोंकी सिद्धिके साथ अन्य दार्शनि द्वारा किये गये आक्षेपोंका निरसन किया और साथहीमें अन्य दार्शनिकोंके कुछ विशिष्ट मन्तव्यों प आक्षेप भी किये। इनमें जैनदर्शनसम्मत 'स्याद्वाद' सिद्धान्तका भी समावेश है। जैनोंका 'स्याद्वा अर्थात् 'अनेकान्तवाद' भी अन्यान्य वादोंकी तरह दोषदूषित है—इस विषयमें जो तर्क-वितर्क उन्हों किये हैं, खास करके उनका प्रत्युत्तर देनेका प्रयत्न जिनेश्वर सूरिने अपने इस ग्रन्थमें किया है। शान्ति रक्षितने 'स्याद्वादसिद्धिभंग' नामक प्रकरणमें जैनके अनेकान्तवादकी बडी कर्कश मीमांसा की है, इस लिये जिनेश्वर सूरिने उसका उत्तर भी उसी शैलीमें देनेका प्रयत्न किया है। कहा है कि—

**तत्त्रैकाल्यपरीक्षार्थं मुधैवारटितं त्वया। स्याद्वादसिद्धिभङ्गोऽपि तवोन्मादानुमापकः॥ १८६**

अर्थात्—हे शान्तिरक्षित! त्रैकाल्यपरीक्षाके विषयमें जो तेंने चिल्लाहट की है वह व्यर्थ ही है; और इसी तरह 'स्याद्वाद'की सिद्धिका भङ्ग करनेका जो प्रयत्न किया है वह भी तेरे उन्मादका ज्ञापक है, और कुछ नहीं है।

आगम अर्थात् शब्द प्रमाणके प्रामाण्य-अप्रामाण्य वादकी यह चर्चा, केवल दर्शनान्तरोंके बीचका ही विषय नहीं बन रही, लेकिन एक ही दर्शनके अवान्तर संप्रदायोंके बीचमें भी उसका वैसा ही क्षेत्र बन रहा है। क्या वैदिक, क्या बौद्ध और क्या जैन—इन तीनों मतोंके जो अवान्तर उपसंप्रदाय हैं वे भी परस्पर अपने-अपने मन्तव्योंके लिये इसी आगम प्रमाणको उपस्थित कर वाद-प्रतिवाद करते रहे हैं। जैनदर्शनके 'स्याद्वाद'मतके अनुगामी और उपस्थापक ऐसे श्वेतांबर एवं दिगंबर संप्रदाय भी इस आगम प्रमाणको लेकर परस्पर खण्डन-मण्डनमें यथेच्छ प्रवृत्त रहे हैं। इन दोनों संप्रदायोंके बीचमें जो मुख्य मन्तव्यभेद है, वह एक इस विषयको लेकरके है कि—जो गृहत्यागी मोक्षाभिलाषी मुनि बनता है उसको वस्त्रपरिधान करना जैन आगममें विहित है या नहीं। श्वेताम्बर संप्रदाय—जैसा कि उसके नामसे ही प्रतीत होता है—मुनिको अपने संयमकी रक्षाके लिये अल्प-स्वल्प श्वेतवस्त्र परिधान करना आगमविहित मानता है और उसके समर्थक प्रमाण स्वमान्य आगमग्रंथोंसे उपस्थित करता है। इसके विपरीत दिगंबर संप्रदाय—जो कि उसका नाम ही ज्ञात कराता है—मुनिको अल्प-स्वल्प भी वस्त्र रखना आगमविरुद्ध मानता है और मोक्षमार्गका बाधक बतलाता है। श्वेताम्बर पक्षवाले अपने मन्तव्यके आधारभूत जिस आगमका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, उस आगमका दिगम्बरपक्ष अनागमत्व सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है।

दार्शनिक विषयोंके तत्त्वविचारकी मीमांसाकी दृष्टिसे दिगम्बर विद्वानोंने जो प्रमाणविषयक कुछ ग्रन्थ लिखे उनमें श्वेतांबर मान्यताका भी आगमविरुद्ध होना निर्दिष्ट किया और उसके समर्थनमें प्रमाणशास्त्र सम्मत हेतुवादके प्रयोगोंका उपयोग किया। जिनेश्वर सूरिने भी अपने इस ग्रन्थमें—आगमप्रमाणवाले प्रकरणमें—निर्ग्रन्थताके पक्ष-विपक्षमें जो दिगम्बर मन्तव्य है उसका प्रतिवाद किया और अपना पक्ष सिद्ध करनेका प्रयास किया।

जिनेश्वर सूरिका कथन है कि—जैन आगममें जो कोई भी विधि प्रतिपादित किया गया है उसका अर्थ देश, काल, बल और सूत्रकी अपेक्षाको लक्ष्यमें रख कर करना चाहिये। उस अर्थका जो उल्लंघन करता है वह जिनदेवकी आशातना (अपभ्राजना) करनेवाला अतएव पाप पुरुष है। यथा—

देशं कालं बलं सूत्रमाश्रित्य गदितो विधिः। जिनाज्ञाशातयेत् पापस्तदुल्लंघनतामितः॥ १२३

अर्थात्—जिनदेवने जो कोई विधि-विधान प्रतिपादित किया है वह सब देश, काल, बल आदिकी दृष्टिसे सापेक्ष है। जो विधि, किसी एक देशको लक्ष्य कर आचरणीय बतलाई गई हो, वही विधि दूसरे देशके लिये अनाचरणीय हो सकती है। जो विधि, किसी कालविशेषको लक्ष्य कर आवश्यक रूपसे प्रतिपादित की गई हो, वही विधि अन्य कालके लिये अनावश्यक हो सकती है। इसीतरह जो आचार, युवाको लक्ष्य कर अवश्य उपयोगी बतलाया गया हो, वही आचार बाल या वृद्धके लिये अनुपयोगी हो सकता है। इसलिये किसी भी प्रकारकी विधिके हेयोपादेयत्वका विचार देश, काल, बल आदिकी अपेक्षापूर्वक ही करना जैन आगमका उपदेश है। इसके विपरीत जो मनुष्य किसी भी विधि-विधानको एकान्त भावसे हेयोपादेय मानता—समझता है वह अनेकान्त मार्गका अतिक्रम करता है।

दिगम्बर-श्वेताम्बरके पारस्परिक वादका विषय जो निर्ग्रंथता है उसके विषयमें जिनेश्वर सूरिने किस प्रकारकी प्रतिपादन शैली इस ग्रंथमें प्रयुक्त की है उसका परिचय करादेनेके लिये निम्न लिखित श्लोक उपयुक्त होंगे।

**निर्ग्रंथता जिनैरुक्ता निमित्तं मोक्षशर्मणः। कुतः परिग्रहस्तस्यां तस्मिन् वा सा कथं ननु॥ १२५**
**धर्मार्थं स न तां हन्ति हस्त्यश्वरथशालिनाम्। राजादीनां कथं सा न को विशेषोऽपरत्र वः॥ १२६**
**कैषा निर्ग्रंथता वीरैरुक्ता वस्त्राद्यभावतः। गवादीनां न सा केन कथं वा भवतामसौ॥ १२७**
**आन्तरत्यागतः सैषा हन्त सा नास्ति केन नः। भावाभावौ समो हन्त परोक्षत्वाद् द्वयोरपि॥ १२८**

इन श्लोकोंका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष दिगम्बर—जिनदेवने मोक्षमार्गका कारण निर्ग्रंथता बतलाई है। निर्ग्रंथता वह है जिसमें किसी प्रकारका परिग्रह नहीं है। जहां परिग्रह है वहां निर्ग्रंथता कैसी। यदि कहा जाय कि धर्मके निमित्त उस परिग्रह का स्वीकार है; तो फिर हाथी, घोडे, रथ आदि रखनेवाले राजा आदिकोंको भी वह निर्ग्रंथता क्यों नहीं मानी जाय? तुममें और उनमें फिर फरक ही क्या है?

उत्तरपक्षमें जिनेश्वर सूरि कहते हैं—वीर भगवान्ने किस प्रकारकी निर्ग्रंथता बतलाई है? यदि कहा जाय कि वस्त्रोंका जिसमें अभाव हो; तो फिर वह निर्ग्रंथता तो गाय, बैलमें भी विद्यमान है। फिर उनमें और तुममें क्या विशेष है? यदि कहा जाय कि आन्तर भावसे जो परिग्रहका त्याग करता है उसको वह निर्ग्रंथता प्राप्त होती है; तो फिर वह निर्ग्रंथता हममें क्यों नहीं हो सकती है? क्यों कि यह आंतर त्यागका भावाभाव तो तुम्हारे और हमारे दोनोंके लिये परोक्ष है। तुममें आन्तर त्यागका भाव है और हममें नहीं है यह कौन, कैसे, कह सकता है? यदि कहा जाय कि आगामोंमें अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, किसी प्रकारका परिग्रह नहीं रखना साधुके लिये विधान किया गया है; तो फिर आप लोग (यानि दिगम्बर मुनि) पुस्तक और कमंडलु आदि रखते हैं उसका क्या? यदि कहो कि धर्मक्रियामें उपकारि होनेसे उनका रखना उपयुक्त है, तो फिर वैसे ही वस्त्र भी उपकारक होनेसे उनका रखना उपयुक्त क्यों नहीं माना जाय? इसलिये हम तो इस व्यर्थके विवादमें एक प्रकारकी शुष्काभिमानिता ही समझते हैं; और इसलिये यह सब आगमका विप्लव है न कि सर्वज्ञका शासन। इत्यादि।

**न चाल्पं बहु वा न स्यात् कुण्डिकादि न चापरम्।**
**धर्मोपकारितां नैति वृथा शुष्काभिमानिता॥ १३२**
**ततो विप्लव एवायं न सर्वज्ञस्य शासनम्॥**

इस प्रकार, इस शब्द प्रमाणवाले प्रकरणमें आगमके प्रामाण्य-अप्रामाण्यको लक्ष्य करके अ प्रकारके मत-मतान्तरोंकी आलोचना की गई है।

३१८ वें श्लोकसे लेकर ३९४ वें तकके श्लोकमें, दर्शनान्तरोंमें माने गये उपमान, अभाव अ प्रमाणोंकी चर्चा की है और जैन आचार्योंने उनको स्वतंत्र प्रमाण न मान कर अनुमान प्रमाणके अन्त ही उनका समावेश क्यों कर दिया है इसका विवेचन किया है।

३९५ से ३९९ तकके श्लोकोंमें, जैनदर्शनअभिमत प्रमाण, नय और कुनयका, विषयविभाग दृष्टिसे विचार किया है और ४०० से ४०५ तकके श्लोकोंमें ग्रन्थका उपसंहार आलेखित किया जिनका उद्धरण और सार हमने इस परिचयके प्रारंभमें ही दे दिया है।

## ( ६ ) निर्वाणलीलावती कथा ।

जिनेश्वर सूरिकी कृतियोंमें सबसे बडी कृति यह कथा थी। खरतर गच्छकी कुछ पट्टावलियोंमें मि नेवाले उल्लेखोंके अनुसार इसका ग्रंथपरिमाण कोई १८००० श्लोक जितना था। यह कथा प्राय प्राकृतमें और गाथाबद्ध रचनामें बनाई गई थी। यह मूल कृति अभी तक कहीं किसी भंडारमें उपलब्ध नहीं हुई है। इसका एक सारोद्धार रूप, संस्कृत श्लोकबद्ध भाषान्तर, जेसलमेरके भंडारमें उपलब्ध हुआ है। यह कथासार प्रायः ६००० श्लोक ग्रन्थपरिमाण है। यद्यपि इस ग्रन्थमें, आदि या अन्त भागमें, कहीं भी, स्पष्ट रूपसे इसके कर्ताका नामनिर्देश नहीं मिलता, परंतु जेसलमेरमें जो इस पुस्तककी ताडपत्रीय प्रति उपलब्ध हुई है उसकी पट्टिकापर 'जिनरत्नसूरिविरचिता निर्वाणलीलावतीकथा' ऐसा उल्लेख किया हुआ मिला है। तथा ग्रन्थके अन्तके उत्साहके अन्तिम पद्यमें श्लेषरूपसे 'जिनरत्न' इस शब्दका प्रयोग किया गया है, इससे इसके कर्ता 'जिनरत्न' है यह निश्चित होता है। ये जिनरत्नाचार्य जिनपतिसूरिके शिष्य जिनेश्वराचार्यके शिष्य थे और वि. सं. १३०४ में इनको आचार्य पदवी मिली थी। यह कथासार, २१ उत्साहोंमें विभक्त है। प्रत्येक उत्साहके समाप्ति-लेखमें 'इति श्रीनिर्वाणलीलावतीमहाकथेतिवृत्तोद्धारे लीलावतीसारे जिनांके' ऐसा उल्लेख किया गया है। प्रत्येक उत्साहके अन्तिम पद्यमें किसी-न-किसी स्वरूपमें 'जिन' शब्दका प्रयोग किया गया है, इससे इस कृतिको कर्ताने 'जिनांक' विशेषणसे अंकित की है। इस सारके अवलोकनसे जिनेश्वर सूरिकी मूल कृतिकी कथावस्तुका परिज्ञान तो ठीक तरहसे हो जाता है परंतु उसकी भाषा, रचना, वर्णना, कविता, छन्दोबद्धता, आलंकारिकता आदिका परिज्ञान नहीं हो सकता। ऊपर जिनेश्वर सूरिकी प्रशंसावर्णनाके प्रस्तावमें हमने जिनभद्राचार्यकृत 'सुरसुन्दरी कथा' का जो अवतरण दिया है, उसमें इस कथाकी परिचायक दो गाथाएं मिलती हैं–जिनमें कहा गया है, कि यह कथा अतीव सुललित-पदसंचारवाली, प्रसन्नवाणीयुक्त, अतिकोमल-श्लेषादि विविध अलंकारोंसे विभूषित एवं सुवर्णरूप रत्नसमूहसे आल्हादक है सकल अंग जिसका, ऐसी वारवनिताकी तरह, सकल जनोंके मनको आनन्दित करनेवाली है। जिनरत्नाचार्यने अपने इस कथासारके उपोद्घातमें मूल कथाको, नाना प्रकारके विस्तृत वर्णनोंसे तथा अनेक रसोंसे परिपूर्ण, अत एव अल्पमेधाशक्तिवाले जनोंके लिये समुद्रकी तरह दुरवगाह बतलाई है। इसलिये इस कथाका 'मात्र कथावस्तु' स्वरूप सुधापान करनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंके उपकारार्थ उन्होंने इस सारभागका संकलन किया है[१]।

---

१ जेसलमेरके भंडारमें इस ग्रंथकी जो प्रति विद्यमान है उसके आद्य पत्रका कुछ भाग टूट गया है और जो कुछ पंक्तियां उपलब्ध हैं उनके भी कुछ अक्षर घिस गये हैं, इसलिये प्रारंभके ११–१२ श्लोक, जिनमें सारकर्ताने उपोद्घातके रूपमें अपना वक्तव्य गुंफित किया है, पूर्ण रूपसे पाठ्य नहीं हैं।

जिनरत्नाचार्यके इस कथेतिवृत्तके पढनेसे यह तो सुज्ञात होता है कि जिनेश्वर सूरिकी मूल कृति, प्राकृत भाषा साहित्यकी एक बहुत सुंदर और उत्तम कोटिकी विशिष्ट रचना थी।

जैसा कि गणधरसार्द्धशतक और बृहद्गुर्वावलिके कथनानुसार, पहले सूचित किया गया है (देखो पृ० ३२), जिनेश्वर सूरिने इस कथाकी रचना आशापल्ली नामक स्थानमें की थी। यह आशापल्ली गुजरातकी विद्यमान राजधानी अहमदाबादकी जगह पर बसी हुई थी, जिसके अवशेष रूपमें आज भी वहां पर असावल नामका शाखापुर प्रसिद्ध है। शायद जिनेश्वर सूरिके मृत्युके कुछ ही समय बाद, अणहिलपुरके चालुक्य राजा कर्णदेवने इस स्थानको गुजरातकी उपराजधानी बनाया और इसका नाम कर्णावती रखा। यह आशापल्ली, जिनेश्वर सूरिके समयमें भी, भौगोलिक दृष्टिसे, गुजरातके साम्राज्यके यातायात-व्यवहारका एवं रक्षणात्मक प्रबन्धका मध्यवर्ती स्थान होकर, व्यापारकी दृष्टिसे भी एक विशिष्ट केन्द्रस्थान था। इसलिये वहां पर जैन समाजका भी एक विशिष्ट वर्ग, जो राज्यसत्ता और व्यापारक्षेत्र – दोनोंमें उच्च स्थान रखता था, अच्छी संख्यामें निवास करता था। जिनेश्वर सूरिने देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करते हुए किसी समय जब इस आशापल्लीमें आ कर चातुर्मास किया और यहांके वैसे विशिष्ट एवं विचक्षण वर्गवाले श्रावक-समूहको श्रोताके रूपमें देखा, तो उसके उपदेशार्थ, अपनी विशिष्ट प्रतिभाकी प्रौढिमा प्रदर्शित करनेवाली इस 'निर्वाणलीलावती' नामक वैराग्यरसोत्पादक एवं निर्वाणमार्गप्रदर्शक विशाल धर्मकथाकी अभिनव रचना की।

## जैन कथासाहित्यका कुछ परिचय।

जैन धर्मोपदेशकोंकी कथाकथन-प्रणालिका सदैव एक ही पवित्र ध्येय रहा है और वह यह कि उनके कथोपदेश द्वारा श्रोताओंकी शुभ जिज्ञासा जागृत हो और उनकी मनोवृत्ति शुभ कर्मकी प्रवृत्तिमें प्रवृत्त हो। कथाके कहनेमें और रचनेमें जैसा उच्च आदर्श जैन विद्वानोंका रहा है, वैसा अन्य किसी संप्रदायका नहीं रहा। जैन कथाकार इन धर्मकथाओंके कथनमें और संकलनमें बडे ही सिद्धहस्त प्रमाणित हुए हैं। मनोरंजनके साथ सन्मार्गका सद्बोध करानेवाली इन जैन कथाओंकी तुलनामें, बराबरीका स्थान प्राप्त कर सके, ऐसी कथाएं जैन साहित्यके सिवा अन्य किसी भारतीय धार्मिक साहित्यमें उपलब्ध नहीं है। जैन साहित्य इस प्रकारकी धर्मकथाओंका एक बडा भारी भंडार-ही है। जैन साहित्यकी यह कथाराशि बहुत अधिक विशाल है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देश्य भाषाओंमें गुम्फित ऐसी छोटी–बडी सेंकडों नहीं बल्कि हजारों जैन कथाओंसे जैन वाङ्मयका सुविशाल भंडार भरपूर है।

इस जैन कथावाङ्मयका इतिहास उतना ही पुरातन है जितना जैन तत्त्वज्ञान और जैन सिद्धान्तका इतिहास है। अनेकानेक कथाएं तो, जैनवाङ्मयका सबसे प्राचीन भाग समझे जानेवाले आगमोंमें ही वर्णित हैं। इन आगमसूचित कथाओंकी वस्तुका आधार ले कर, बादमें होनेवाले आचार्योंने अनेक स्वतंत्र कथाग्रन्थ रचे और मूल कथावस्तुमें फिर अनेक अवान्तर कथाओंका संयोजन कर इस साहित्यको खूब ही विकसित और विस्तृत बनाया। इन कथाग्रन्थोंमेंसे कुछ तो पुराणोंकी पद्धतिपर रचे हुए हैं और कुछ आख्यायिकाओंकी शैली पर। उपलब्ध ग्रन्थोंमें पुराणपद्धतिपर रचा हुआ सबसे प्राचीन और सबसे बडा कथाग्रन्थ 'वसुदेवहिंडी' नामक है जो प्राकृत भाषामें 'गद्यबहुल' ऐसा आकर कथा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी कथाके उपक्रमका आधार तो हरिवंश अर्थात् यदुवंशमें उत्पन्न होनेवाला वसुदेव दशार है,जो संस्कृत

पुराण महाभारत और हरिवंशमें वर्णित कृष्ण वसुदेवका पिता है। परंतु गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा'की त इसमें सेंकडों ही अवान्तर कथाएं गुम्फित कर दी गई हैं जिनमें प्रायः सब ही जैन तीर्थंकरोंके त अन्यान्य चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषोंके एवं अनेक ऋषि, मुनि, विद्याधर, देव, देवी आदिकोंके च भी वर्णित हैं। 'वसुदेव हिंडी'की कथाएं प्रायः संक्षेपमें और साररूपमें कही गई हैं। इन कथाओंमेंसे कथाओंको चुन-चुन कर, पीछेके आचार्योंने छोटे बडे ऐसे अनेक स्वतंत्र कथाग्रंथोंकी रचनाएं कीं उन संक्षिप्त कथाओंको ओर भी अधिक पल्लवित किया। 'वसुदेवहिंडी' नामक ग्रन्थ जो वर्तमा उपलब्ध है उसकी संकलना संघदास क्षमाश्रमण नामक आचार्यने की है जो विक्रमकी चौथी पां शताब्दीमें हुए माल्रम देते हैं।

इसी समयमें विमलसूरि नामक आचार्य हुए जिन्होंने वाल्मीकिके संस्कृत रामायण और व्यासके भारतीय हरिवंशके अनुकरणरूप 'पउमचरियं' और 'हरिवंसचरियं' नामक दो स्वतंत्र एवं सुसंकलित ग्रन्थ प्राकृतमें रचना की, जिनमें ब्राह्मणोंके रामावतार और कृष्णावतारके साथ संबन्ध रखनेवाली पौरा कथाओंको, जैन शैलीके ढांचेमें ढाल कर जैनीय रामायण और हरिवंशका सर्जन किया। इसके बाद, अनेक ग्रन्थकारोंने इन्हीं दो कथाओंको लक्ष्य कर, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, प्राचीन गूर्जर भाषाओंमें अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएं कीं। कृष्णावतारकी कथाके साथ कौरव पांडवोंकी कथाका तथ तीर्थंकर अरिष्टनेमिकी कथाका भी संबन्ध जुडा हुआ है, इसलिये इनकी कथाको लक्ष्य करके 'पांडवच और 'नेमिनाथचरित' नामके भी अनेक स्वतंत्र कथाग्रन्थ रचे गये। जैन धर्मके पौराण प्रवादानुसार विद्यमान मानवयुगके प्रारंभमें आदि राज्यसंस्थापक और प्रथम धर्मप्रवर्तक इक्ष्वाकुवंशके ऋषभदेव तीर्थंकर हुए जो नाभि और मरुदेव नामक युगल कुलकरके पुत्र थे। उस ऋषभदेवने ही वि मानवजातिमें सबसे प्रथम समाजव्यवहार, राज्यतंत्र और धर्ममार्गकी शिक्षाका प्रवर्तन किया। बहुधा उनको आदिनाथ या युगादि देवके नामसे भी जैनवाङ्मयमें सम्बोधित किया जात उनके सौ पुत्र हुए जिनमें ज्येष्ठ पुत्रका नाम भरत रक्खा गया था। वह भरत इस आर्यभूमिका सबसे पहला सार्वभौम चक्रवर्ती राजा हुआ इसलिये हमारे इस पृथ्वीखण्डका 'भारतवर्ष' या 'भरतक्षेत्र' ऐसा प्रसिद्ध हुआ। भरतके और और भाईयोंको, इस भरतभूमिके अ प्रदेश जागीरीके रूपमें बांट दिये गये जहां उन्होंने अपने स्वतंत्र नगर बसा कर अपने वंशजोंके लिये स्थापित किये। पीछेसे ये ही सब राजवंश भिन्न-भिन्न क्षत्रिय राजकुलोंके नामसे प्रसिद्ध हुए। पु वर्णित सूर्यवंशीय और चंद्रवंशीय सब राजकुल उन्हीं ऋषभदेवके पुत्रोंकी सन्तानरूप हैं। इस प्र ऋषभदेवके अवतारका और जैनधर्मके प्रारंभका पौराण वृत्तान्त होनेसे, ऋषभदेवकी कथाने भी ङ्मयमें विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है और इस कथासूत्रको जैन कथाकारोंने बहुत ही विकसित विस्तृतरूपमें ग्रथित किया है। ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती एवं इनसे संबद्ध ऐसी अनेक अवान्तर कथ वस्तुको आधार रूपमें रख कर, पिछले जैन विद्वानोंने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओंमें नेक कथाग्रन्थोंकी रचनाएं कीं। जैन धार्मिक संप्रदायकी मान्यता अनुसार, इस प्रवर्तमान मान जैसे ऋषभदेव सबसे पहले धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर हुए वैसे सबसे अन्तिम महावीर तीर्थंकर हुए। देवसे ले कर महावीर तकके वीचके कालमें, कुल मिलाकर वैसे २४ तीर्थंकर हुए, भरत आदि १२ च सम्राट् हुए, राम कृष्ण आदि ९ वासुदेव—अर्धचक्रवर्ती, और वैसे ही उनके प्रतिस्पर्धी ९ प्रति सम्राट् हुए। जैन मान्यतानुसार इस चालू मानव युगमें, भारतवर्षमें इस प्रकार धर्म और र

ष्टेसे, सबसे बडे ५४ महापुरुष उत्पन्न हुए। इसलिये इनको शलाका पुरुषकी उपमा दी गई। शीलांक सूरि से आचार्योंने इन ५४ ही शलाका पुरुषोंकी कथाओंको एक संग्रहके रूपमें गुम्फित करनेकी दृष्टिसे वउपन्न महापुरिसचरिय' नामक शलाकापुरुषचरित रूप, एक बहुत बडे प्राकृत ग्रंथकी रचना की[१]। सी प्रकारसे और और आचार्योंने भी इन शलाकापुरुषोंकी कथाओंके संग्रहात्मक छोटे बडे कई चरित्र थ बनाये। कुछ आचार्योंने इन शलाकापुरुषोंमेंसे किसी एक महापुरुषके कथासूत्रको अवलंबित कर और फिर उसमें उसके पूर्व भवके वृत्तान्तोंकी सूचक कथाएं एवं वैसी ही अन्य संबन्धोंकी सूचक कथाएं जोड जोड कर, उन उन महापुरुषोंके नामके स्वतंत्र ऐसे बडे चरित ग्रंथों की भी विशिष्ट रचनाएं करनेका प्रयास किया है। इस प्रकार आदिनाथचरित, सुमतिनाथचरित, पद्मप्रभचरित, चन्द्रप्रभचरित, श्रेयांसचरित, शान्तिनाथचरित, मल्लिनाथचरित, अरिष्टनेमिचरित, पार्श्वनाथचरित, महावीरचरित आदि अनेक तीर्थंकरोंके कई प्रकारके स्वतंत्र चरितग्रन्थोंकी रचनाएं निर्मित हुई।

ये सब कथाग्रन्थ पुराण शैलीके हैं। जिस तरह ब्राह्मणोंके पुराणोंमें सूर्य एवं चन्द्र वंशीय आदि राजवंशोंका; वसिष्ठ विश्वामित्र आदि ऋषि मुनियोंके कुलोंका; ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओंके अवतारोंका; एवं इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, लक्ष्मी, सरस्वती, इला आदि अनेकानेक प्रकारके देव-देवियोंके जन्म-जन्मांतरोंका वर्णन किया गया है; उसी तरह इन जैन चरितग्रन्थोंमें जैन मान्यतानुसार कल्पित इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश आदि राजवंशीय नृपोंके; ऋषभ आदि धर्मतीर्थप्रवर्तक जिनवरोंके; भरत सगर आदि चक्रवर्तियोंके; नमि विनमि आदि विद्याधरोंके; पुण्डरीक आदि यति मुनियोंके; ब्राह्मी सुन्दरी आदि सती साध्वियोंके; राम, कृष्ण, रुद्र आदि ब्राह्मण धर्ममें माने जानेवाले ईश्वरावतारीय व्यक्तियोंके एवं सौधर्मेन्द्र, चमरेन्द्र आदि देवयोनीय देवताओंके जन्म-जन्मांतरोंका वर्णन किया गया है।

इन पौराणिक शैलीके कथाग्रन्थोंसे भिन्न एक आख्यायिकाकी पद्धति पर लिखे गये कथाग्रन्थोंका वर्ग है जो वासवदत्ता, कादंबरी, नलचरित, दशकुमारचरित आदि संस्कृत साहित्यकी सुप्रसिद्ध लौकिक कथाओंके ढंग पर रचा गया है। इन कथाओंमें किसी एक लोक प्रसिद्ध स्त्री अथवा पुरुषकी जीवनघटनाको केन्द्र बना कर, उसके वर्णनको काव्यमय शैलीमें, शृंगार करुण आदि रसोंसे अलंकृत करके, अन्तमें वैराग्य विषयक वस्तुको संकलित किया जाता है। कथाके विस्तारको बढानेकी दृष्टिसे उसमें मुख्य नायक अथवा नायिकाके साथ अनेक उपनायक–उपनायिकाओंके कथावर्णनोंको जोडा जाता है और फिर उन सबके पूर्वजन्म अथवा आगामी जन्मका परस्पर संबन्ध लगा कर, तत्तद् व्यक्तिके किये गये शुभाशुभ कर्मोंके फलका परिणाम दिखाया जाता है और अन्तमें उस कर्मफलके अनुसार, नायक अथवा नायिकाको सद्गति अगर दुर्गतिकी प्राप्ति बतला कर कथा समाप्त की जाती है। इन कथाओंकी रचनाशैली इस ढंगकी होती है कि जिससे श्रोताओंको शृंगार आदि भिन्न-भिन्न रसोंका कुछ आस्वाद भी मिलता रहै, रसिक कथावर्णनोंसे कुछ मनोरंजन भी होता रहै और कर्मोंके शुभाशुभ विपाकोंका परिणाम जान कर सन्मार्गमें प्रवृत्त होनेकी रुचि भी बढती रहै।

इस शैलीके कथाग्रन्थोंमें सबसे पहली कथा पादलिप्त सूरिकी 'तरंगवती' अथवा 'तरंगलोला' थी जो दुर्भाग्यसे अब मूल रूपमें उपलब्ध नहीं है। पादलिप्तसूरिकी मूल कथा बहुत बडी थी और वह शृंगारादि विविध रसों एवं काव्यचमत्कृतिद्योतक नाना प्रकारके अलंकारोंसे भरपूर महती

१ पिछले कुछ आचार्योंने ९ वासुदेवके भ्राता जो बलदेव कहे जाते हैं, उनको भी शलाका पुरुषकी गणनामें सम्मिलित किये हैं और यों ५४ की जगह ६३ शलाकापुरुष बतलाये हैं। पुष्पदन्त नामक महाकविने अपभ्रंश भाषामें 'तिसट्ठिलक्खणमहापुराण' बना कर और हेमचन्द्राचार्यने संस्कृतमें 'त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र' नामक बडा ग्रंथ इन ६३ ही महापुरुषोंकी संकलित कथाएं ग्रथित की है।

मनोरंजक कृति थी। इस कथाका ९ वीं १० वीं शताब्दीमें लिखा गया एक संक्षिप्त सार-भाग मिलता है जिसका जर्मनीके स्वर्गवासी महापण्डित प्रो. लॉयमानने जर्मन भाषामें सुन्दर भाषान्तर किया और उस परसे हमने गुजराती अनुवाद करा कर, 'जैन साहित्यसंशोधक' नामक त्रैमसिक पत्रमें उसे प्रकाशित किया है। पादलिप्त सूरिकी कथाशैली कैसी थी उसकी कुछ कल्पना विज्ञ पाठकोंके इसके पढनेसे हो सकेगी।

इस प्रकारके कथावर्गमें हरिभद्र सूरिकी 'समरादित्य कथा' दाक्षिण्यचिन्ह उद्योतन सूरिकी 'कुवलयमाला कथा,' विजयसिंह सूरिकी 'भुवनसुन्दरीकथा' आदि अनेक मुख्य ग्रन्थ हैं। जिनेश्वर सूरिकी यह 'निर्वाणलीलावती' कथा भी इसी कथावर्गकी एक कृति है।

**निर्वाणलीलावती कथासारका संक्षिप्त परिचय।**

इस कथाके वर्णनके पढनेसे ज्ञात होता है कि जिनेश्वर सूरिने उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला कथाका कुछ अनुकरण किया है। कुवलयमालामें क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन दुर्गुणोंके विपाकोंका वर्णित करनेकी दृष्टिसे कथावस्तुकी संकलना की गई है। इसी तरह इस कथामें भी इन्हीं दुर्गुणोंके साथ हिंसा, मृषा, चौरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि पापोंके सहकारका संबन्ध मिलने पर उनके विपाकोंका फल कैसा कठोर मिलता है इस वस्तुको लक्ष्य कर सारी कथा संकलना की गई है।

इसके कथासूत्रको, संक्षिप्तकर्ता जिनरत्न सूरिने अपने उक्त संक्षेपमें, निम्न रूपसे दो पद्योंमें प्रकट किया है –

**कौशाम्ब्यां विजयादिसेननृपतिश्चासोत्तमांगं किल**
**श्रेष्ठिश्रीसचिवौ पुरंदरजयस्पृक्शासनौ दोर्लते।**
**शूरश्चापि पुरोहितो हृदयभूः सौभाग्यभंग्याद्भुतो-**
**ऽधःकायो धनदेवसार्थप इमे श्रीमत्सुधर्मप्रभोः॥ १**
**पादांभोरुहि रामदेवचरिताद्याकर्ण्य दीक्षाजुषः**
**सौधर्मे त्रिदशा बभूवुरुदयन्निस्सीमशर्मप्रियाः।**
**ते श्रीसिंहनृपादितामुपगताः श्रीनेमितीर्थेऽसिधन्**
**संक्षिप्येति कथांगनांगभणितिर्विस्तार्यते श्रूयताम्॥ २**

कथाका उपक्रम इस तरह किया गया है –

मगधदेशके राजगृह नगरमें सिंह नामका राजा और उसकी रानी लीलावती, एक जिनदत्त नामक श्रावक मित्रके संसर्गसे जैन धर्मके प्रति श्रद्धाशील बनते हैं। जिनदत्तके धर्मगुरु समरसेन सूरि कभी परिभ्रमण करते हुए राजगृहमें आते हैं, तब राजा और रानी, जिनदत्तके साथ आचार्यके पास धर्मोपदेश सुननेको जाते हैं। आचार्यके अप्रतीम रूपसौंदर्य और ज्ञानसामर्थ्यको देख कर राजाके मनमें, उनकी पूर्वावस्थाके स्वरूपको-जाननेकी इच्छा होती है और वह उनसे उस विषयमें अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। आचार्य पहले तो कहते हैं कि 'सत्पुरुषोंको अपने आचरणके बारेमें कुछ कहना उचित नहीं होता है। तथापि तुमको इससे बहुत कुछ आत्मलाभ होनेकी संभावनासे मैं अपने जन्म-जन्मांतरोंकी बातें विस्तारसे कहता हूं, जिनको ध्यानपूर्वक सुनना।' इस प्रकार प्रस्तावनास्वरूप प्रथम उत्साहकी समाप्ति होती है और दूसरे उत्साहमें कथाका पूर्व वृत्तान्त शुरू होता है[1]।

---

1 यहां पर संक्षिप्त कथाका पहला उत्साह समाप्त होता है। इस उत्साहकी समाप्तिसूचक पुष्पिका इस प्रकार है –
"इति श्रीवर्द्धमानसूरिशिष्यावतंसवसतिमार्गप्रकाशकप्रभुश्रीजिनेश्वरसूरिविरचितप्राकृत-श्रीनिर्वाणलीलावती-महाकथेतिवृत्तोद्धारे लीलावतीसारे जिनाङ्के श्रीसिंहराजजन्म-राज्याभिषेक-धर्मपरीक्षा-श्रीसमरसेन-सूरिसमागमव्यावर्णनो नाम प्रथमः प्रस्तावनोत्साहः। ग्रंथाग्र ३३९॥"

यह वृत्तान्त इस प्रकार है—वत्सदेशकी कौशांबी नगरीमें विजयसेन नामक राजा, उसका जयशासन नामक मंत्री, सूर पुरोहित, पुरंदर श्रेष्ठी और धन सार्थपति ये पांच व्यक्ति परस्पर मित्र भावसे अपना व्यावहारिक जीवन सुखरूपसे व्यतीत करते हैं। किसी समय एक सुधर्म नामक जैन श्वेतांबराचार्य उस नगरीमें आते हैं जिनके दर्शनके लिये ये पांचों जीव श्रद्धापूर्वक जाते हैं और उनका धर्मोपदेश श्रवण करते हैं। आचार्य मोक्षमार्गका उपदेश करते हुए जीवके संसारमें परिभ्रमणका और नाना प्रकारके दुःखोंके अनुभागी बननेका कारण पांच आश्रव, पांच मोहकषाय और पांच इन्द्रियोंका परिणाम बतलाते हैं। कहते हैं कि—

**इन्द्रियैर्विजितो मोहकषायैर्जीयतेऽसुमान्। ततः प्राणातिपातादौ सक्तो ज्ञानादि हारयेत्॥**

अर्थात् इन्द्रियोंके वश हो कर प्राणी मोह कषायोंसे पराभूत होता है और फिर प्राणातिपातादि स्वरूप हिंसादि पापोंमें प्रवृत्त हो कर अपने ज्ञानस्वरूपको खो बैठता है। इसके बाद आचार्य हिंसा और क्रोध, मृषा और मान, चौरी और कपट, मैथुन और मोह एवं परिग्रह और लोभ—इन पांच आश्रव और कषायोंके युग्मभावोंका स्वरूप वर्णन करते हैं और प्रत्येक युग्मके विपाकका फल, जीवको कैसा दुःखदायक और जन्म-जन्मांतरोंमें रुलानेवाला होता है इसके उदाहरण रूपमें, एक-एक व्यक्तिकी अलग-अलग कथा कहते हैं। इस प्रकार दूसरे प्रस्तावमें, हिंसा और क्रोधके उदाहरण स्वरूप, एक रामदेव नामक राजपुत्रकी कथा कही गई है; तीसरे प्रस्तावमें, मृषा और मानके उदाहरणमें, एक सुलक्षण नामक राजपुत्रकी; चौथे उत्साहमें, चौरी और कपट युग्मके उदाहरणमें, वसुदेव नामक वणिक्पुत्रकी; पांचवें उत्साहमें, मैथुनासक्ति और मोहके युग्मभावके उदाहरणमें, वज्रसिंह नामक राजकुमारकी; और छठे उत्साहमें, परिग्रह और लोभके द्वंद्वभावके दृष्टान्तस्वरूप, कनकरथ नामक राजपुत्रकी कथा कही गई है। इसी तरह फिर स्पर्श, रसना आदि पांचों इन्द्रियोंकी आसक्तिके विपाकका परिणाम बतलानेकी दृष्टिसे आगेके पांच उत्साहोंमें पांच भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी कथाएं कही गई हैं। इनमें स्पर्शेन्द्रिके विपाक वर्णन स्वरूपकी प्रथम कथा, इसी राजा विजयसेनके निजके पूर्व जन्मके संबंधकी है, जो सुधर्म सूरिके सन्मुख उपस्थित प्रधान श्रोता है।

इसी तरह फिर रशनेंद्रियके उदाहरणमें, राजमंत्री जयशासनके पूर्वजन्मकी; घ्राणेन्द्रियके स्वरूपकथनमें, राजश्रेष्ठी पुरंदरके पूर्वजन्मकी; चक्षुरिन्द्रियके विकार-वर्णनमें, धन सार्थपके पूर्वजन्मकी; और श्रवणेन्द्रियकी आसक्तिके विपाकवर्णनमें, शूर पुरोहितके जन्म-जन्मांतर की कथा कही गई है। सुधर्म सूरिके मुखसे इस प्रकारका धर्मोपदेश सुन कर, उन दसों व्यक्तियोंको अपने अपने पूर्वजन्मकी स्मृतिका ज्ञान हो जाता है और फिर वे सब विरक्तचित्त हो कर सुधर्म सूरिके पास दीक्षा ले कर यथाशक्ति ज्ञानोपासना और तपःसेवनमें जीवन व्यतीत करते हैं। अन्तमें मर कर वे सब सौधर्म नामक स्वर्गमें देवभवको प्राप्त होते हैं। वहां पर वे दसों देव, परस्पर मित्रके रूपमें होते हैं और अपना देवजीवन पूर्ण करके फिर इसी भारतवर्षमें अलग अलग स्थानोंमें मनुष्यजन्म धारण करते हैं।

उन्हीं दशों जीवोंमेंसे, उक्त रसनेन्द्रियके विपाकवर्णनमें जिस जयशासन मंत्रीकी कथा कही गई है उसीका जीव इस मनुष्य जन्ममें मलयदेशके कुशावर्तपुरमें जयशेखर राजाके पुत्रके रूपमें जन्म लेता है जिसका नाम समरसेन रखा जाता है। राजकुमार पूर्वजन्मके कुछ कुसंस्कारोंके कारण बडा आखेटक व्यसनी बन जाता है और सदैव मृगयासक्त हो कर प्राणिहिंसामें प्रवृत्त रहता है। उसके पूर्वभवका मित्र सूर पुरोहितका जीव जो देवभवमें विद्यमान है वह आ कर उसे प्राणिहिंसासे निवृत्त होनेका प्रतिबोध देता है। उससे प्रतिबुध्द हो कर कुमार समरसेन धर्मनन्दन नामक गुरुके पास दीक्षा ले कर, क्र-

विशिष्ट धर्माचार्य बनता है। उग्र व्रताचरणके प्रभावसे उसको विशिष्ट ज्ञानकी प्राप्ति होती है अपने उस ज्ञानसे पूर्वभवके वे अन्य मित्रजीव, कहां जन्म ले कर किस प्रकारका जीवन व्यती हैं इसका वृत्तान्त ज्ञात करता है। फिर उन उन स्थानोंमें जा कर, उनको धर्मोपदेश द्वार जीवनकी निःसारता समझा कर, पारमार्थिक जीवनके पथपर चलनेकी अर्थात् संसार त्याग व जीवनकी आराधना करनेकी प्रेरणा करता है। क्रमसे वे सब दीक्षित हो कर अपना आत्मकल्याण और अन्तमें आयुष्यके पूर्ण होने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

जिसको उपलक्ष्य करके मूल कथासूत्र गुंथा गया है वह मगधका राजा सिंहराज भी, जीवोंमेंका, पहली कथाका मुख्य नायक, कौशांबीके विजयसेन राजाका जीव है और उसकी रा वती भी, कपट और चौरीके उदाहरणमें जिस वणिक्पुत्र वसुदेवके जन्मकी बात कही गई है जीव है। पूर्वभवके मित्रभावको लक्ष्य कर, पूर्व जन्मका जयशासन मंत्रीका जीव समरसेन सूरि प्रतिबोध करनेके लिये राजगृहमें आते हैं और इनकी जिज्ञासासे प्रेरित हो कर इस प्रकार उ साथियोंके जन्म-जन्मान्तरोंकी कथा इनको सुना कर, संसारसे मुक्त होनेकी प्रेरणा करते हैं उपदेशसे प्रतिबुद्ध हो कर सिंहराज और रानी लीलावती भी दीक्षा ले लेते हैं और अन्तमें वे साथ निर्वाणभाव प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार १० जीवोंके जन्म-जन्मांतरोंकी कथाजालसे इस 'महाकथा'की संकलना की गई है

यों तो अन्यान्य जैन कथाओंमें जिस प्रकारकी सामान्य वस्तुशैली दृष्टिगोचर होती है वैसी और वैसा ही वस्तुनिरूपण इसमें भी है; परंतु विषयके स्वरूपचित्रणमें जिनेश्वर सूरिकी सिद्धहस्त अच्छी मालूम देती है। यद्यपि हमारे सामने मूल रचना विद्यमान नहीं है इससे उसके कवित्व वर्णन-विस्तारकी हमें ठीक कल्पना नहीं आ सकती, तथापि जिनरत्न सूरिके इस संक्षेप क पढनेसे इतना तो जरूर जाना जा सकता है कि मूल कथाके कई वर्णन तो बहुत ही सजीव औ होंगे। क्रोधी, मानी, कपटी, विषयासक्त और लोभी जीवोंके स्वभावोंके जो प्रासंगिक चित्र अंकित किये गये हैं वे बहुत कुछ स्वाभाविक और भावस्पर्शी हैं। उद्धतचरित्र राजकुमार, वणिक्पुत्र, विद्याजड ब्राह्मणसन्तान–इत्यादिकोंके विचारों और व्यवहारोंके कई जगह बहुत ही चित्र आलेखित किये गये हैं। राजाओं और राजपुत्रोंको लक्ष्य करके जो भिन्न भिन्न-प्रकार नीतिका उपदेश दिया गया है वह भी बडा सुन्दर और शिक्षादायक है। यदि कहीं इस कथा रचना प्राप्त हो जाय तो वह एक बडी महत्त्वकी निधिके मिलने जैसी आनन्दोत्पादक होगी।

* *
*

## ७. कथाकोशप्रकरणम्।

जिनेश्वर सूरिकी उपलब्ध कृतियोंमें यह प्रस्तुत 'कथाकोश' नामक ग्रन्थ शायद अन्तिम रचना है। इस रचनाके विषयमें उक्त 'गणधरसार्द्धशतकवृत्ति' तथा 'बृहद्गुर्वावलि'में लिखा है, कि जिनेश्वर सूरिने एक समय मारवाडके डिंडूआना नामक गांवमें चातुर्मास रहते हुए वहांके चैत्यवासी आचार्यके पाससे व्याख्यानमें बांचने लायक किसी पुस्तककी मांग की, तो उसने अस्वीकार कर दिया। तब उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थकी नई रचना की और श्रोताओंको व्याख्यानमें सुनाया।

जिनेश्वर सूरिने इस ग्रन्थकी रचना-समाप्तिका सूचक समय तो इसमें अंकित किया है, लेकिन स्थानका सूचन नहीं किया; इससे यह तो निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त कथनमें कितना तथ्य है। तथापि गुर्वावलि आदिकी श्रुतिपरंपराकी प्राचीनताका विचार करनेसे उक्त कथनमें अश्रद्धा करनेका कोई खास कारण नहीं मालूम देता। इस ग्रन्थके अन्तिम प्रशस्ति-लेखसे ज्ञात होता है कि इसकी रचना वि. सं. ११०८ के मार्गशीर्ष मासकी कृष्णपंचमीके दिन पूर्ण हुई थी। इसकी प्रथम प्रति जिनभद्र सूरिने लिख कर तैयार की थी और फिर उस परसे अन्य अन्य पुस्तक लिखे गये।

यह ग्रन्थ मूल और वृत्ति रूप है। मूल गाथा बद्ध है और वृत्ति गद्यरूपमें है। मूल तो बहुत ही संक्षिप्तरूपमें है - कुल ३० गाथाएं है। इन गाथाओंमें जिन कथाओंका नामनिर्देश किया गया है वे कथाएं वृत्तिके रूपमें विस्तारके साथ गद्यमें लिखी गई हैं। मुख्य कथाएं ३६ हैं और अवांतर कथाएं ४-५ हैं। इस तरह सब मिलाकर प्रायः ४०-४१ कथाएं इसमें गुम्फित हैं। इन कथाओंमें की बहुतसी कथाएं तो पुराने ग्रन्थोंमें जो मिलती हैं उन्हींको ग्रन्थकारने अपनी भाषामें अपने ढंगसे ग्रथित की हैं; परन्तु कुछ कथाएं स्वयं जिनेश्वर सूरिकी नई भी कल्पित की हुई मालूम देती हैं। इसका उल्लेख उन्होंने मूलकी २६ वी गाथामें स्पष्ट रूपसे कर भी दिया है। इस गाथामें वे कहते हैं कि इस प्रकरणमें हमने जो कथानक कहे हैं उनमेंके बहुतसे तो प्रायः जैनशास्त्रोंमें चरितरूपसे प्रसिद्ध ही है, परंतु भावुक जनोंके उपकारार्थ कुछ कथानक अपने परिकल्पित भी इसमें हमने निबद्ध किये हैं।

मालूम देता है इस प्रकारके कल्पित कथानकोंकी रचनाके विषयमें उस समयके कुछ पुराणप्रिय विद्वानोंका विरोधभाव रहता था - जैसा कि आज भी जैन साधुओंमें ऐसा विरोधभाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो रहा है - और वे कल्पित कथाओंकी सृष्टिको शास्त्रविरुद्ध समझते थे। इसलिये जिनेश्वर सूरिने इस ग्रन्थमें अपना स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त कर दिया है कि ये कल्पित कथानक भी उसी तरह भव्य जनोंको हितकारी हो सकते हैं जिस तरह पुराणप्रसिद्ध चरितवर्णन होते हैं। अपने कथनकी पुष्टिके लिये वे २७-२८ वीं गाथामें ऐसा हेतु बताते हैं - इस प्रकारका जो चरित-वर्णन किया जाता है उसका केवल यही हेतु है कि उसके श्रवणसे भविक जीवोंकी सत् क्रियामें प्रवृत्ति हो और असत् क्रियासे निवृत्ति हो। यही फल यदि कल्पित वर्णनसे भी होता हो और वह वर्णन यदि शास्त्रविरुद्ध विचारका सूचक न हो तो उसके कथनमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

इस कथाकोशकी संकलनासे मालूम देता है कि इसकी रचनामें कर्ताका उद्देश किसी विशिष्ट विषयका निरूपण करना नहीं है। सामान्य श्रोताओंको जैन साधुओं द्वारा सदैव दिये जानेवाले जिन-देवकी पूजा आदि स्वरूप प्रकीर्ण उपदेशको ले कर ही ये कथाएं ग्रन्थबद्ध की गई हैं। इनमेंकी पहली ७ कथाएं, जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे क्या फल मिलता है इस विषयको लक्ष्य करके कही गई हैं।

८ वीं कथा जिनदेवके गुणगानके फलस्वरूपको बतानेके लिये कही गई है। ९ वीं साधुके वैयावृत्यके फलको दिखानेवाली भरत चक्रवर्तिकी प्रसिद्ध कथा है। १० वीं से लेकर २५ वीं तककी १६ कथ साधुओंको दान देनेसे कैसा फल मिलता है इसके उदाहरण-स्वरूपमें कही गई हैं। फिर ३ कथाएं शासनकी उन्नति करनेके फलकी निदर्शक हैं। दो कथाएं साधुजनोंके दोषोंकी उद्भावना करनेसे के कटु फल मिलता है इसके उदाहरणमें हैं। इसी तरह १ कथा साधुजनोंका अपमान निवारणके फल वाचक, १ कथा विपरीत ज्ञानके फलकी प्रकाशक, १ धर्मोत्साहकी प्रेरणाके फलकी सूचक, १ अपरिण जनको धर्मदेशनाके वैयर्थ्यकी निरूपक, १ जिनशासनकी सद्देशनाके महत्त्वकी निदर्शक; एवं ए जैन धर्ममें उत्साहप्रदान करनेके फलकी द्योतक है।

ये सब कथाएं प्रायः प्राकृत गद्यमें लिखी गई हैं। कहीं कहीं प्रसंग वश कुछ संस्कृत पद्य उद्धृ किये गये हैं और दो-एक स्थानोंमें अपभ्रंशके भी पद्य दिये गये हैं। एक देशी रागमें गाई जानेवाल अपभ्रंश चउप्पदिका ( चौपाई ) भी इसमें उपलब्ध होती है ( देखो, पृ० ४२–३ ).

कथाओंकी प्राकृत भाषा बहुत सरल और सुबोध है। इसमें तत्सम और तद्भव शब्दोंके सा सेंकडों ही देश्य शब्दोंका भी उपयोग किया गया है जो प्राकृत भाषाओंके अभ्यासियोंके लिये विशि अध्ययनकी सामग्रीरूप है। ग्रन्थकारकी वर्णन-शैली सुश्लिष्ट और प्रवाह-बद्ध है। न कहीं विशेष समास बहुल जटिल वाक्योंका प्रयोग किया गया है; न कहीं अनावश्यक, शब्दाडंबरद्योतक अलंकारोंक उपयोग किया गया है। स्पष्टार्थक और समुचित-भाव-बोधक छोटे छोटे वाक्यों द्वारा कर्ताने अपन वर्ण्य विषय बडे अच्छे ढंगसे व्यक्त किया है।

कथाओंका आरंभ, पर्यवसान और अन्तर्गत वस्तुवर्णनकी शैली, तो जो जैन कथाकारोंकी एक निश्चित पद्धति पर रूढ हुई है, वही शैली इसमें भी प्रयुक्त है। क्या मनुष्य, क्या देव और क्या पशु-पक्षी आदि क्षुद्र प्राणी – सभी जीवात्माओंको जो सुख-दुःख मिलता है वह सब अपने पूर्वकृत अच्छे बुरे कर्मका फल-स्वरूप है। कर्मके इस त्रिकालाबाधित नियमकी सर्वव्यापकता और सर्वानुमेयता सिद्ध करनेकी दृष्टिसे ही प्रायः समग्र जैन कथाओंकी सभी घटनाएं घटाई जाती हैं। प्रत्येक प्राणीके वर्तमान जन्मकी घटनाओंका कारण पूर्व जन्मका कर्म है और उस पूर्व जन्मके कर्मका कारण उसके पहलेके जन्मका कृत्य है। इस प्रकार जीवात्माकी जन्म-परंपराका और उसके सुखदुःखादि अनुभवोंका कार्य-कारणभाव बतलाना और उससे छुटकारा पानेका मार्गबोध कराना यही जैन कथाकारोंका मुख्य लक्ष्य रहा है। जिनेश्वर सूरिने भी इसी लक्ष्यको सामने रख कर इस कथानक-संग्रह की रचना की है इससे इसकी शैली भी वही होनी थी जो अन्य कथाग्रंथोंकी होती है।

परंतु जैसा कि हमने ऊपर 'निर्वाणलीलावती'के वर्णनमें सूचित किया है – जिनेश्वर सूरि एक बडे सिद्धहस्त ग्रन्थकार हैं और अपनी वर्ण्य वस्तुके स्वरूप-चित्रणमें ये अच्छे निपुण और प्रतिभाशाली कवि हैं। अतः जहां कहीं इन्होंने प्रासंगिक वर्णनका आलेखन किया है वह बहुत ही सजीव और स्वाभाविक मालूम देता है। इन वर्णनोंमें तत्कालीन सामाजिक नीति-रीति, आचार-व्यवहार, जन-स्वभाव, राज-तंत्र एवं आर्थिक तथा धार्मिक संगठन आदि बातोंका बहुत अच्छा चित्रण किया हुआ मिलता है जो भारतकी तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितिका अध्ययन और अनुशीलन करनेवाले अभ्यासियोंके लिये भी पठनीय एवं मननीय सामग्री-स्वरूप है।

कथाग्रन्थोंकी आधुनिक परिभाषाके अनुरूप यदि हम जिनेश्वर सूरिकी इन दोनों कृतियोंका – 'निर्वाणलीलावती' और 'कथाकोशप्रकरण' का – विभाग करें तो पहली कृति विशदरूपवाले बृहत्काय एक उपन्यास ( नवलकथा ) के रूपमें है और यह दूसरी कृति भिन्न भिन्न विषयनिरूपक संक्षिप्त कथाओंका ( फुटकर कहानियोंका – शॉर्टस्टोरिजका ) संग्रह-ग्रन्थके रूपमें है।

इस कथासंग्रहकी प्रत्येक कथामें जिनेश्वर सूरिने कुछ-न-कुछ अपना स्वतंत्र रचना-कौशल प्रदर्शित किया है और अपने वर्ण्य विषयको सुन्दर भाव, भाषा और वर्णनसे अलंकृत किया है। इसके उदाहरण-स्वरूप यहां पर कुछ कथाओंका सार देना उपयुक्त समझा है जिससे पाठक मूल ग्रन्थके स्वरूपको ठीक ठीक समझ सकें। सबसे पहले शालिभद्रकी कथाका परिचय पढिये।

## शालिभद्रकी कथाका सार।

अत्यंत दरिद्रावस्थामें भी साधुको पूर्वभवमें भाव-पूर्वक अन्नदान देनेसे अगले जन्ममें कैसी विपुल समृद्धि प्राप्त हुई इसके उदाहरणस्वरूप वणिक्पुत्र शालिभद्रकी कथा जैन साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध है। जिनेश्वर सूरिने भी इस ग्रन्थमें उस कथाको निबद्ध किया है। कथावस्तु तो वही है जो अन्यान्य ग्रन्थोंमें ग्रथित है; परंतु उसके कहनेकी शैली जिनेश्वर सूरिकी अपने ढंगकी निराली है। इस कथामें जहां मगधका राजा श्रेणिक, शालिभद्रकी माताके आमंत्रणसे, उसके घर पर अपनी रानी चेल्लणाके साथ, भोजन करनेके लिये आता है, उस प्रसंगका जिनेश्वर सूरिने जैसा वर्णन आलेखित किया है उस परसे, उस समयमें बहुत बडे धनाढ्य वणिग् जनोंकी समृद्धि कैसी विपुल होती थी और किस तरह वे उसका उपभोग करते थे इसका बडा मनोरम और तादृश्य चित्र मनमें अंकित हो ऊठता है। जो प्राकृत भाषाके ज्ञाता हैं वे तो स्वयं इस वर्णनको पढ कर हमारे कथनकी अनुभूति कर सकेंगे परंतु जो मूल ग्रन्थकी भाषाको नहीं समझ सकते उनके लिये हम यहां पर, उदाहरणस्वरूप, उस वर्णनका कुछ सार देते हैं जिससे पाठकोंको जिनेश्वर सूरिकी वर्णन-शैलीका कुछ आभास हो सकेगा।

प्रसंग यह है – मगधकी राजधानी राजगृहमें परदेशके कुछ व्यापारी बडे मूल्यवाले रत्नकंबल बेचनेको आते हैं। कंबलोंकी कीमतें इतनी अधिक हैं कि जिससे उनको कोई बडा धनिक तो क्या खुद राजा भी, अपनी प्रिय पट्टरानी चेलनाकी बहुत कुछ मांग होने पर भी, खरीदनेकी हिंमत नहीं कर सका। इसकी खबर शालिभद्रकी विधवा माता भद्रा सेठानी – जो कि अपना सब कारोबार करनेमें बडी निपुण और सब तरहसे समर्थ थी – को हुई तो उसने वे सब कंबल खरीद लिये और उनके टुकडे करके अपनी बहुओंको, जो संख्यामें ३२ थीं, 'पायपोंछ'के रूपमें पैरोंके नीचे डालनेके लिये दे दिये। राजाको जब इसका पता लगा तो उसके मनमें भद्रा सेठानीके घरकी समृद्धिके बारेमें बडा कौतुक उत्पन्न हुआ। राजाने शालिभद्रसे मिलना चाहा तो भद्रा सेठानीने उसको, अपनी पट्टरानीके साथ भोजनके आमंत्रणके बहाने, अपने घर पर आनेकी प्रार्थना की और राजा उसका स्वीकार कर एक दिन सेठानीके घर पर आया और शालिभद्रसे मिला। शालिभद्रको तो इस मुलाकातसे संसार पर विरक्ति हो गई और उसने अपनी वह विपुल समृद्धि और ३२ पत्नीयोंका त्याग कर, जैन मुनिपनकी दीक्षा ले ली और अन्तमें कठोर तपश्चर्या करके मुक्तिमार्गको प्रस्थान किया। हम यहां पर यह सारी कथा न दे कर राजा श्रेणिकका भद्रा सेठानीके घर पर आनेका जो प्रसंगवर्णन जिनेश्वर सूरिने अपने ढंगसे किया है उसका सार देते हैं –

"अन्यदा राजगृहमें दूर देशसे रत्नकंबल बेचने वाले बनिये आये । उन्होंने वहांके महाजनोंको क
बताये । महाजनोंने पूछा इनका दाम क्या है ? तो उन्होंने कहा 'एक-एककी कीमत एक-एक लाख है
'बहुत महंघे हैं' ऐसा कह कर किसीने नहीं लिया । वे राजमहलमें गये । श्रेणिक राजाको दिखाये केि
बहुत महंघे होनेसे उसने भी न लिये । रानी चेल्लनाने राजासे कहा कि 'मेरे लिये तो एक लो ।' प
राजाने न चाहा । बनिये वहांसे चले गये । घूमते फिरते वे भद्राके घर पर पहुंचे तो उसने देख क
सब ले लिये और मूल्य चुका दिया । रानी चेल्लना राजाके कंबल न ले देने पर रुष्ट हो गई । रा
उन बनियोंको फिर बुलाया तो उन्होंने कहा गोभद्र सेठकी पत्नी भद्राने हमारे सब कंबल खरीद लिये
राजाने फिर अपने एक प्रधान पुरुषको उसके वहां भेजा और कहलाया कि कीमत ले कर एक कं
मेरी रानी चेल्लनाके लिये देना । भद्राने कहा – 'महाराजके साथ हमारा क्या व्यापार-व्यवहार ? कि
ही मूल्यसे कंबल दिया जा सकता है । परंतु वे सब कंबल तो मैंने अपनी पुत्रवधुओंको, पलंगके नी
पांव पौंछनेके लिये, डाल रखने को दे दिये हैं । बहुत समयके बने होनेसे उनमें कीडोंने कुछ
निकाल दिये हैं और इस लिये उनसे बहुओंके कहीं पांव न छिल जायँ इस डरसे उनके 'पायपोंछ'
नहीं बनाये गये । महाराजका यदि उनसे कुछ काम निकल सकता हो तो, आज्ञा होने पर समर्पण
दिये जायंगे ।' राजासे यह निवेदन किया गया । वह सुन कर प्रसन्न हुआ – अहो ! मैं कृतार्थ
जिसके प्रजाजनोंमें ऐसे वणिग् लोक हैं । मुझे देखना चाहिये कि कैसा उनका समृद्धिविस्तार है
प्रधान पुरुषोंको भेज कर राजाने शालिभद्रको मिलने बुलाया तो सेठानीने कहलाया कि 'महारा
ऐसी आज्ञा न करें । शालिभद्रको आज तक चंद्र-सूर्यके भी कभी दर्शन नहीं हुए । महाराज, कृपाक
मेरे घर पर पधारें ।' राजाने स्वीकार किया । भद्राने कहलाया मैं जब महाराजको बुलाऊं तब आवें

उसके बाद उस सेठानीने [ राजाके आगमनके स्वागत निमित्त तैयारियां कीं ] राजमहलके सिंहद्वा
लेकर अपने घर तकके राजमार्गको सजानेकी व्यवस्था की । पहले बडी लंबी लंबी बल्लियां खडी कीं
उन पर आडे बांस डाले । उन पर बांसकी खपाटें रखीं और उनको सणकी दोरियोंसे ( सूतलीसे ) स
कसकर बांधीं । उन पर खसकी टट्टियां बिछाई गईं । उनके नीचे द्रविडादि देश ( मदुरा ? ) के
हुए मूल्यवान् वस्त्रोंके चंदुए बांधे गये । हारावलियोंको लटका कर कंचुलियां बनाई गईं । जालि
बनाकर उनमें वैडूर्य लटकाए गये । सोनेके बने झुमके बांधे गये । पांचों वर्णोंके मिले हुए तरह तरह
फूलोंसे आच्छादित पुष्पगृह बनाया गया । बीच-बीचमें जगह-जगह तोरण लटकाए गये । सुगन्धि
जलका जमीन पर छटकाव किया गया । पद-पद पर कालागुरु आदि धूपसे महकती धूपदानियां र
गईं । सर्वत्र पहरा देनेके लिये शस्त्रधारी पुरुष नियुक्त किये गये । जगह-जगह मंगलोपचार करनेवा
विलासिनी स्त्रियों द्वारा, गीत वादित्र आदिके साथ, नाटकादिका प्रबन्ध किया गया । इस प्रकार की स
सजावट करके, फिर अपने प्रधान पुरुष भेज कर सेठानीने महाराजाको, उचित परिजनोंके साथ, आने
आमंत्रण भेजा ।

राजा श्रेणिक, रानी चेल्लणाके साथ पालकीमें बैठ कर सुभद्रा सेठानीके घर पर जाने निकला । रास्ते
राजमहलोंके सिंहद्वारसे ले कर सेठानीके घरके द्वार तक जो कुछ सजावट की गई थी उसे रानी चेल्लनाव
बताता हुआ, राजा सेठानीके घर पहुंचा । वहां उसका मंगलोपचार द्वारा स्वागत किया गया । कोठी
अंदर प्रवेश करते हुए उसने पहले तो दोनों तरफ बनी हुई, अच्छे-अच्छे प्रकारके घोडोंकी घुडशाल
देखी । उसके बाद शंख और चामरोंसे अलंकृत ऐसे हाथी और हाथीके बच्चोंके समूहको देखा । भवन

प्रवेश करने पर, पहली मंजिलमें कीमती चीजोंके भंडारको देखा। दूसरी मंजिलमें दास और दासी जनोंके खाने-पीनेकी सामग्री और रहनेकी व्यवस्था देखी। तीसरी मंजिलमें स्वच्छ और सुन्दर वस्त्रोंसे सज्जित रसोई बनानेवाले पाचक जनोंको, नाना प्रकारकी रसोईकी तैयारी करते देखे। वहीं एक तरफ, पानकी थेली रखनेवाले नोकर जनमेंसे कोई सुपारी कतर रहेथे तो कोई पानका बीडा बनाकर उनमें केसर कस्तूरी और घनसारके सुवासित पुट लगा रहे थे। चौथी मंजिलमें सोने-बैठने और भोजन करनेकी शालाएं (दालान) और उनके पासके अपवरकों (ओरडों=कोठों)में नाना प्रकारके भांडागार देखे। वहीं पर राजाके बैठनेका आसन बिछाया गया। सुखासन पर बैठते हुए राजाने पूछा – 'शालिभद्र कहां है?' सेठानीने कहा – 'महाराज, जितनेमें आपका स्वागतोपचार हो जायगा उतनेमें वह भी आ जायगा। इसलिये महाराज स्नान-भोजनादिके करनेकी कृपा करें।' राजाने सेठानीके उपरोधसे वह प्रस्ताव स्वीकार किया। रानी चेल्लनाको एक चित्र-विचित्र मंडपमें बिठाई गई। वहांपर विलासिनी स्त्रियोंको बुलाई गईं और उनको सुगंधित ऐसे निर्माल्यकी सामग्री दी गई। उन्होंने रानीका अभ्यंग और उद्वर्तन आदि किया। वैसे ही राजाके लिये किया गया। बादमें वे पांचवीं मंजिलपर चढे। वहां उन्होंने सब ऋतुओंमें खिलनेवाले फूलोंसे लदे हुए पुन्नाग, नाग, चंपक आदि सेंकडों ही प्रकारके पुष्पवृक्ष और लताओंसे संकुल ऐसा, नंदनवनके जैसा, सुन्दर कानन (बगीचा) देखा। उसके मध्य भागमें एक क्रीडा-पुष्करिणी (स्नानकरनेकी जलवापिका) देखी, जिसके उपरका भाग ढंका हुआ हो कर कहीं पर चंद्र-सूर्यका प्रकाश भी बिल्कुल नहीं दीख पडता था; परंतु आस-पास भींतोंमें, स्तंभोंमें और छज्जोंमें लगे हुए पांचों प्रकारके रंग फैलानेवाले रत्नोंके प्रकाशसे जो चकचकित हो रही थी। किलीका (नटबोल्ट)के प्रयोगद्वारा जिसका पानी अन्दर लिया जाता तथा बहार निकाला जाता था। चंद्रमणिसे जिसकी आसपासकी वेदी बनाई गई थी। चारों तरफ तोरण लगे हुए थे और इस तरह वह देवताओंके लिये भी प्रार्थनीय वस्तु थी। राजा अपनी रानीके साथ उसमें नहानेके लिये उतरा। उसके जलके तरंगोंके हिल्लोलोंसे कभी रानी अपने स्तनके भारको न संभाल सकनेके कारण खींच कर राजाकी तरफ चली जाती थी और कभी राजा भी देवीके उछाले हुए पानीके धक्कोंसे खींच कर रानीकी तरफ चला आता था। राजाके ऊछाले हुए पानीके जोरसे कभी रानीका उत्तरीय वस्त्र खिसक कर उसके नितंबोंसे लिपट जाता था और फिर कभी वहांसे हट कर स्तनोंसे चिपक जाता था। कभी राजा रानीको कमलकोरकोंसे आहत करता था तो कभी रानी राजा को। फिर राजाने एक दफह पानीको ऐसे जोरसे ऊछाला कि जिसके धक्केको न सह सकनेके कारण रानी उत्रस्त हो कर एकदम राजाको आ कर लिपट गई। इस प्रकार अच्छी तरह जलक्रीडा करके वे दोनों फिर स्वस्थ हुए।

इस जल क्रीडाके समय राजाकी अंगुलीमेंसे एक बहुमूल्य मुद्रिका गिर कर पानीमें पड गई। राजा इधर-उधर पानीमें देखने लगा, पर पता नहीं लगा। फिर भद्रासे पूछा कि इस मुद्रारत्नका कैसे पता लगेगा? भद्राने अपनी दासीसे उस क्रीडा-वापीके पानीको निकलवा कर, एकदम खाली करवाई तो उसमें एक जगह कोयलेके-से रंगसे काला पडा हुआ वह मुद्रारत्न राजाको दृष्टिगोचर हुआ। राजाने तुरन्त हाथ डाल कर उसे ऊठाना चाहा, तब भद्राने कहा 'देव, बहुओंके निर्माल्यसे यह मुद्रिका मैली हो गई है; आप इसको न छुए।' फिर उसने अपनी दासीको आज्ञा दी कि मुद्रिकाको अच्छी तरह साफ कर महाराजाको समर्पण करे। राजाने रानीके मुंहकी ओर देखा और कहा 'तुम कहती थीं कि जो कंबल बनियोंकी बहुओंके पायपोंछके रूपमें काममें आते हैं वे मुझे ओढनेको भी नहीं मिलते!। यह देखा,

ऐसा कैसे कर सकती हो?' राजा फिर पुष्करिणीमेंसे बहार निकला। फिर उसके शरीरको साफ क लिये सुगंध काषायित चीजें उपस्थित की गईं। गोशीर्ष आदि विलेपनकी वस्तुएं लाई गईं। फिर पह लिये बहुमूल्य वस्त्र समर्पित किये गये।

इस समय सूपकार ( मुख्य रसोईया )ने निवेदन किया कि–'महाराज, चैत्यपूजाका अवसर हो है।' तब वे फिर चौथी मंजिल पर उतर आये। वहांका चैत्यभवन खोला गया। उसमें मणि, रत्न, सु आदिकी बनी हुई जिनप्रतिमाएं देखीं। राजाने मनमें कहा–अहो यह धन्य है जिसके यहां प्रकारकी चैत्यकी सामग्री है। उसको पूजाके उपकरण दिये गये। नाना प्रकारके पूजोपचारके साथ उ चैत्यवंदन किया।

फिर वह भोजनमंडपमें बैठा। पहले दाडिम, द्राक्षा, दंतसर, बेर, रायण आदि चर्वणीय पदा उपस्थित किये गये, जिनमेंसे यथायोग्य ले कर राजाने अपना प्रसादभाव प्रकट किया। इसके बाद ईख गंडेरी, खजूर, नारंग, आम आदि चोष्य चीजें हाजर की गईं। उसके बाद, अनेक प्रकारके अच्छी तरह तैयार किये गये चाटनयोग्य लेह्य पदार्थ लाये गये। फिर अशोक, वट्टीसक, सेवा, मोदक, फेर सुकुमारिका, घेवर आदि अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ पिरोसे गये। बादमें सुगन्धीदार चावल विं आदि लाये गये। फिर अनेक प्रकारके द्रव्योंके मिश्रणसे बनाई हुई कढी रखी गई। उनका आस्वाद क लेने पर वे भाजन (वर्तन) ऊठाये गये। पतद्गृह ( धातुकी कुंडी )में हाथ धुलवाये गये। फिर नान प्रकारकी दहीकी बनी हुई चीजें उपस्थित की गईं, जिनका यथोचित उपभोग किया। फिर वे भाजन ऊठाये गये और हाथ साफ कराये गये। बादमें आधा ओंटा हुआ दूध जिसमें शक्कर, मधु और केसर आदि डाले गये थे, दिया गया। उसके बाद आचमन कराया गया। दाँत साफ करनेके लिये दन्तशला- काएं दी गईं। दाँतोंको निर्लेप करनेके निमित्त सुगंधि उद्वर्तन रखा गया। किंचिदुष्ण पानी द्वारा फिर हाथ धुलाये गये, जिससे अन्नादिकी गन्ध चली गई। फिर हाथोंको मलनेके लिये सुगन्ध काषायित वस्तुएं उपस्थित की गईं।

वहांसे ऊठ कर फिर राजा एक दूसरे मंडपमें जा कर बैठा। वहां पर विलेपन, पुष्प, गन्ध, माल्य और तांबूल आदि चीजें दी गईं। मनोरंजनके लिये विदग्ध ऐसे गायनों द्वारा वादन आदिकी सामग्रीके साथ, प्रेक्षणक ( नाटकादि नृत्य वगैरह )का प्रारंभ हुआ। राजाने कहा 'शालिभद्रको देखना चाहते हैं।' भद्रा बोली–'आ जायगा।' वह फिर उपर छठवीं मंजिलमें गई। शालिभद्रने, मांको आती देख खडे हो कर, स्वागत किया। पूछा–'मां! आप क्यों आई हैं?' मांने कहा–'बेटा, चौथी मंजिल पर चलो, श्रेणिक को देखो।' शालिभद्रने कहा–'मां यह तो सब तुम ही जानती हो कि महंगा है या सोंगा है। जैसे ठीक लगे ले लो।' मांने कहा–'जात, वह कोई किराना=माल नहीं है, किंतु तुम्हारा स्वामी राजा श्रेणिक है। वह तुझको देखनेकी उत्कंठासे घर पर आया है।' सुन कर शालिभद्र आश्चर्यान्वित हो कर बोला–'मेरा भी कोई स्वामी है!' फिर माताके आग्रहसे वह नीचे उतरा। देवकुमार जैसे सुंदर स्वरूपवाले कुमारको देख कर राजाने उसे अपनी भुजाओंसे ऊठा लिया और फिर अपनी गोदमें बिठाया। क्षण- भरके बाद ही माता भद्राने कहा कि–'देव, इसे जानेकी आज्ञा दीजिये।' राजाने पूछा–'क्या कारण?' भद्रा–'देव, यह मनुष्योंके गन्ध माल्य आदिके गन्धको सहन नहीं कर सकता। क्यों कि प्रतिदिन इसको देवता ही दिव्य प्रकारके विलेपन, पुष्प, गन्ध आदि देते हैं; खानेके लिये भी वैसे ही दिव्य प्रकारके फलादि और पीनेका पानी भी वैसा ही उनके द्वारा आता है। एक बार पहने हुए वस्त्र फिर कभी दुबारा नहीं पहने जाते। अतः इसे जाने दीजिये।' राजाने कहा–'यह सब चेल्लना (रानी) नहीं

जानती है, इस लिये कहती है कि वणिक् स्त्रियां ऐसे पायपोंछ बनाती हैं और मैं जो राजाकी अग्रमहिषी हूं उसे वह ओढनेको भी नसीब नहीं । परंतु यह सब उस सत्कर्मका फल है जो पूर्व भवमें किया गया है । धन्य हो तुम पुत्र, ऊठो जाओ ।' शालिभद्र ऊठकर अपने स्थान पर गया । राजा भी ऊठा और जानेके लिये अपनी पालकीमें जा कर बैठा । तब भद्रा सेठानीने कुछ बढिया जातिके घोडे और हाथीके बच्चे मंगवा कर राजाको भेंट किये । तब राजाने कहा-'रहने दीजिये इन्हें यहीं; और भी जो कोई वस्तु आवश्यक हो मुझे उसकी सूचना देना ।' भद्राने कहा-'देव, यह बात ठीक ही है । महाराज तो सबकी चिंता करनेवाले हैं । किंतु यदि आप मेरी इस तुच्छ भेंटका स्वीकार नहीं करेंगे तो मेरे चित्तको शान्ति नहीं होगी; इसलिये कृपा करके इसका स्वीकार कीजिये ।' फिर राजाके मंत्रियोंने कहा कि-'देव, इसका स्वीकार करना उचित है ।' तब आग्रहवश हो कर उसने उसका ग्रहण किया और वह अपने स्थान पर गया ।

शालिभद्रकी कथामें जिनेश्वर सूरिका किया गया यह वर्णन, उस मध्यकालीन भारतीय सामाजिक स्थितिका एक ऐसा तादृश चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है जो मानों आंखों देखा जा रहा हो । जिनको बड़े-बड़े धनवानों और राजा-महाराजाओं द्वारा आधुनिक एवं युरोपीय पद्धतिसे दिये जानेवाले भोजन-समारंभोंका कुछ अनुभव होगा वे इस वर्णनकी वास्तविकताका ठीक आभास प्राप्त कर सकेंगे ।

*

## सिंहकुमार नामक राजकुमारकी कथाका सार

जैसा कि हम वर्तमान समयमें भी कुछ ऐसे सामाजिक प्रसंगोंकी घटनाएं देखते हैं जिनमें अपनी प्रियतमा स्त्रीके निमित्त, कभी कोई युवराज और कभी कोई सम्राट् भी, अपनी राजगादीका त्याग कर कहीं प्रदेशान्तरोंमें चले जाते हैं और सामान्य नागरिककी तरह अपना दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हैं । वैसी ही कुछ घटनाएं कभी कभी प्राचीन भारतमें भी होती रहती थी जिसका एक उदाहरणरूप कथानक भी जिनेश्वर सूरिने प्रस्तुत ग्रन्थमें निबद्ध किया है ।

यह कथानक इस प्रकार है-सीहकुमार नामका एक राजकुमार है जिसका सुकुमालिका नामक एक बहुत ही सुंदर और चतुर राजकुमारीके साथ पाणिग्रहण हुआ है; और दोनोंमें परस्पर अत्यंत ही प्रेम और स्नेहका उद्रेक है । राजकुमार बडा धर्मिष्ठ है और देव-गुरुकी उपासनामें रत रहता है । एक दिन कोई विशिष्ट ज्ञानी धर्माचार्य आते हैं जिनको वन्दना करनेके लिये राजकुमार जाता है । धर्माचार्यको अतिशय ज्ञानी जान कर राजकुमार पूछता है कि-'भगवन्, मेरे पर मेरी पत्नी सुकुमालिकाका जो अत्यंत गाढ अनुराग रहता है वह क्या यों ही स्वाभाविकरूप है या किसी पूर्व जन्मका कोई विशेष स्नेहसंबंध उसमें कारणभूत है ?' इसके उत्तरमें सूरिने उसके पूर्व जन्मकी कथा कह सुनाई; जो इस प्रकार है-

इस भारतवर्षमें कौशाम्बी नगरीमें एक सालिवाहन नामक राजा हो गया जिसकी प्रियंवदा नामकी महादेवी थी । उनका ज्येष्ठ पुत्र तोसली नामक था । वह बडा उत्कृष्ट रूपवान् एवं रतिविचक्षण हो कर युवराज पद पर प्रतिष्ठित था । उसी कौशाम्बीमें धनदत्त नामका एक सेठ रहता था जिसकी नन्दा स्त्री और सुन्दरी नामक पुत्री थी । वह सुन्दरी अत्यंत रूपवती थी, परंतु उसका ब्याह वहींके सागरदत्त नामक सेठके पुत्र जसवर्द्धनके साथ किया गया जो शरीरसे बहुत ही कु[illegible] सुन्दरीको वह पसन्द नहीं पडा । उसके दर्शनमात्रसे ही वह उद्विग्न हो जाती थी

आदिकी तो बात ही कहां । इस तरह उसकी रसिक मनोवृत्ति नारककेसे दुःखका अनुभव किया क थी, परंतु कुलमर्यादाके अंकुशके नीचे दबी हुई और कहीं पर जाने-आनेके प्रसंगसे वंचित रहती वह अपना जीवन यों ही व्यतीत कर रही थी।

किसी समय उसका पति जसवर्द्धन, अनेक प्रकारका माल इकट्ठा करके परदेशमें व्यापार कर लिये जानेको उद्यत हुआ, तो उसने अपनी पत्नी सुन्दरीसे भी साथमें चलनेके लिये आग्रह किया। लेकि वह तो उससे बहुत ही निर्विण्ण थी। नाम भी लेना सुनना पसन्द नहीं करती थी तो साथमें जानेकी बात ही कैसी? उसने कहा—'मेरा शरीर बिल्कुल ठीक नहीं है। पेटमें शूल ऊठा करता है, खा कभी रुचि नहीं होती है, खाया हुआ हजम नहीं होता है और निद्राका तो सर्वथा नाश ही हो ग है। ऐसी हालतमें मैं कैसे तुम्हारे साथ चलूं? यदि रास्तेमें ही मेरी मृत्युकी अपेक्षा हो तो मैं चलने तैयारी करूं?।' यह सब बात उसके सासु-ससुरने सुनी तो उन्होंने अपने पुत्रसे कहा कि—'बेट बहुको यहीं रहने दो और तुम जा कर कुशलपूर्वक जल्दी वापस आओ।' यों जसवर्द्धन परदेश ग और सुन्दरी वहीं रही।

उसके जाने बाद सागरदत्त सेठने सोचा—पतिकी अनुपस्थितिमें इस बहुकी रक्षा करना दुष्कर-का है। यदि कोई खराब काम करती दिखाई दी, तो कुछ कहने-सुनने पर कलहका कारण बनेगा औ जसवर्द्धन भी आने पर इसकी विप्रतारणा करेगा। इससे यह अपने पिता धनदत्तके घर पर रहे तो अच्छ है। सेठने यह परामर्श अपनी स्त्रीसे भी किया और उसने भी इस विचारको पसन्द किया। फिर सेठने सुन्दरीके पिता धनदत्तको इस वृत्तान्तसे ज्ञात किया और कहलाया कि 'बहु अपनी माँके पास रह क औषधि वगैरहका उपचार करावें तो अच्छा है; इसलिये इसको वहां बुला ली जाय।' धनदत्तने कहा- 'हमारे लाड-प्यारके कारण तो थोडासा कुछ कहने पर भी यह रुष्ट हो जायगी। और तुम तो इसके अभिभावक हो इसलिये कुछ कठोर वचन कहोगे तो भी कोई अनुचित नहीं समझा जायगा और हमको उसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। इसलिये यह तुम्हारे घर पर ही रहे सो अच्छा है।'

इस पर सागरदत्त सेठने उसके रहने-करनेका प्रबन्ध अपने घरके ऊपरकी मंजिलमें कर दिया। वह सदा वहीं रहती है। दासीयां उसको वहीं स्नान भोजनादि कराती रहती हैं और वस्त्र पुष्पादि देती रहती हैं। इस तरह उसका समय व्यतीत हो रहा है।

एक दिन दर्पण हाथमें लिये हुए मकानके झरोखेमें बैठ कर वह अपने केस संवार रही थी। इतनेमें अपने कुछ स्नेहाढ्य मित्रोंके साथ राजकुमार तोसली उसी रास्तेसे हो कर, कहीं जानेको निकला। सुन्दरी और राजकुमारकी परस्पर दृष्टि मिली और एक-दूसरेकी ओर दोनोंके मनका आकर्षण हो कर अनुराग उत्पन्न हुआ। अपने मित्रके मुँहकी ओर देखते हुए राजकुमारके मुँहसे यह एक पुराणा सुभाषितरूप उद्गार निकला—

> **अनुरूप गुण और अनुरूप यौवन वाला मनुष्य जिसके पास नहीं है;**
> **उसके जीनेमें भी क्या स्वाद है—वह तो मरा हुआ ही है।**

इसको सुन कर, अपने शरीरके मरोडको दिखलाती हुई सुन्दरीने भी, वह सुन सके इस तरह प्रत्युत्तरमें कहा—

> **जो पुण्यहीन होता है वह प्राप्त हुई लक्ष्मीको भी भोगना नहीं जानता;**
> **जिनमें साहस होता है वे ही पराई लक्ष्मीका उपभोग कर सकते हैं।**

राजकुमार उसके अभिप्रायको समझ कर अपने स्थान पर चला गया। वह सुन्दरी भी तोसलीके रूपसे मोहित हो कर और अपना हृदय खो कर बैठी रही। जब विकालवेला हुई तो उसकी सूहविया नामक दासीने आ कर उसको ब्यालू कराया और पुष्प-तांबूल आदि दे कर फिर वह अपने स्थान पर चली गई। सुन्दरी भी अपने कमरेके दरवाजेको बन्ध कर और झरूखेको खोल कर बिछानेमें बैठ गई। पहरभर रात्रिके जाने पर वह तोसली राजकुमार वहां आया और विद्युदुत्क्षिप्तकरण (बीजलीकी तरह लपक कर कहीं ऊपर चढ जानेकी कला) द्वारा झरूखेमें चढ गया और चुपकेसे कमरेमें घुस कर अपने हाथोंसे सुन्दरीकी आंखें दबा लीं। उन दोनोंके बीचमें, फिर परस्पर स्नेहपूर्ण वार्ता-विनोद होता रहा और रति-विदग्ध राजकुमारके रति-विलाससे रंजित हो कर वह सुन्दरी उसके प्रति अत्यंत अनुरागवती हो गई। रात्रिके समाप्त होनेका समय आ जाने पर वह कुमार जैसे आया था वैसे ही पुनः अपने स्थान पर चला गया। सुन्दरी भी रतिक्रीडाके श्रमसे थकी हुई शय्यामें सूर्योदय होने तक सोई रही। सूहविया दासी समय पर दतवन-पानी ले कर आई तो उसने सुन्दरीको गहरी नींदमें सोई देखी। उसने मनमें सोचा जिसका पति परदेश गया हुआ है वैसी स्त्रीका इतने समय तक सोते रहना अच्छा नहीं है। वह चुपचाप वहीं बैठी रही।

जब सुन्दरी बहुत देरके बात जगी और ऊठ कर बैठी हुई तो उसने पूछा – 'स्वामिनि, क्यों आज इतनी देर तक सोई रही?'

सुन्दरीने कहा – 'पतिके वियोगमें सारी रात नींद नहीं आई, अभी अभी सबेरा होनेके समय कुछ आंख मिली।'

दासीने पूछा – 'स्वामिनि, तेरे होठोंपर यह क्या हुआ है?'

सुन्दरी – 'शरदीके मारे फट गये हैं।'

दासीने पूछा – 'तेरी आंखोंमेंसे यह काजल कैसे गल रहा है?'

सुन्दरीने कहा – 'पतिके वियोगमें रोना आ गया, इससे आंखें मलनी पडीं।'

दासीने पूछा – 'स्वामिनि, यह तेरे गालों पर, तोतेकी चांचसे लगे हुए जैसे क्षत काहेके हैं?'

सुन्दरी बोली – 'पतिके विरहमें उसकी उत्कट याद आ जानेसे अपने आपको जैसे वैसे आलिंगन करनेके कारण कुछ हो गया होगा।'

सूहवियाने कहा – 'मैं तेरे पास सोया करूंगी जिससे एक–दूसरेका आलिंगन किया करेंगे।'

सुन्दरी बोली – 'छीः छीः, पतिव्रताके लिये यह अनुचित होता है।'

दासीने पूछा – 'स्वामिनि, आज तेरा यह कबरीबन्ध बिखर कैसे गया?'

सुन्दरीने कहा – 'बहिन, तूं बडी चालाक है; कैसे कैसे प्रश्न पूछ रही है?। पगली, भर्ताके अभावमें शय्या तपी हुई रेतीके टिंबेके जैसे लगती है। उसमें सारी रात इधरसे-उधर उथल-पुथल करते रहने पर कबरीबन्ध कैसा संवारा हुआ रहेगा?। ऐसे ऐसे प्रश्न करके क्या तूं श्वशुरकुलका क्षय तो नहीं देखना चाहती?'

सूहवियाने कहा – 'छीः छीः स्वामिनि, ऐसा मत समझ कि तेरे श्वशुरकुलका क्षय होगा, बल्कि इसकी तो परम उन्नति होगी।'

ऐसा कह कर सूहविया चली गई। सुन्दरीने भी दूसरी रातको राजकुमार तोसलीके आने पर उसर कहा – 'यदि मेरा कहना करो तो कहीं दूसरी जगह चले चलो। क्यों कि जब मेरे श्वशुरको यह सब

हाल मालूम होगा तो वह राजाको जा कर मिलेगा। राजा भी रक्षा करना चाहेगा। यदि वह जानेगा तो न मालूम क्या करेगा, इसलिये यहांसे निकल कर चले जाना ही अच्छा होगा।' तोसलीने यह प्रस्ताव स्वीकार किया। उसने अपने मकान पर जा कर कुछ बहुत मूल्यवान् रत्नादिक सा कर, दो अच्छे तेजवान् घोडे तैयार किये। एक अपने लिये और एक सुन्दरीके लिये। उसको नीचे ऊतार घोडे पर बिठाई। राजकुमार स्वयं था इसलिये किसीने भी थाने आदिमें कहीं रोक नहीं की और वे शहरसे बहार निकल गये। चलते चलते दूरके राज्यान्तरमें कहीं किसी नगरमें ज ठहरे। वे दोनों घोडे बेच दिये और पानी भरने तथा रसोई आदि करनेके लिये एक दासीको र और धान्य इंधन आदि लाने करनेको तथा घरकी चौकी करनेको एक नोकर रख लिया। इस दोनों परस्पर अत्यन्त स्नेह और प्रेमभावसे अपना जीवन व्यतीत करने लगे। स्वभावसे वे दोनों दानप्रिय थे और स्वल्पकषायी (रागद्वेषादिकी मन्द भावनावाले) थे। किसी समय उनके घ भिक्षाके निमित्त एक साधुयुगल आया। उसको उन्होंने बहुत ही सद्भावपूर्वक आहारदान दिया जि पुण्यसे अगले जन्ममें उत्तम मनुष्य अवतार मिला। वे ही तोसली और सुन्दरीके जीव तुम अब प्रकार सीहकुमार और सुकुमालिकाके रूपमें उत्पन्न हुए हो।' इत्यादि।

पाठक इस कथाके वस्तु और घटनाके स्वरूपको पढ कर समझ सकते हैं कि जिनेश्वर सूरिने अ समयके सामाजिक जीवनकी रीतियोंके चित्र किस प्रकार अंकित किये हैं। तत्कालीन समाजकी दृष्टि कुछ निंद्य और निम्न श्रेणिकी समझी जानेवाली ऐसी घटनाको भी कैसी सहानुभूतिपूर्वक शैलीमें उन्हों आलेखित किया है यह भी खास ध्यान देनेलायक वस्तु है।

धर्माधर्मविषयक मीमांसाकी दृष्टिसे इस कथाका विचार किया जाय तो जिनेश्वर सूरिके कथनानुसार तोसली और सुन्दरीका वह स्नेहपूर्ण सहचार, किसी प्रकारके पापकर्मका सूचक नहीं। लौकिक व्यवहारके नियमानुसार विवाह-संबन्धसे जुडे हुए स्त्री-पुरुषके बीचमें परस्पर प्रेम और स्नेह नहीं है, और उस निमित्तसे वे यदि एक-दूसरेसे पृथक् हो कर किसी अन्य व्यक्तिके साथ जुडकर अपना सांसारिक जीवन विताना पसन्द करें, तो जैन सिद्धान्त उसमें धर्माधर्मका या पापपुण्यका कोई सम्बन्ध नहीं लगाना चाहता। जीवनके विकासकी दृष्टिसे – आत्माकी उन्नतिकी अपेक्षासे – उसमें कोई भी सम्बन्ध साधक वाधक नहीं है। ऐसे सम्बन्धका अच्छा-बुरापन केवल लौकिक दृष्टिसे – लोकव्यवहारकी प्रचलित रूढि व मान्यताकी दृष्टिसे – है, न कि पारमार्थिक अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे। इसलिये आधुनिक सामाजिक सुधारकी दृष्टिसे किये जानेवाले विधवा-विवाह किंवा लग्नविच्छेद विषयक विधानोंका और नियमोंका अथवा साम्यवादकी नई नीति-व्यवस्थाका, जिसमें स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत किसी स्त्री-पुरुषका सहचारस्वरूप दाम्पत्य जीवन वैधानिक माना गया है, जैन सिद्धान्तके तात्त्विक दृष्टिकोणसे, कोई हेयत्व या उपादेयत्व नहीं माना जा सकता।

## जैन सांप्रदायिक विचारोंकी चर्चाका कुछ चित्रण

प्रस्तुत ग्रन्थमें जिनेश्वर सूरिने, प्रसंगवश कहीं कहीं तत्कालीन प्रचलित कितनीक जैन सांप्रदायिक रूढियों और अनुष्ठानोंका भी अच्छा चित्र आलेखित किया है और उनके विषयमें अपना स्वाभिप्राय व्यक्त किया है जो जैन संप्रदायके इतिहासके अध्ययनकी दृष्टिसे विशेष मननीय है।

उदाहरणके लिये पृ. ७८ से ८४ तकमें एक मनोरथ नामक श्रावकका कथानक है वह पठनीय है।

## मनोरथ श्रावककी कथाका सार।

चंपा नामक नगरीमें मनोरथ नामक एक श्रमणोपासक रहता है जो चैत्य और साधुगणकी पूजामें सदैव रत और साधर्मिकोंमें वात्सल्यवाला है। एक दिन पौषधशालामें बहुतसे श्रमणोपासक इकट्ठे हो गये और उनमें परस्पर, दानके देने न देनेके विषयमें निम्न प्रकारका वार्तालाप चल पडा।

एक वीर नामक श्रावकने कहा – 'गृहस्थोंके लिये दान ही एक परम धर्म है।'

तब सिद्ध नामक श्रावक बोला – 'यह ठीक है। किंतु जो द्रव्य-भाव ग्राहकशुद्ध है वही दान मोक्षका कारण है।'

· तब निन्नने कहा – 'कैसा दान द्रव्यशुद्ध कहा जाता है?'

सिद्धने कहा – 'उद्गमादि दोष रहित जो दान दिया जाता है वह द्रव्यशुद्ध है।'

इसपर वीरने पूछा – 'तो क्या देश-कालकी अपेक्षासे उद्गमादिदूषित दान शुद्ध नहीं होता? क्यों कि आगममें तो कहा है कि 'जयणा' पूर्वक आधाकर्म आहार भी कभी लेना उचित होता है। इसलिये ग्राहकशुद्ध होना ठीक है, द्रव्यशुद्धिसे क्या मतलब है?'

इस पर पुन्नाने पूछा – 'ग्राहकशुद्ध किसको कहते हैं?'

वीरने उत्तर दिया – 'मूलगुण-उत्तरगुणसे विशुद्ध ऐसा जो साधु है वह ग्राहक कहलाता है। उसको जो दिया जाता है वह ग्राहकशुद्ध कहा जाता है। इसका जिक्र **भगवती** सूत्रमें है। उससे ज्ञात होता है कि – अशुद्ध दान भी शुद्ध ग्राहकको दिया जाय तो उससे बहुत निर्जरा होती है। इसलिये ग्राहक-शुद्ध दान ही शुद्ध दान है।'

इस पर दुग्गाने कहा – 'अरे भाई, ऐसा मत कहो, जो दायकशुद्ध है वही शुद्ध दान है।'

तब चच्च बोला – 'दायकशुद्ध कैसा होता है?'

दुग्गने उत्तर दिया – 'जो दाता परम श्रद्धासे देता है वह दायकशुद्ध है। ग्राहकशुद्धि और द्रव्यशुद्धिसे क्या मतलब है? देखो, रात्रिमें सिंहकेशरकी याचना करनेवाला कैसे विशुद्ध ग्राहक हो सकता है, तो भी दायकशुद्धिके होने पर ग्राहकको केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया था; और दाता भी बडी भारी निर्जराका भागी बना था। इसलिये दायकशुद्धिवाला दान ही मोक्षका कारण होता है।'

इसपर मुग्ध नामक श्रावकने कहा – 'दायकशुद्धिके विना भी, ग्राहकशुद्धिके न होने पर भी, और द्रव्यशुद्धिके अभावमें भी, तुमने दानको मोक्षका कारण वर्णन किया है। इसलिये इसमें किसी प्रकारके विचारकी कोई आवश्यकता नहीं। जैसे तैसे भी दान मोक्षका निमित्त है।'

राम बोला – 'अरे, ऐसा मत प्रलाप कर। इस तरह तो कार्पटिक और तटिक आदि हृष्टपुष्ट भीख-मंगोंको दिया गया दान भी मोक्षका कारण कहना पडेगा।'

मुग्ध बोला – 'इसमें जैन मतसे विरुद्ध क्या है? दिया हुआ दान मोक्षका ही कारण होना चाहिये। नहीं तो फिर "जिन भगवान्ने कभी अनुकंपा दानका निषेध नहीं किया" ऐसा जो शास्त्रवचन है उसका क्या अर्थ होगा?'

रामने कहा – 'छीः छीः, अरे महानुभाव इस तरह घोडेकी पूंछको बछडेको चिपकानेकी कर। सुन मैं तुझे एक लौकिक आख्यान इस विषयमें कहता हूं।

## रामका कहा हुआ लौकिक आख्यान।

किसीएक देशके कोई नगरमें एक चतुर्वेदी ब्राह्मण रहता था। वह छात्रोंको वेद पढाये करता था। दफह किन्हीं छात्रोंने उससे कहा–'हमको वेदान्त पढ़ाइये'। वह उनकी योग्यताकी परीक्षा करने निमित्त बोला–'उसके लिये तो कुछ क्रिया करनी पडती है।' छात्रोंने पूछा–'सो कैसी?' उसने कहा 'काली चतुर्दशीके दिन श्वेतवर्णके छाग (बकरे)को मारना होता है; लेकिन ऐसी जगह पर, जहां कोई भी न देखता हो। फिर उसका मांस पका कर खाना चाहिये। बादमें वेदान्तका श्रवण करनेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है।' इस बातको सुन कर, उनमेंसे एक छात्र श्वेत छागको ले कर काली चतुर्दशीकी रात्रिको गांवके बहार कहीं निर्जन स्थान पर गया और उस बकरेको मार कर, उपाध्यायके पास आया। उपाध्यायने समझ लिया कि यह अयोग्य है। इसमें कुछ भी विचार-शक्ति नहीं है। इस उसको वेदका रहस्य कुछ नहीं बतलाया। एक दूसरा छात्र भी इसी तरह बकरेको ले कर एकान्त स्थानमें गया। लेकिन उसने कुछ विचार किया। देखा तो ऊपर आकाशमें टिग-मिग टिग-मिग करते हुए तारे मानों उसकी ओर ताकते हुए नजर आये। इससे वह शून्य ऐसे एक मन्दिरमें गया। सोचता है तो वहां भी वह देवताकी मूर्ति मानों उसे देख रही है ऐसा प्रतीत हुआ। बादमें वह फिर किसी एक शून्य घर (खण्डहर)में गया, तो वहां भी उसे विचार हुआ कि–मैं स्वयं इसे देख रहा हूं, यह बकरा भी मुझे देख रहा है; और जो कोई अन्तर्ज्ञानी पुरुष होगा वह भी इसे देखता ही होगा। फिर उपाध्यायने तो यह कहा है कि–"जहां कोई भी न देखता हो वहां इसे मारना" इससे इसका तात्पर्य तो यह मालूम होता है कि इसे न मारना चाहिये। इत्यादि।

इस आख्यानके रहस्यसे यह बात समझनी चाहिये कि–दुःखितोंमें अनुकंपाभाव रखना ही अनुकंपादान है। और ऐसे दुःखित संसारवासी सब जीव हैं। इसलिये पृथ्वी आदि असंख्य प्रकारके जीवोंका विनाश करके आहार बनाना और उसको वैसे ग्राहकोंको दानरूपमें दे कर अनुकंपा करना संगत नहीं है। क्यों कि इसके लिये जो वे त्रस-स्थावर जीव मारे जाते हैं वे क्या अपने वैरी है? और वे क्या अनुकंपाके योग्य नहीं है? यदि ऐसा न होता तो भगवान्, जो कि एकमात्र परहितमें ही निरत थे, उन्होंने क्यों नहीं बावडी-कूएं-तालाब आदि बनवानेका उपदेश दिया। इस लिये परमार्थ भावसे सर्व सावद्य योगका त्याग है वही अनुकंपा दान है। वैसा त्याग साधुको ही होता है। श्रावकको तो वह देशमात्रसे होता है। इसलिये अपनी अपनी भूमिकाके उचित दीन आदि जनोंको ग्रास आदिका दान देना वह उचित दान कहलाता है। इसलिये सूत्रका अर्थ विचारपूर्वक करना चाहिये।'

यह सुन कर, सिर हिलाते हुए जल्लने कहा–'मैंने इन सब बातोंसे यह अर्थ समझा है, कि "किसीने, किसीको, कुछ नहीं देना चाहिये।" जैसा कि छात्र-छाग न्यायसे सिद्ध होता है।'

तब एक साल नामक और भाई बोला–'अरे देवानुप्रिय, तूंने कुछ भी ठीक नहीं समझा है। कह तो यह तूंने कैसे समझा कि "किसीने, किसीको, कुछ नहीं देना चाहिये?"

जल्लने जवाब दिया–'द्रव्यशुद्ध तो कुछ भी नहीं है। क्यों कि अचिंतित ऐसा तो किसीको संभव होता नहीं। साधुको दान देना यह तो सभीको चिंतित ही होता है। और इसका तो तुम निषेध करते हो। दायकशुद्धि भी किसीकी नहीं होती। क्यों कि कहा तो यह है कि न्यायमार्गसे प्राप्त अन्न-पानी आदि द्रव्यका दान ही द्रव्यशुद्धि कहलाता है। वह न्यायमार्ग हम जैसे कूट और कपट कर्मसे व्यवहार करनेवाले वनियोंके यहां कैसा? । इसलिये हमारा दिया गया दान द्रव्यशुद्ध कैसे हो सकता है?।

यदि इसको द्रव्यशुद्धि मान भी लो, तो भी दायकशुद्धि कहां है? क्यों कि दायकशुद्ध दान वह है जो निराशंस भावसे दिया जाता है। सो तो हममें है नहीं। सब कोई दाक्षिण्यता और आशंसा (लाभाकांक्षा) के भावसे दान देता है। दाक्षिण्यता जैसी कि-मुझे सभामें गुरुमहाराजने बुलाया था; आशंसा जैसी कि-परलोकमें मुझे सुख मिलेगा। इसलिये ऐसे दानमें कहां दायकशुद्धि रही। इसीतरह ग्राहकशुद्धि भी नहीं है। क्यों कि शास्त्रका कथन है कि एक भी शीलके अंगका नाश होने पर सभी शीलांगोंका नाश होता है। आगममें कहा है कि-"मनसा आदि करणोंके भेदसे, आहारादि कारणमें, साता आदिको लक्ष्य करके, पृथ्वि आदिकमें, क्षांति आदि धर्मोंका विपर्यय न होना चाहिये" सो ऐसा होना श्रद्धामें नहीं बैठता। इसलिये ग्राहकशुद्धि भी कैसे कुछ हो सकती है?।'

जल्लकी ये सब बातें सुन कर वहां बैठे हुए केका, पूना, धर्मा आदि बोल ऊठे कि-'अरे ऐसा मत बोल। ऐसा कहने पर तो तूं मिथ्यात्वी बन जायगा। क्यों कि शास्त्रविचारका विपर्यय करना ही तो मिथ्यात्व है। इसके सिवा विपर्यासके सिर पर कोई सींग थोडे ही नजर आते हैं। इसलिये तूंने यह सब बातें मिथ्यारूपसे कही हैं। इसकी आलोचना कर और प्रायश्चित्त ले, नहीं तो दुर्गतिमें जायगा।'

इस पर वहां बैठे हुए दत्तने कहा-'इस बात पर तो मुझे एक आख्यानक याद आ गया है जो सुनना चाहो, तो सुनाऊं।' सबने कहा-'हां हां, सुनाओ सुनाओ'-तब दत्तने निम्नगत आख्यान कहा।

## दत्तका कहा हुआ आख्यान।

एक गच्छमें पांच सौ साधु, और एक हजार साध्वियोंका परिवार था। साधुओंमें कोई ऐसा (असमर्थ) नहीं था जो नित्यवास रहनेके योग्य हो। वे सब गुरुके साथ विचरा करते थे। आर्यिकाओंमें कुछ ऐसी (वृद्धायें) थीं जो किसी एक नगरमें प्रायः स्थिर रूपसे रहा करती थीं। उनमें एक रज्जा नामक साध्वी थी जो गलत्कुष्ठा थी, इसलिये वह सबसे अलग एक दूसरे उपाश्रयमें रहती थी। इस तरह एकाकिनी रहनेके कारण वह खिन्न रहा करती थी। एक दिन वह उन अन्य साध्वियोंके पास आई और यथायोग्य वंदनादि करके बैठ गई। तब उन आर्याओंने पूछा-'महानुभावा तेरा शरीर कैसा है?' तो उसने कहा-'प्रासुक पानीके पीनेके कारण यह मेरा शरीर ऐसा हो गया है।' उसकी बातको सुन कर उन आर्याओंके शरीरमें कंप हो आया। 'इस प्रकारका प्रासुक पानीसे हमारा भी शरीर कहीं ऐसा न हो जाय। इसलिये हमें भी क्यों ऐसा पानी लेना चाहिये'-इस प्रकारकी चिंता उनके मनमें होने लगी। एक आर्याने सोचा-'यह कथन ठीक नहीं है। क्यों कि तीर्थंकर भगवान तो सर्व भावोंके स्वभावको जानने वाले हैं, परहितनिरत और विगतरागदोष हैं, सो वे कैसे इसलोक और परलोकमें प्रत्यवाय करनेवाली क्रियाका उपदेश कर सकते हैं? इससे इसका कहना संगत नहीं मालूम देता।' इस प्रकार उसके मनमें अत्यंत संवेगभाव उत्पन्न हो गया और उसके फलस्वरूप उसको केवल ज्ञानकी प्राप्ति हो गई। उसने फिर अपने ज्ञानसे यथास्थित वस्तुस्थितिको जान लिया और बोली कि-'हला आर्याओ, तुम मत विचिंतित बनो। मैंने केवल ज्ञानसे जान लिया है और तुमको कहती हूं, कि तुमने जो मनमें यह विचारा है कि हमें प्रासुक पानी नहीं पीना चाहिये; इसके लिये तुम आलोचना करो और प्रायश्चित्त लो। और रज्जा, तूं इस प्रकार पानीका दोष निकालती हुई तीर्थंकरोंकी आशातना (अवज्ञा) करती है। इससे तो तूं अनंत भवों तक संसारमें भ्रमण करेगी। तेंने धन्ना वणिक्के लडकेका मुंह जो सेडेसे भरा हुआ था, उसको साफ किया था और ठंडे (कच्चे) पानीसे धोया था;

इससे प्रवचन देवता तुझ पर कुपित हुई कि—ऐसा करके तुझने आर्याधर्मको लघुतासे दूषित किया है औ अतएव तुझे इस दुष्कृत्यका फल मिलना चाहिये । इसलिये उसने तेरे आहारमें कुष्ठजनक योग (वस्तु मिला दिया और उससे तेरा शरीर ऐसा हो गया । इसमें पानीका कोई दोष नहीं है ।' सुन का सब आर्याओंने आलोचना की । रज्जाने पूछा—'भगवती ! मैं भी शुद्ध हो सकती हूं ? ।' केवली (आर्या ने कहा—'क्यों न शुद्ध हो सकती है, यदि कोई प्रायश्चित्त दे तो ।' इस पर वह बोली 'भगवती, आप स्वयं केवली हैं, तो फिर आपसे अधिक अन्य कौन समर्थ हो सकता है ?' केवलीने कहा—'मैं भी दे सकती हूं, यदि शुद्धिके योग्य कोई प्रायश्चित्त देखूं तो । किंतु तैंने जिस कुवचन द्वारा तीर्थंकरकी आशातना की है और उससे जो कर्मबन्ध हुआ है वह तो किसी प्रायश्चित्तसे छूट नहीं सकता—वह तो अवश्य भोगना ही पडेगा ।' इत्यादि ।

इससे वह दत्त कहता है कि—'हे महानुभावो, यदि यह बात सच जानो तो फिर क्यों कहते हो कि प्रायश्चित्त लो । इस कथानकके अनुसार तो इसके लिये कोई प्रायश्चित्त ही नहीं हो सकता ।'

तब जल्हने पूछा—'इसमें तीर्थंकरकी क्या आशातना हुई ? ।'

दत्तने कहा—'सुनो, तुमने कहा कि कोई साधु नहीं है । भगवान् वर्द्धमान स्वामीने कहा है कि भारतवर्षमें दुप्पसह आचार्यपर्यंत चारित्र रहेगा । सो तुमारे कथनके मुताबिक भगवान मृषावाद बोलनेवाले हुए । और फिर जो ये धर्मा और केका आदि श्रावकजन, जिनकी इच्छा प्रव्रज्या लेनेकी हो रही है, इनके मनमें भगवानके वचनमें विपर्यासभाव पैदा होगा । जैसा कि तुमने कहा कि—एक शीलांगके नाशसे सभी शीलांगोंका नाश होता है; तो फिर प्रव्रज्या लेनेसे क्या फल मिलेगा । इससे ये प्रव्रज्याविमुख बनेंगे । ऐसे अनेकोंके प्रव्रज्याविमुख बनने पर शासनका विच्छेद होगा । जो प्रव्रज्याविमुख होंगे उनके मनमें कुविकल्प पैदा होनेसे वे मिथ्याभावको प्राप्त हो कर, अनन्त संसारमें परिभ्रमण करते रहेंगे । वे फिर उन अनन्त भवोंमें अनन्त जीवोंका नाश करते रहेंगे जिसका पाप कर्मबन्ध तुमको भी लगेगा । फिर तुमने यह भी कहा कि कोई श्रावक भी नहीं है । सो ऐसा सुन कर जिनके मनमें कुछ धर्मकी श्रद्धा उत्पन्न होती होगी वे समझेंगे कि यह धर्म तो खाली विटंबनाओंका सारमात्र है; इसलिये इसका पालना निरर्थक ही है । इस प्रकार न साधु होंगे, न श्रावक होंगे और ना ही फिर जैन शासन होगा । इसलिये इस प्रकारका कथन करते हुए तुम्हारे लिये, रज्जा आर्याके उदाहरणकी तरह, कैसा कोई प्रायश्चित्त हो सकता है ?'

इन श्रावकोंकी ऐसी विचित्र तर्काभासवाली बातें सुन कर पार्स नामक श्रावक जो कुछ विशेष जानकार था, बोला—'अरे महानुभावो, तुम कोई स्वाध्याय क्यों नहीं करते हो; तुमको इन विचारोंसे क्या प्रयोजन है ? क्यों कि शास्त्रके आदेशानुसार जो गीतार्थ नहीं है उन्हें न तो कोई देशना करनी चाहिये, न कोई वस्तुविचार करना चाहिये । वह युक्तायुक्त कथनको ठीक नहीं जान सकता । और फिर जानते हुएको भी धर्माभिमुख मनुष्योंको विघ्नकारक हो ऐसा कोई कथन नहीं करना चाहिये । केवल सूत्रमात्रके पढनेसे अथवा जाननेसे और अर्थागमकी उपेक्षा करनेसे कोई जानकार नहीं कहा जा सकता । तुमने जो शीलांगविनाश आदिकी बातें की हैं उनके बारेमें बहुत कुछ उत्सर्ग-अपवादरूप शास्त्र-उपदेश है ।

इत्यादि बातें कहते हुए उस पास श्रावकने फिर बकुश-कुशील आदि साधुओंके भेद बतलाये । और कहा कि—वर्तमानमें इन्हीं साधुओं द्वारा धर्मका प्रवर्तन होता रहता है । इस लिये तुमको गुणग्राही बन कर, सार-असार विभागका चिन्तन करते हुए, गुणोंका पक्षपात करना चाहिये । यथाशक्ति उनकी भक्ति

करनी चाहिये। क्यों कि आज भी हमें ऐसे कई साधु दिखाई देते हैं जो द्रव्य-आदिके प्रतिबन्धसे रहित हैं, यथाशक्ति दिनको भी स्वाध्याय करते हैं और विकथासे दूर रहते हैं। प्रायः समितियोंके पालनमें अप्रमत्त होते हैं, यथास्फुट जैनागमोंके सारकी प्ररूपणा करते हैं और एषणासमितिपूर्वक आहार-गवेषणा करते हैं। तो फिर ऐसा कैसे कहा जाय कि साधु नहीं हैं। इसलिये हे भाइयो, अन्यथाभाव न करना चाहिये। इसी तरह कई श्रावक भी शुद्ध-दायक होते हैं। और यह जो कहा कि - सब कुछ चिंतित ही होता है, सो भी साधुओंके प्रत्यनीक ऐसे पापिष्ठोंका मिथ्याभिनिवेश है। क्यों कि साधु विकाल समयमें तो आहारके लिये निकलते नहीं। और फिर क्या तुम्हारे घरोंमें, रसोई कर लेनेके बाद ऐसे मूग आदि नहीं बचते रहते हैं, जो गौ आदिको खिलाये जाते हैं? । क्या बच्चोंको सबेरे खिलानेके लिये, घरोंमें चावल आदि वघार कर नहीं रखे रहते? और अपने घरोंमें विकालमें पकाए हुए मांड आदि जो हवादानमें रखे रहते हैं क्या तुम उन्हें नहीं जानते? यह सब जानते हुए भी यह कैसे कहते, हो कि साधुओंको शुद्ध दान मिल ही नहीं सकता। ऐसा कहनेसे तो जो आधाकर्मादिक आहार ग्रहण करनेवाले शिथिलाचारी साधु हैं उनका स्थिरीकरण होगा, और जो उद्यत-विहारी हैं उनकी अवज्ञा होगी। वह अभव्य या दुर्भव्य ही कहलायगा जो इस प्रकारके वचनों द्वारा साधुओंकी तरफ भक्तिभाव रखनेवालोंका श्रद्धाभंग करता है। भक्तिपूर्वक दान देनेवालोंको देख कर जो कोई शिथिलविहारी होता है वह भी आधाकर्मादिका ग्रहण करनेसे लज्जानुभव करता है। परंतु यदि, जो आधाकर्मादि ग्रहण नहीं करते हैं उनके लिये भी तुम्हारे जैसे ऐसा कहे कि वे ग्रहण करते हैं तो, फिर शिथिल-विहारी उलटा लज्जा छोड कर ही आधाकर्मादिके ग्रहणमें प्रवृत्त होगा। इसलिये अनजानोंके सामने सर्वथा खुले मुंहसे केवल कर्मबन्धका ही कारण होनेवाला ऐसा विवाद न करना चाहिये। इस विषयमें साधुओंके पास मैंने एक आख्यानक सुना है जो मैं तुम्हें सुनाना चाहता हूं।

यह सुन कर वे सब बोले सुनाओ। तब पार्श्वश्रावकने यह कथानक कहा -

## पार्श्व श्रावकका कहा हुआ कथानक।

पुण्डरिकिनी नगरीमें एक पुण्डरीक राजा था और उसका छोटा भाई कण्डरीक युवराज था। वहां पर एक समय स्थविर (साधु) आए। दोनों भाई उन्हें वन्दन करने गये। धर्मोपदेश सुन कर वे अपने घर पर आये, तो राजाके मनमें उपदेश सुन कर विरक्तभाव हो आया। इसलिये उसने अपने छोटे भाईसे कहा - 'मैं दीक्षा लेना चाहता हूं, इसलिये यह राज्यभार तुम ग्रहण करो।' युवराजने कहा - 'मैं स्वयं ही दीक्षा लेना चाहता हूं। इसलिये राज्यका पालन तुम ही करो। तुम्हारे सिवा राज्यधुराको धारण करने योग्य और कोई नहीं है।' यह सुन कर राजाको अपना विचार स्थगित रखना पडा। कण्डरीकने बडी धामधूमके साथ दीक्षा ली। वह खूब तपस्या करने लगा। दो-दो दिनके उपवास नियमित रूपसे करते रहते, कुछ काल बाद उसे बडी भयानक खुजलीका रोग हो गया। धीरे धीरे वह रोग असह्य हो कर दाहज्वरके रूपमें परिणत हो गया। स्थविर फिर घूमते-फिरते उसी पुण्डरीकिनी नगरीमें आये और गांवके बहार उद्यानमें ठहरे। राजा और अन्य प्रजाजन वन्दन करनेको गये। स्थविरका धर्मोपदेश सुना। राजाने अपने भाईको रोगग्रस्त देख कर गुरुसे कहा - 'आप मेरी यानशालामें आ कर ठहरें; जिससे वैद्य, औषध और पथ्यादिके यथाप्रयोग द्वारा मैं कण्डरीककी परिचर्या कर सकूं।' गुरुने स्वीकार किया। वे यानशालामें जा कर ठहरे। राजाने परिचर्या करानी शुरू की। रूक्षताके कारण वह रोग हुआ था इसलिये स्निग्धवस्तुओंके प्रयोग द्वारा उसकी प्रतिक्रिया प्रारंभ की गई। लक्षपाकादिकसे अभ्यंग करार

जाने लगा और नाना प्रकारके व्यंजनोंसे पूर्ण, उष्ण एवं स्निग्ध भोजन दिया जाने लगा । सोनेके लिये कोमल स्पर्शवाली शय्या बनाई गई । इन उपचारोंसे कुछ ही समयमें उसका शरीर ठीक हो गया । तब गुरु वहांसे विहार करनेका विचार करने लगे । परंतु कण्डरीक, वैसे परित्यागी हो कर भी आहारादिमें मूर्च्छित हो कर, वहांसे विहार करनेकी इच्छा नहीं रखने लगा । राजा उसके अभिप्रायको किसी प्रकार जान कर कहने लगा – 'धन्य हो भाई ! तुम, जो इस प्रकार स्नेहके बन्धनको छोड चुके हो और हम तुम्हारे विरहसे कातर बने हुए हैं । तुम अपने गुरुके साथ विहार करनेको उद्यत हो रहे हो सो ठीक ही है; क्यों कि तुम्हारे जैसे परित्यागिको वही शोभा देता है । परंतु कभी कभी हमारा भी स्मरण करते रहना ।' यह सुन कर कण्डरीकने मनमें सोचा – 'भाईके मनमें तो मेरे विषयमें ऐसी संभावना हो रही है । मैं इसे कैसे अन्यथा करूं ? इसलिये मुझे यहांसे विहार करना ही अच्छा है ।' यह विचार कर वह बोला – 'गुरुमहाराज जब विहार करना चाहते हैं तब मुझसे कैसे यहां पर रहा जा सकता है ?' सुन कर पुण्डरीकने कहा – 'सो तो तुम्हारे जैसोंके योग्य ही है ।' इस प्रकारके उपाय द्वारा राजाने उसे वहांसे विहार करवाया ।' इत्यादि ।

पार्श्व श्रावक कहता है – 'इस प्रकार अन्य साधुको भी – जो कोई किसी प्रकारसे शिथिलमनस्क हो जाता हो तो – अनुकूल वचन द्वारा विश्वास उत्पन्न करके विहारकार्यमें उद्यत बनाना चाहिये । और जो कोई अपनी वाचालता दिखला कर प्रत्यनीक भावको प्रकाश करता है और कर्णकटु ऐसा असंबद्ध कथन सुसाधुके विषयमें करता है; तथा यथास्थित आगमको न जानता हुआ भी तद्विषयक विचारोंमें सिर मारता है, वह शान्तस्वभावी साधुओंमें भी 'कुपितभावका' आविर्भाव करता है ।

इस प्रकार साधुओंके विषयके कुविचारोंको सुन कर अभिमुख जनोंको धर्ममें विघ्न होता है और साधुओंको असमाधि । साधुका अभ्याख्यान करनेसे जीवको दीर्घ संसारीभाव ( बहुत काल तक संसारमें परिभ्रमण करते रहनेका पापकर्म ) प्राप्त होता है; और **ईसर** की तरह अत्यंत दुःखका भागी बनता है ।'

यह कथन सुन कर वे सब श्रोताजन बोले कि – 'भाई, वह कौनसा **ईसर** था, जिसने साधुका अभ्याख्यान करनेसे दीर्घसंसारित्व प्राप्त किया ?' इस पर पार्श्वने निम्न प्रकार **ईसर**की कथा कह सुनाई –

## पार्श्व श्रावकका कहा हुआ ईश्वरका कथानक ।

अतीत कालमें एक गांवमें, एक आभीरपुत्र पासके किसी दूसरे गांवसे, किसी प्रयोजनके निमित्त अया । उस गांवमें रातको एक तीर्थंकर मोक्ष प्राप्त हुए, इससे देवताओंने आ कर वहां उद्योत किया और विमानोंसे आकाशको आच्छादित कर दिया । आभीरदारकको यह दृश्य देख कर आश्चर्य हुआ और वह मनमें सोचने लगा, कि ऐसा मैंने कभी कहीं देखा है । इस प्रकार चिंतन करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान हो आया । पूर्वजन्ममें साधुधर्मका पालन करके वह मर कर स्वर्गमें गया था – इसका साक्षात्कार उसे हुआ और उस जन्ममें ज्ञानका जितना अध्ययन किया था उसकी स्मृति हो आई । उसका मन फिर संविग्नभावको प्राप्त हो गया और उसने स्वयं पंचमुष्टि लोच कर सामायिक व्रत ले लिया । देवताने आ कर उसे साधु-वेषके उपकरण दे दिये । वह फिर एक विचित्र स्थानमें जा कर बैठ गया जहां लोगोंका समूह भी आ आ कर जमने लगा । वह उन लोगोंको धर्मोपदेश देने लगा ।

इस प्रसंगमें, उस प्रसिद्ध गोशालक ( जो भगवान महावीरका शिष्य बन कर पीछेसे उनका प्रतिस्पर्धी धर्माचार्य बना था ) का जीव जो उस समय, **ईसर** नामसे कोई कुलपुत्रकके रूपमें अवतरित हुआ था, वह भी उस जनसमूहमें आ कर बैठ गया । उसने फिर उस प्रत्येकबुद्ध मुनिको पूछा, कि 'तुम्हारा जन्म

कहांका है और किसके बेटे हो?' वह साधु वीतराग था, मिथ्या नहीं बोलने वाला था। उसने कहा - 'मैं अमुक गांवके अमुक आभीरका पुत्र हूं।' इस पर ईसरने पूछा - 'किसके पाससे तुमने यह व्रत लिया है और किससे शास्त्र पढा है?' साधुने उत्तर दिया - 'किसीसे नहीं, मैं प्रत्येकबुद्ध (स्वयं दीक्षित) हूं।' यह सुन कर उस ईसरने लोगोंको उद्देश करके कहा - 'अरे, देखो तो सही, आभीरपुत्र हो कर और किसीसे कुछ न पढ कर, हमको ठग रहा है। तो क्या हम तुझसे भी हीन हैं जो तेरे पास धर्म सुनें। अरे, ऊठो, चलो, यह क्या जानता है?। किसी गणधारीके पास चलें।' साधु पर आक्षेप करनेवाले उसके वचनको सुन कर वहां बैठी हुई जनसभाको आघात हुआ। किं तु यह तो एक तुच्छ किंकर है, ऐसा सोच कर किसीने कुछ कहा सुना नहीं। सब चुप हो कर बैठे रहे।

वह ऊठ कर, गांवमें जहां दूसरे गणधारी साधु थे वहां गया। वहां पर व्याख्यान चल रहा था - उसमें विषय आया, कि जो पृथ्वीकायका संघट्ट करता है उसको उस निमित्तसे होनेवाला कर्मबन्ध छ महिनोंकी वेदना भुगतने पर छुटता है, परिताप करनेवालेको बारह वर्षकी वेदना भुगतने पर और उपद्रव करनेवालेको लाख वर्ष तक वेदनानुभव करने पर छुटता है।' यह सुन कर ईसर बोला - 'अहो साधुमहाराज, क्यों ऐसा आलजाल बोल रहे हो! तुम तो ऐसा कह रहे हो जिसे सुन कर कोई भिक्षा भी तुम्हें देनेके लिये तैयार न होगा। तुम स्वयं पृथ्वीपर चलते हो तो फिर कैसे संघट्ट या परिताप नहीं होता और मूत्र और विष्ठा करनेसे उपद्रव भी करते ही हो। इससे तो तुम अन्यथावादी और अन्यथाकारी सिद्ध होते हो। अरे भाइयो, ऊठो इसके पाससे, और जहां वह प्रत्येकबुद्ध उपदेश कर रहा है उसके पास चलो।' ऐसा कह कर वह वहांसे फिर उसी जगह गया। वहां भी उस समय उसी विषय पर व्याख्यान हो रहा था। तब ईसर बोला - 'अहो महाराज, ऐसा अनाप-सनाप मत कहो। तुम आभीरपुत्र हो कर क्या जानते हो? क्या पृथ्वी ऊपर चलते हुए तुम संघट्टन, परिताप, उपद्रवादि नहीं करते? इससे तो तुम्हारी प्रव्रज्या ही निरर्थक है। सदैव पृथ्वीकायका संघट्टनादि जनित कर्म परलोकमें जा कर भोगना होता है। इसलिये तुम ठीक धर्मोपदेश करना नहीं जानते। अरे लोगो, ऊठो यहांसे और आओ मेरे पास। मैं स्वयं तुमको ऐसा अच्छा धर्मोपदेश सुनाता हूं जो सुखपूर्वक किया जा सके।' ऐसा कहता हुआ वह दूसरी जगह जा कर बैठ गया और आने-जाने वाले लोगोंसे अपना मनःकल्पित उपदेश करने लगा। इस तरह उसके कहते हुए, धर्माभिमुख जनोंको विपर्ययभाव पैदा करते हुए, अभिनव धर्मियोंको सन्देहशील बनाते हुए, दृढधर्मियोंको सविशेष कलुषितभाव उपजाते हुए और साधुओं पर अभ्याख्यान देते हुए उसने सातवीं नरकका आयुष्य उपार्जन किया। इतनेमें भवितव्यताके वश उसके सिरपर बीजली पडी और मर कर वह सातवीं नरकमें गया।

इसलिये हे भाईयो, ऐसे विचारोंसे कोई मतलब नहीं है। साधुजनोंकी निन्दा करनेसे निश्चित रूपसे दुर्गति होती है।' इस कथनको सुन कर, उन सब श्रावकोंको संवेगभाव हो आया और वे सब बोले कि 'भाई, तुमने जो कहा है सो सही है।'

इस अवसर पर मनोरथने कहा - 'जो मन्दभाग्य होते हैं उन्हींको ऐसे असद् विकल्प हुआ करते हैं। जो ऐसा कहते हैं कि साधुओंको अचिंतित कैसे प्राप्त हो सकता है? - सो सुनो, तुम जानते ही हो कि मेरी दुकान पर रोज सेंकडों घडे घीके लिये-दिये जाते हैं और बेचे जाते हैं; सेंकडों मन
लेन-देन होता है; सेंकडों ही गांठें कपडेकी ली-दी जाती हैं और हजारों ही

जाते हैं । ऐसे कारोबारवालेके वहां साधुओंको कोई वस्तु लेनेमें कैसे कोई अनेषणीय दोष लग सकता है ? । इसलिये भाईयो, आज मैं तुम्हारे सामने यह अभिग्रह लेता हूं कि जितने भी साधु इस चंपानगरीमें विहार करते हुए आयेंगे उन सबको मैं घी, गुड, वस्त्र और कंबल, जितनी मात्रामें आवश्यक होंगे उतने दूंगा, तब तक कि वे अपनी अनिच्छा प्रकट नहीं करेंगे ।' इस प्रकारका अभिग्रह करते हुए उसने अपने विशुद्ध परिणामोंके कारण वैमानिक जातीय उच्च कोटिके देवभवका आयुष्य कर्म उपार्जित किया । ऐसी प्रतिज्ञा ले कर वह फिर प्रयत्नपूर्वक साधुओंके आगमनकी प्रतीक्षा करता रहा परंतु उन दिनों वहां कोई साधु आये-गये नहीं और उसके अभिग्रहकी सफलता हुई नहीं । इसी बीचमें फिर उसकी मृत्यु हो गई । अपने शुभ परिणामके कारण मर कर वह ईशान देवलोकमें इन्द्रके रूपमें उत्पन्न हुआ । वहांसे च्युत होने पर महाविदेहमें जन्म ले कर मोक्ष प्राप्त करेगा ।'

*

इस कथानकगत वर्णनसे पाठकोंको इसका कुछ परिज्ञान भी होगा कि उस समयमें जैन श्रावकोंके बीचमें सामान्य चर्चाके कैसे कैसे विषय होते थे और किस तरह वे परस्पर विचार-विनिमय किया करते थे । इस कथासे यह भी ज्ञात होगा कि उस समयमें भी श्रावकोंमें ऐसा एक वर्ग था, जो वर्तमानकी तरह, साधुओंके आचार-विचारोंके विषयमें शंका-कुशंकाएं किये करता था तथा शास्त्रोक्त आचारके पालनके बारेमें सन्देहशील रहता था । साधुओंके धर्मोपदेशका प्रधान लक्ष्य भी या तो शास्त्रोंकी चित्र-विचित्र बातोंका वर्णन कर लोगोंको बुद्धिवादसे विमुख कर श्रद्धाजीवी बनानेका होता था, या साधुओंकी विद्यमान स्थितिका समर्थन कर उनकी तरफ श्रावक जनोंका भक्तिभाव बढानेका होता था ।

जिनेश्वर सूरिने इस कथाकोशमें, उक्त कथाके अतिरिक्त साधुओंकी श्रद्धापूर्वक भक्ति-उपासना करनेसे और उनको अन्न-वस्त्रादिका दान देनेसे परजन्ममें कैसा पुण्यफल मिलता है तथा इसके विपरीत साधुओंकी निन्दा-जुगुप्सा करनेसे एवं उनपर दोषारोपण करनेसे कैसा पापफल मिलता है—इसके वर्णनमें और भी कई कथानक आलेखित किये हैं । इनमें कई कथानक तो कथा-वस्तुकी दृष्टिसे और सामाजिक नीति-रीतिके दृष्टिसे भी अच्छे मनोरंजक तथा हितबोधक है ।

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि मनुष्यका कोई भी कृत्य या कर्म केवल उसके बाह्य क्रियाकलापके स्वरूप परसे ही शुद्ध या अशुद्ध नहीं समझा जाता । उस कृत्य या कर्मके पीछे करनेवालेकी जो मनोवृत्ति होती है वही उसके शुद्ध—अशुद्ध भावकी सर्जक होती रहती है । लोकव्यवहारकी दृष्टिसे बहुत कुछ दान-धर्म करनेवाला मनुष्य भी अन्तरंगके शुद्ध भावके विना कुछ पुण्यलाभ नहीं कर सकता । इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थमें, ग्रन्थकारने दान देने वाले और दान लेने वाले अर्थात् दाता और ग्राहकके आन्तरिक और बाह्य ऐसे शुद्धाशुद्ध भावोंका तथा कर्मोंका, शुभाशुभ फल बतलानेके लिये अनेक कथानकोंका गुम्फन किया है ।

ऊपर लिखे गये मनोरथके कथानकमें यह बतलाया गया है कि उसने किसी वस्तुका दान न दे कर भी, केवल अपने दानशील मनोभावके कारण, उच्च प्रकारका देवजन्म प्राप्त किया । अगले एक कथानकमें यह बताया है कि बहुतसा दान दे कर भी, मनकी संकुचितताके कारण, एक यक्ष नामका श्रावक उत्तम प्रकारके फलसे वंचित हुआ ।

यह कथानक आध्यात्मिक भावसूचक हो कर भी स्वरूपसे मनोरंजक है इसलिये पाठकोंके निदर्शनार्थ इसका सार भी दे देते हैं । कथानक इस प्रकार है—

## यक्ष श्रावकका कथानक।

इस भारतवर्षके वसंतपुर नामक नगरमें यक्ष नामका एक श्रमणोपासक साधुओंको शुद्ध ऐसे भक्त पानादिका दान करता हुआ रहता था। एक दिन, तपसे जिसका शरीर कृश हो गया है, केशलोचसे जिसका मस्तिष्क शुष्कचर्म हो गया है और जलादिक संस्कारके अभावके कारण जिसका देह विवर्ण हो गया है ऐसे अनगार तपस्वीको, भिक्षाके निमित्त अपने घरकी तरफ उसने आते देखा। उस मुनिका नाम सुदत्त था। यक्ष उसे आते देख, एकदम ऊठ खडा हुआ और घीसे भरा हुआ भाजन ले कर श्रद्धापूर्वक उसे देनेको तत्पर हुआ। सुदत्त मुनि अन्तर्ज्ञानी था। उसने यक्षके श्रद्धाशील मनोभावकी तर-तमताका चिन्तन करते हुए मनमें पर्यालोचन करना शुरू किया, कि ऐसे श्रद्धाशील जीवका कैसा आयुष्यबन्ध होता है। यक्ष बडी भक्तिसे उसके पात्रमें घी डालने लगा। पात्र पूरा भर गया, तो भी साधु अपने मनोविचारमें मग्न होनेके कारण, 'बस, भाई बस करो' आदि कुछ नहीं बोला। यक्ष घी डालता ही रहा और पात्रके भर जाने पर वह फिर उसमेंसे बहार निकल कर नीचे गिरने लगा। इसे देख कर यक्षका मन विचलित हो गया। वह सोचने लगा—यह साधु कैसा प्रमत्त है जो 'बस भाई अब बस कर' आदि कुछ नहीं बोल रहा है। इसको यह दान देनेसे क्या फल है?। ज्यों ज्यों इस प्रकारका विचार उसके मनमें उग्र होता जा रहा था, त्यों त्यों उसका पूर्वमें बन्धा हुआ शुभ आयुष्य भी क्षीण होता जा रहा था और वह अपने उच्च भावोंसे नीचे गिरता चला जाता था। उसकी उस मानसिक क्रियाको जान कर साधुके मुंहसे यह शब्द निकल गया कि 'अरे भाई नीचे मत गिर!' सुन कर यक्षने कहा 'यह साधु तो उन्मत्त मालूम देता है जो गिरते हुए घीको रुकनेका कहता है।' साधुने भी घी शब्दको सुन कर उसकी तरफ ध्यान दिया और जमीन पर गिरते हुए उस घीको देखा। वह बोला—'मिथ्या मे दुष्कृतम्' (मैंने जो दुष्कृत् किया उसके लिये खिन्न हूं) अहो, घी ढुल गया!' तब यक्षने कहा—'इतनी देर कहां गया था जो अब 'मिच्छामि दुक्कड' दे रहा है? तूंने घीको गिरनेके लिये टोंका, लेकिन यह न रुका। घी कोई थोडी ही आज्ञाधीन वस्तु है जो रुकजानेकी आज्ञा सुन कर बन्ध हो जाय।' साधु सुदत्तने कहा—'अरे भाई, क्यों ऐसे उल्लंठ वचनसे अपनी आत्माको ठगता है। यह तो तेरे लिये और भी फोडे पर फुनसी जैसा हो रहा है।' सुन कर यक्षने मनमें सोचा 'यह साधु क्यों ऐसी असम्बद्ध बात बोल रहा है?' और फिर बोला 'भगवन्, यह आपका सरोष वचन है।' तब साधुने कहा—'मेरे मनमें न पहले, न वर्तमानमें और न बादमें कोई रोष होसकता है। जैसा मैंने देखा वैसा कहा है।' तब यक्षने विनम्र हो कर कहा 'भगवन्, बताइए यह क्या बात है?' तब मुनिने कहा—'जब मैं तेरे घरमें भिक्षाके लिये प्रविष्ट हुआ तब ज्ञानसे तेरे मनोभावोंका पर्यालोचन करनेमें एकाग्र हो गया। मैंने ज्ञात किया कि तूं विशुद्ध परिणामके कारण, प्रतिक्षण उच्च-उच्चतर देव योनिका आयुष्यबन्ध उपार्जन कर रहा है। इस विचारनिमग्नतासे मैं घीकी तरफ खयाल न कर सका। जब घी नीचे गिरने लगा तब तेरे विचार भी फिरने लगे और तूं मनकी विपरिणामताके कारण उस उच्च देवायुष्यबन्धसे च्युत होने लगा। जब मैंने तेरे परिणामोंको लक्ष्य करके यह कहा कि 'नीचे मत गिर!' जब तैंने उल्लंठ वचन-का प्रयोग किया था तब तूं भ्रष्टदर्शन (श्रद्धानसे पतित) हो कर, तिर्यंचयोनिके योग्य आयुष्यबन्धका भागी हो रहा था। इसलिये मैंने कहा 'यह तो फोडे पर फुनसी जैसा हो रहा है; क्यों कि एक तो तेरा देवायुष्यबन्ध नष्ट हो गया और फिर उस पर यह नीच कोटिका तिर्यंचायुष्यबन्ध तूं उपार्जन कर रहा है। इसीलिये यह फोडे पर फुनसी जैसा कर्म है। ऐसा कथन करते हुए मेरे मनमें किसी प्रकारका भी रोष नहीं है।'

सुन कर यक्षके मनमें संवेगभाव हो आया। और वह बोला—'भगवन्, तुम फिर अपना छ
रखो जिससे मैं तुमको वैसे ही घीका दान करूं और स्वर्गका आयुष्य उपार्जन करूं।' इस पर
सुदत्तने कहा—'भद्र, घीके देनेसे देवताका आयुष्य नहीं प्राप्त होता, किं तु उस प्रकारके उच्च परिण
होता है। और वैसा उच्च परिणाम तो निरीह मनुष्यको संभवित होता है। बाकी तो यह सब क्रय-वि
करने जैसा व्यापार होगा।'

यक्षने पूछा—'भगवन्, आप कहां रहते हैं?' साधुने कहा—'अमुक उद्यानमें।' तब यक्षने क
'यदि आपका उपरोध न हो तो मैं वहां आऊंगा।' इस पर साधुने कहा—'शुभयोगका आराधन
कर्मक्षय करनेवाले भव्य जीवोंको साधु कभी मनाई नहीं करते। और न कभी ईर्यापथिक दो
संभावनासे ऐसा कहते हैं कि आना। इसलिये हम तुमको क्या कहें?। बस इतना ही कह
हैं कि हमारा कोई उपरोध नहीं है।' ऐसा कह कर साधु चला गया। यक्ष फिर उचित समय
साधुके पास गया। वन्दना करके बैठा और कहने लगा कि—'महाराज, उस समय घीको उस प्र
ढुलता हुआ देख कर मैंने जो ऐसा सोचा था कि 'अहो यह साधु प्रमत्त है' तो क्या मैंने वह
चिन्तन किया था?'

साधु सुदत्त—'हाँ, श्रमणोपासक! नहीं तो कैसे तूं अच्युत जैसे स्वर्गके आयुष्यबन्धसे पतित हो
और जो तैंने उल्लंठ वचन कहा वह तो दुष्टचिंतित ही था। क्यों कि वह प्रतिनिविष्ट चेष्टित
प्रतिनिवेश प्रदोषरूप होता है और प्रदोषभाव तो वेषधारी पर भी नहीं करना चाहिये। क्यों कि
भाव धारण करनेवालेको जन्मांतरमें भी वैसा ही प्रदोषभाव पैदा हो आता है और इस प्रकार वैरभा
परंपरा चलती रहती है।'

यक्ष—'भगवन्, क्या प्रत्यक्ष दोषदर्शन होने पर भी विपरिणाम उत्पन्न नहीं होता?'

साधु—'किसीको होता है और किसीको नहीं।'

यक्ष—'इसमें अच्छा कौन है?'।

साधु—'जिसको विपरिणाम नहीं होता। लिंगमात्र धारण करनेवाले पर भी विपरिणाम नहीं हो
देना चाहिये। केवल वस्तुस्वभावका विचार करना चाहिये। विना प्रदुष्टभावके विपरिणाम उत्प
नहीं होता।'

यक्ष—'तो क्या भगवन्, मेरा कृत्य आलोचनाके योग्य है?'

साधु—'अवश्य।'

यक्ष—'तो फिर मुझे प्रायश्चित्त दीजिये।'

फिर साधुने उसको प्रायश्चित्त दिया जिसका स्वीकार कर वह अपने घर गया।

अतः ऐसा न करना चाहिये यह इस कथानकका उपदेशात्मक तात्पर्य है।

## वस्त्रदान पर धनदेवकी कथा।

ऐसी ही एक मनोरंजनात्मक कथा वस्त्रदानको लक्ष्य करके कही गई है सो भी पढिये।

किसी एक नगरमें धनदेव नामक एक धनाढ्य गृहस्थ रहता था जो बौद्ध मतका उपासक था। जैन
साधुओंके पास वह कभी नहीं जाता था। उस गाँवमें एक दफह धर्मशील नामक जैन आचार्य आ पहुंचे।

उनके शिष्य समुदायमें जो कितनेक तरुणवयस्क श्रमण थे वे धनदेवके विषयमें सुन कर परस्पर बातें करने लगें कि – 'अरे, क्या अपनमेंसे किसीके अंदर विद्या और विज्ञानकी कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो इस धनवान् धनदेवके पाससे अन्न, वस्त्र, कंबलादि कुछ दिला सके?' यह सुन कर एक साधुने कहा – 'मेरे पास वैसी विद्या है जिससे मैं ये चीजें दिला सकता हूं। परंतु वह विद्यापिण्ड दोषसे दूषित होगा; अतः वह साधुओंके लिये अकल्पनीय है। यदि इस पर भी आप लोगोंकी यह इच्छा हो कि उससे कुछ संयममें लाभ ही होगा, तो मैं वैसा प्रयोग कर सकता हूं।' अन्य साधुओंने कहा – 'कोई हर्ज नहीं है तुम प्रयोग करो।'

तब उस साधुने अन्य दो साधुओंको उसके घर पर भेजे। स्वयं एकान्तमें रह कर विद्याका आह्वान करने लगा। विद्याबलसे अधिष्ठित हो कर, धनदेव उन आये हुए साधुओंको देखते ही ऊठ खडा हुआ और बोला – 'आज्ञा दीजिये भदन्त, मैं क्या सेवा करूं?' साधुओंने वस्त्र आदिकी याचना की। तब वह बडी भक्तिके साथ अच्छे अच्छे वस्त्र उनको देने लगा। रोकने पर भी न रुकना चाहा और कहने लगा 'और भी लीजिये, और मुझ पर अनुग्रह कीजिये।' साधुओंको जितने वस्त्र आवश्यक थे उतने ले कर वे वापस लौटे और फिर उस विद्यावान् मुनिने अपनी विद्याका उपसंहरण किया।

धनदेव जब स्वस्थमनस्क हुआ तो 'हा, दुष्ट दुष्ट!' ऐसा पुकारने लगा। सुन कर लोक इकट्ठे हो गये और पूछने लगे कि 'अरे, क्या हुआ?' वह बोला – 'न जाने क्या हुआ, मैंने अपना सब घरका सार श्वेतपटों (श्वेताम्बर साधुओं)को दे डाला है।' सुन कर लोक कहने लगे – 'यदि तैंने दिया और साधुओंने लिया तो इसमें साधुओंका क्या दोष है? ऐसा कहते हुए तो तूं उस दानके फलसे भी वंचित होगा।'

इस प्रकार दान दे कर भी मनमें खिन्न होनेसे, उसको न तो कुछ पुण्य ही प्राप्त हुआ और न कुछ कीर्ति ही मिली। इसलिये ऐसा न करना चाहिये।

इस कथामें जैसा धनदेवकी श्रद्धाहीन मनोवृत्तिका चित्र आलेखित किया गया है वैसा ही युवक साधुओंकी कुतूहलात्मक एवं अपरिणत मनोवृत्तिका अंकित चित्र भी चिन्तनीय एवं आलोचनीय है।

इन दोनों कथाओंका सार यह है कि श्रद्धाके विना दिया हुआ दान कुछ फलदायक नहीं होता।

*

## जैनमन्दिरोंकी पूजा-विधिके विषयमें कुछ विचारणीय चर्चा।

जैसा कि जिनेश्वर सूरिके चरितसे ज्ञात होता है उनके समयमें जैन संघमें, जैन मन्दिरोंकी स्थापना, पूजाप्रणाली और जैन साधुओंका उनके प्रति कर्तव्योपदेश आदि बातों पर, संघके भिन्न भिन्न अवान्तर गच्छों-संप्रदायोंमें अनेक प्रकारके वाद-विवाद चलते रहते थे। एक प्रकारसे जैन संघकी सर्व प्रकारकी प्रवृत्तियोंका और विचारोंका केन्द्रस्थान मन्दिरसंस्था ही बन रही थी। इस मन्दिरसंस्थाके विषयमें जैन संघमें – क्या साधुओंमें और क्या श्रावकोंमें – रोज नित्यनये प्रश्न उपस्थित होते रहते थे और फिर उन उनके बीचमें नाना प्रकारके शास्त्रीय और सामाजिक विधानों और परंपराओंकी तरह तरहकी आलोचना प्रत्यालोचना चला करती थी। एक तरफ, जैन साधुओंमें एक ऐसा पक्ष था, जो जिनमन्दिरोंकी स्थापना को सर्वथा जैनशास्त्रविरुद्ध बतला कर उसके उपदेष्टा और उपासक दोनोंहीको जैनाभास कह कर उन्हें मिथ्यामति गिनता था। कोई दूसरा पक्ष, जैन मन्दिरकी स्थापनाको तो शास्त्रसम्मत

परंतु उसकी पूजाविधिके आडंबरको अनाचरणीय कहता था। कोई तीसरा पक्ष, पूजाविधिके आडंबरको तो उचित मानता था, परंतु उसमें साधुओंका सीधा संपर्क होना अनुचित समझता था। कोई चौथा पक्ष, मन्दिरोंकी स्थापना और संरक्षाके बारेमें साधुओंका मात्र उपदेशात्मक अधिकार बताता था; तो कोई पांचवां पक्ष, उन मन्दिरोंकी सर्वाधिकारिताका साधुओं ही पर निर्भर होना स्थापित करता था। कोई अन्य पक्ष, एक मन्दिरमें एक ही जिनमूर्तिकी स्थापना करना शास्त्रोक्त कहता था; तो कोई उसके विरुद्ध, अनेकों मूर्तियोंकी पंगतको अधिक आत्मलाभकी वस्तु मानता था। कोई कहता था, तीर्थंकरमूर्ति वीतरागभावकी प्रतीक है, इसलिये उसको स्त्रीजातिका स्पर्श न होना चाहिये और इसलिये श्राविकावर्ग (जैन स्त्रीमंडल)को उसकी पूजा-अर्चा न करनी चाहिये; तो कोई अन्य पक्ष कहता था, न केवल श्राविकाओंको ही जिनभक्ति करनी चाहिये किंतु जिनमूर्तिके सामने वारांगनाओंका नृत्य-गान भी पूजाका अंग होनेसे उसे अबारित-रूपसे होने देना चाहिये। कोई कहता था, मन्दिरोंकी रक्षाके निमित्त साधुओंको सदैव उनमें निवास करना कर्तव्य है; तो कोई कहता था, मन्दिरकी भूमि तो देवद्रव्यकी वस्तु है अतः उसमें बैठ कर धर्मोपदेशका करना—सुनना भी भक्तजनोंके लिये देवद्रव्यका उपभोग करने समान पापजनक कृत्य है। कोई कहता था, सूर्यास्तके बाद मन्दिरोंको उद्घाट-द्वार रखना भी निशाचरके जैसा निषिद्ध कृत्य है; तो कोई कहता था सारी रात मन्दिरोंमें गान, वादन, नृत्य, रास आदिका करना कराना परम भक्तिभावका द्योतक है। कोई कहता था, मन्दिरोंकी और मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा परम ब्रह्मचारी ऐसे साधुवर्गके हाथसे होनी चाहिये; तो कोई कहता था, जो साधु मन्दिरप्रतिष्ठादिके सावद्यकर्ममें प्रवृत्त होता है वह अनन्तकालतक संसारमें परिभ्रमण करनेके पापका भागी होता है—इत्यादि।

इस प्रकार इस जैनमन्दिरकी संस्थाके विषयमें अनेक तरहके तर्क-वितर्कपूर्ण मत-मतान्तर जैन संघमें उस समय प्रचलित थे और जैन संघकी प्रायः सारी कार्यशक्ति और प्रवृत्ति इसी संस्थाके पक्ष-विपक्षमें परिसमाप्त होती थी।

जिनेश्वर सूरि भी इन्हीं नाना पक्षोंमेंसे एक पक्षके प्रस्थापक और प्रचारक थे, यह इनके चरितमें दिये गये पूर्वोक्त वर्णनसे स्पष्ट है। इन्होंने इस विषयके अपने पक्षके विचारोंका थोडा-बहुत सूचन, प्रस्तुत कथाकोश प्रकरणमें एक कथाद्वारा भी प्रकट किया है जो इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। पाठकोंके परिचयार्थ इस कथानकका प्रायः अविकल भाषान्तर नीचे दिया जाता है।

यह कथानक, इस ग्रन्थमें ३२ वां है, जो पृष्ठ १२५ पर **धवलकथानक**के नामसे मुद्रित है। इस कथानककी उद्देशात्मक जो मूलगाथा (क्रमांक २१) जिनेश्वर सूरिने बनाई है उसका भावार्थ यह है—

> "जो मनुष्य जैनशास्त्रका यथार्थभाव न जान कर जिनवचनकी अन्यथा विचारणा करता है वह धवल नामक वणिक्पुत्रकी तरह अनेक वार कुगतिमें परिभ्रमण करता रहता है।

## जिनमन्दिरके विधान विषयमें धवल वणिक्पुत्रकी कथा।

अच्छा तो यह धवल कौन था और किस तरह उसने जैनशास्त्रके विचारोंकी अन्यथा विचारणा की और उसके कारण किस तरह वह कुगतिका भाजन हुआ, उसको पढिये।

इस कथाकी प्रारंभिक उपकथा जिनेश्वर सूरिने जो दी है उसका प्रस्तुत विषयके साथ कोई विशेष संबंध नहीं है, जिससे उसका उतना अंश छोड कर मूल कथाहीका अवतरण यहां दिया जाता है।

इस उपकथाका उपक्रम ऐसा होता है—इस भारतवर्षके जयपुर नामक नगरमें एक विक्रमसार नामका राजा था जो जैनधर्मका पालन करता था। उस नगरमें एक समय, समंतभद्राचार्य नामके एक

ाचार्य, जो चार ज्ञानके धारक थे, अपने बहुतसे शिष्योंके साथ आये और नगरके बहार सहस्रा-
ान नामक उद्यान में ठहरे । उनका आगमन सुन कर राजा अपने पूरे राजसाही ठाठके साथ
को वन्दन करने गया और यथोचितरूपसे वन्दनादि कर वह आचार्यके सन्मुख धर्मोपदेश सुननेके
ये बैठ गया।

उस समय, जनप्रवाद सुन कर उस सभामें, एक अन्धा मनुष्य, एक छोटे लडके द्वारा हाथ पकडा
ा वहां आ कर एक किनारे बैठ गया। वह अन्धा फटे-तुटे कपडे पहने हुआ था। उसके सारे
ेर पर मक्खियां भिनभिना रही थीं। पसीने और मैलसे भरे हुए उसके शरीरसे बदबू फैल रही थी।
देख कर तरुणियोंको उद्वेग होता था, कुमारोंको वह क्रीडाका घरसा प्रतीत होता था, यौवनोन्मत्तोंको
हासका स्थान मालूम देता था और विवेकी जनोंको करुणाका पात्र एवं पापफलका मूर्तिमान् दृष्टान्त
ा होता था। राजाने उसे देख कर, कुतूहलभावसे आचार्यसे पूंछा कि-'भगवन्, इसने जन्मान्तरमें
ा क्या पाप किया था जो ऐसे दुःखित जन्मको प्राप्त हुआ है?'

आचार्यने राजाके प्रश्नके उत्तरमें उसके पूर्व जन्मकी इस प्रकार कथा कहनी शुरू की।

इस भारत वर्षकी अयोध्या नामक नगरीमें पूर्व कालमें चन्द्रकेतु राजा राज्य करता था। उस नगरीमें
ल, भीम और भानु नामके तीन व्यापारी रहते थे जो परस्पर स्नेहानुबद्ध हो कर समान आय-व्ययवाले
सहकार भावसे व्यापार-व्यवसाय किया करते थे। वे श्रावकधर्मका पालन करते थे। वहां पर
समय अजितसेन नामके आचार्य आये जो नगरके नंदन नामक उद्यानमें ठहरे। नगरमें समाचार
चे कि ऐसे ऐसे एक आचार्य आये हैं। सुन कर नगरके अन्यान्य जनोंके साथ राजा उनको वन्दन
ने गया। धवल, भीम और भानु नामक तीनों मित्रश्रावक भी वहां पहुंचे। सभी सूरिको वन्दनादि
धर्मोपदेश सुनने बैठ गये। आचार्यने अपने उपदेशका विषय पसन्द किया मिथ्यात्वका स्वरूप-वर्णन।
) आभिग्रहिक, (२) अनभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) सांशयिक, और (५)
ाभोगिक ऐसे पांच प्रकारके मिथ्यात्वोंका वर्णन करते हुए उपसंहारमें सूरिने कहा कि यह पांचों ही
ारका जो मिथ्यात्व है वह स्थूल विचारसे है, परमार्थसे तो जो विपर्यास है वही मिथ्यात्व है। वह
र्यास इस प्रकारका समझना चाहिये। जैसे कि, किसी जिनमन्दिरके विषयमें कोई यह सोचे कि यह
दर न तो मैंने बनवाया है और न मेरे किन्हीं पूर्वपुरुषोंने बनवाया है। इसलिये इसमें पूजा-संस्कार
दे करनेके लिये मुझे क्यों आदर बताना चाहिये? अथवा कोई किसी मन्दिरमें प्रतिष्ठित मूर्तिके विषयमें
सोचे कि यह मूर्ति मैंने अथवा मेरे पूर्वजोंने बनवाई है इसलिये इसकी पूजादिमें मुझे उत्साहित होना
; है; लेकिन दूसरोंकी बनाई मूर्तिके लिये वैसा उत्साह बतानेसे क्या लाभ? इस प्रकारका विचार करके
कोई मन्दिरादिमें पूजादि करता है उसकी वह प्रवृत्ति सर्वज्ञ (जिनभगवान)के मतानुसार संगत नहीं
क्यों कि सभी मूर्तियोंमें एक अरिहंतका ही व्यपदेश किया जाता है। यदि वह अरिहंत भी परकीय
झा जाय तो फिर पत्थर, लेप्य (प्लास्टर) और पित्तलादि पदार्थ ही पूजनीय हो जायेंगें। इस प्रकार
रादिकी पूजा-अर्चा करनेसे कोई कर्मक्षय नहीं होता, कर्मक्षय तो तीर्थंकर विषयक गुणके पक्षपातके
ण होता है। नहीं तो, इस प्रकारका पत्थरादिका सद्भाव तो शंकर आदिके बिंबोंमें भी विद्यमान है
लेये उनका भी वन्दन कर्मक्षयका कारण होगा।

इस तरह मत्सरभावके कारण दूसरोंके बनाये हुए मन्दिरोंमें पूजादिके करने-करानेमें विघ्न क
मिथ्यात्व ही समझना चाहिये। वैसे प्राणीको तो ग्रन्थिभेद भी संभवित नहीं होता।

भीम—'तो तुम बतलाओ।'

अजितसेन सूरिने कहा—'जीत व्यवहार उसका नाम है—जो अशठ पुरुषोंने, कहीं, किसी कारणसे, असावद्य ऐसा व्यवहार आचरित किया और जिसका दूसरोंने निषेध न कर बहुमानपूर्वक स्वीकार किया और उसका आचरण भी किया।'

इसपर धवल बोला—'तो क्या स्वयंकारित अथवा निजपूर्वजकारित जिनमन्दिर, जिनबिंबादिका पूजादि करना शठोंका आचरित व्यवहार है?'

इसका समाधान करनेकी दृष्टिसे सूरिने कहा कि—'इस विषयका मैं एक आख्यान तुमको सुनाना चाहता हूं सो सुनो।'

## कुन्तला रानीका आख्यान।

क्षितिप्रतिष्ठित नामके नगरमें एक जितशत्रु राजा था जो श्रावकधर्मका पालन करनेवाला था। उसकी सब रानियोंमें प्रधान ऐसी एक कुन्तला नामकी पट्टरानी थी। किसी समय राजाके मनमें यह विचार हुआ कि मैं दीक्षा ले कर प्रव्रज्याका पालन करनेमें तो असमर्थ हूं, वैसे ही उत्तम प्रकारके देशविरति व्रतका पालन भी ठीक नहीं कर सकता। इसलिये दर्शनविशुद्धिका कारणभूत अच्छा चैत्य (जैनमन्दिर) मैं बनवाऊं। ऐसा विचार कर अपने भवन (राजप्रासाद)के निकट ही एक चैत्य उसने बनवाया और उसमें महा-पूजाके योग्य भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई। प्रतिदिन वह उसकी पूजा करने लगा। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस नीतिके अनुसार उस राजाकी रानियोंने भी श्रावकधर्म स्वीकार किया। उन्होंने भी राजाके बनाये हुए उस मन्दिरकी जगतीमें अपने अपने वैभवके अनुसार देवकुलिकायें (छोटे छोटे मन्दिर) बनवाईं। कुन्तला पट्टरानीने भी वहीं एक अच्छा बडा मन्दिर बनवाया। वह उसमें रोज पूजा-स्नान आदि करवाती। उस विशाल मन्दिरमें पूजाके लिये जो मालाकार (माली लोक) फूल लाते तो उन्हें वह कहती—सब फूल मुझे ही आ कर देना और किसीको मत देना। इसी तरह जो गायन, वादक नर्तक-नर्त्तिकादि आते उन्हें अन्य देवकुलोंमें जानेसे रोकती और अपने मन्दिरमें आनेको कहती। कभी वह ऐसा सुनती या देखती कि किसी दूसरी रानीके मन्दिरमें महोत्सव हो रहा है, तो वह मनमें खूब चिढती। यदि ऐसा कुछ सुनती देखती कि औरोंके मन्दिरमें कुछ अच्छा नहीं हुआ है, तो उससे उसके मनमें खुशी होती। इस प्रकारके ईर्ष्याभावके कारण और मृत्युके समय भी अपने मानसिक व्यापार व व्यवहारका कुछ पश्चात्ताप न कर, एवं किसी प्रकारकी आलोचना न ले कर, वह मर कर उसी नगरमें काली कुतियाके रूपमें पैदा हुई। पूर्वभवके अभ्यासके कारण वह उसी अपने बनाये हुए मन्दिरके अंगनमें जा कर पडी रहने लगी।

अन्य समय कोई केवलज्ञानी साधु वहां आये। राजा अपनी अन्य रानियोंके साथ उनको वन्दन करने गया। अवसर पा कर राजाने अपनी मृत रानीके विषयमें पूछा कि—'भगवन्, मेरी पट्टरानी कुन्तला देवी मर कर कौनसे स्वर्गमें अवतीर्ण हुई है?'

सुन कर केवलीने कहा—'वह तो मर कर इसी नगरमें काली कुतिया हुई है और जो उसके बनाए हुए मन्दिरमें हमेशां पडी हुई दिखाई देती है वही वह कुन्तला है।'

तब राजाने पूछा—'भगवन्, यह कैसे? वह तो वैसी उत्तम प्रकारकी चैत्यभक्ति करती थी। उसका ऐसा फल कैसे हुआ?'

केवलिने कहा–'उसकी वह चैत्यभक्ति नहीं थी; किं तु 'मैंने ऐसा किया है' इस प्रकारके अपने आत्माभिमान( अहंकार )के पोषणके निमित्त उसकी वह ईर्ष्यालु प्रवृत्ति थी। जब किसी अन्य रानियोंके जिनमन्दिरोंमें महोत्सव होता था तो वह उसको बिगाडनेके लिये अपनी शक्तिभर कोशीश करती थी। यदि वैसा करने पर भी कहीं कोई उत्सव हो जाता था तो वह अपनेको मरी हुई जैसे मानने लगती थी। इसलिये उसकी वह जिनभक्ति नहीं थी–प्रद्विष्ट प्रवृत्ति थी। उसी प्रदोषभावका यह फल है।'

*

यह कथानक सुना कर अजितसेन सूरिने उन धवल आदि श्रावकोंको कहा कि–'हे महानुभावो, इसलिये किसी अन्य आलंबनको ले कर प्रवृत्ति करनेसे कोई लाभ नहीं होता। जिनभगवान्के गुणोंका बहुमान करनेकी अभिलाषाहीसे पूजादि कर्तव्य करने चाहिये; न कि किसी अन्य आलंबनको उद्दिष्ट करके।'

सुन कर धवलने कहा–'अहो, आज तक तो सब अपने अपने चैत्यालयोंमें पूजा-संस्कारादि करके धर्म करते रहते थे, अब तुमने इसको मिथ्यात्व बतलाया है। अब फिर जो अन्य कोई आचार्य आयेगा वह तुम्हारे किये हुए वर्णनको मिथ्यात्व कहेगा। ऐसी स्थितिमें हमें कहां जाना चाहिये? इससे तो यह सिद्ध होता है कि इस धर्मश्रवणमें कुछ भी लाभ नहीं है।' ऐसा कह कर धवल ऊठ खडा हुआ। आचार्यके उपर उसको खूब रोष हो आया और वह अपने घर चला गया।

समन्तभद्र सूरिने उस धवलके जन्मकी कथाको आगे चलाते हुए विक्रमसार राजासे कहा कि–'वह इस तरह फिर मिथ्यात्वभावको प्राप्त हो कर अपनेको तथा दूसरोंको व्युद्ग्राहित करता हुआ और उसी-प्रकार चैत्यादिका पूजन करता हुआ तथा कुछ तपश्चर्यादि भी करता हुआ, आयुष्यके पूर्ण होने पर मर कर किल्बिषयोनिके देवभवको प्राप्त हुआ। वहांसे मर कर फिर मनुष्य, तिर्यंच, नरक आदि गतियोंमें चिर काल तक परिभ्रमण करता हुआ, अब यह इस अन्ध पुरुषके अवतारके रूपमें पैदा हुआ है।'

समन्तभद्र सूरिके इस कथनको सुन कर उस अन्ध मनुष्यको जातिस्मरण ज्ञान हो आया और उस ज्ञानके प्रभावसे उसने अपने पूर्व जन्मके दुश्चरितके विलासको प्रत्यक्ष किया। तब उसको संवेगभाव उत्पन्न हुआ और वह बोला–'भगवन्, आपने जो कहा है वह सब सत्य है। अब मुझे इस संसार-समुद्रसे पार करनेकी कृपा करो।'

आचार्यने कहा–'महानुभाव, हम तो वचनमात्रसे मोचक है। स्वयं तीर्थंकर भी दूसरेके किये हुए कर्मका क्षय नहीं करा सकते। जैसे जन्मान्तरमें तुमने गुरुका वचन नहीं मान्य किया वैसे अब भी मान्य नहीं करो तो मुझसे कैसे तुम्हारा निस्तार हो सकता है। गुरु तो अच्छे वैद्यकी तरह उपाय ही बतलाते हैं। वह उपाय अपनी अपनी भवितव्यतानुसार किसीको अच्छा लगता है किसीको नहीं।'

राजा–'भगवन्, सभी प्रकारके संशयोंका निवारण करनेवाले ऐसे जिनवचनका जो आप उपदेश करते हैं क्या वह भी किसीको कभी अच्छा नहीं लग सकता है?'

गुरुने कहा–'महाराज, जो मिथ्यात्वमें मोहितमति हैं, दीर्घसंसारी हैं और कुग्रहसे गृहीत हैं उनको कहा गया जिनवचन भी, जैसे ज्वरपीडित मनुष्यको दूध अच्छा नहीं लगता वैसे, यथार्थरूपमें परिणत नहीं होता। इस विषयका कालिकश्रुतमें एक आख्यान कहा गया है, उसे सुनाते हैं, सो सुनिये।

## सावद्याचार्यका आख्यान।

इसी भारत वर्षमें, अतीत कालकी कई अनन्तकालीन अवसर्पिणीयोंके पूर्व, एक हुंडा-अवसर्पिणी नामक कालमें होने वाले चौवीस तीर्थंकरोंके उत्पन्न हो जानेके बाद, अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें

पूजाका माहात्म्य बढानेवाला एक आश्चर्यजनक प्रसंग हुआ। उस समय बहुतसे साधुलोक विहार भग्न हो गये। मासकल्प पूरा हो जाने पर भी वे दूसरी जगह विहार करके नहीं जाते थे – अरे मास वर्षके अन्तमें भी कहीं जानेकी इच्छा नहीं करते थे। इससे उनको वसति देनेवाला सय्यातर (श्राव वर्ग भी भग्नपरिणाम हो गया। यदि कभी कोई साधु इधर-उधर विहार करके चले जाते थे, तो उनको ठहरनेके लिये वे श्रावक अपना स्थान नहीं देते थे। ऐसी परिस्थितिके हो जाने पर जब सा ओंको ठहरने करनेका कोई स्थान नहीं मिलने लगा, तो वे सोचने लगे कि किस तरह हमको अ रहनेका स्थायी स्थान प्राप्त करना चाहिये। सोचते हुए उपाय सूझ आया। यदि इन गृहस्थोंको चैत्या बनानेके काममें प्रेरित किया जाय तो उसके द्वारा, मन्दिरके साथ हमें सदैव रहनेका मकान भी मि सकेगा। अतः उन्होंने उपासक जनोंको उपदेश देना शुरू किया, कि जो मनुष्य अंगूठेके जितनी जिनप्रतिमा बनावेगा वह सुखोंकी परंपराका उपभोग करता हुआ और बोधिलाभको प्राप्त करता हु सिद्धिपदको प्राप्त करेगा। और जो समूचा जिनमन्दिर ही बनानेका उद्यम करेगा, उसको तो तुरन्त बहुत बडा फल प्राप्त होगा। इसलिये – 'हे महानुभावो, तुम मन्दिरोंके बनानेका उद्योग करो। जह तुम्हारा काम अटकेगा वहां हम तुम्हें सहायता करेंगे।' इस तरह उन्मार्गप्रवृत्त, लिङ्गोपजीवी, इह लोक सुखार्थी और परलोकपराङ्मुख ऐसे उन साधुओंने बहुतसे जिन चैत्य उस गांवमें खडे करवाये।'

इस कथनको सुन कर बीचहीमें उस विक्रमसेन राजाने पूछा कि – 'क्या भगवन्, इस प्रकार जिन-मन्दिरोंका बनवाना अयुक्त है?'

समन्तभद्र सूरिने कहा – 'महाराज, यह गृहस्थोंके लिये एक कर्तव्य है, लेकिन सो भी आगमोक्त विधि-पूर्वक; परंतु साधुओंके लिये नहीं। साधुओंको तो उपदेशके समयमें, उचित अवसर पर, द्रव्यस्तव रूपसे इसकी प्ररूपणा करनेका अधिकार है; किंतु क्रियाकालमें कोई सहयोग देनेका नहीं है। वह सहयोग इस प्रकारका कि – यहां पर गड्डा करो, यह मिट्टी निकालो, पत्थर लानेके लिये गाडियां तैयार करो, मालमें (वनमें) जा कर फूल चिन लाओ – इत्यादि प्रकारका आदेशात्मक कर्म करना साधुके लिये कर्तव्य नहीं है। क्यों कि साधुने तो पृथ्वी काय आदि जीवोंकी हिंसाके लिये त्रिविध-त्रिविध (न करना, न कराना और न अनुमोदना – इस प्रकारका) प्रत्याख्यान किया है। यदि वे इस प्रकारका आदेश करें तो फिर उनकी वह हिंसानिवृत्ति कैसे निभ सकती है? इसलिये साधुओंको **वणिक्पुत्र** के दृष्टान्तके समान गृहस्थोंके आगे धर्मोपदेश करना ही कर्तव्यमात्र है।'

सुन कर राजाने कहा – 'भगवन्, वह **वणिक्पुत्रका** दृष्टान्त सुनाइये तो कैसा है?'

तब गुरुने इस प्रकार यह दृष्टान्त सुनाया –

## वणिक्पुत्र दृष्टांत।

एक नगरमें एक समय राजाने कौमुदी महोत्सवके मनाये जाने की घोषणा करवाई और आज्ञा दी कि नगरमें जितना भी कच्छ बान्धनेवाला पुरुषवर्ग है वह आज रातको उद्यानमें चला जाय। आज रातको नगरमें रानियां अर्थात् राजमहलकी स्त्रियां घूमेंगीं फिरेंगीं। इसलिये जो कोई पुरुष बहार नहीं चला जायगा उसे शारीरिक शिक्षा मिलेगी राजा भी स्वयं नगरसे बहार जा रहा है; इसलिये सब नगरजनोंको बहार निकल जाना चाहिये। इस घोषणाको सुन कर सब नागरिक जन बहार निकल गये। परंतु एक सेठके ६ पुत्र थे वे अपने किसी महत्त्वके व्यापारिक कार्यमें आसक्त हो कर वक्त पर बहार नहीं निकल पाये और शहरके दरवाजे बन्ध हो गये। इससे वे नगरसे बहार न निकल पाये और उस रातको रास्तेमें ही कहीं खण्डहरसे पडे हुए किसी एक मकानमें सो गये।

दूसरे दिन सूर्य निकलने पर राजा वापस नगरमें आया। वे वणिक्पुत्र भी धूलसे भरे हुए वैसे ही शरीरके साथ राजाके पीछे पीछे चलनेवाले लोगोंके अन्दर सम्मीलित हो कर, राजाको जिस तरह ज्ञात न हो सके उस तरह, उसके साथ हो लिये। किसी खास जगह पर रुक कर राजाने फिर अपने नोकरोंसे पूछा कि—'कल रातको शहरमें कोई रह तो नहीं गया था? किसीने मेरी आज्ञाका उल्लंघन तो नहीं किया था?'

जैसा कि संसारमें देखा जाता है—कई ऐसे दुर्जन भी होते हैं जो दूसरोंको हेरान करनेमें आनन्द मानते हैं। इससे किसीने राजाको कहा कि—'अमुक बनियेके पुत्र बहार नहीं आये थे।' तब वे राजाके आगे आ कर खडे हुए और बोले कि 'महाराज, हम तो आपके साथ ही अभी शहरमें दाखिल हो रहे हैं। यह कोई झूठ कह रहा है।' तब उस दुर्जनने कहा—'अरे तुम बहार कहां आये थे? अभी तो राजाके शहरमें प्रवेश करनेके वक्त आ कर मिले हो। यदि ऐसा नहीं है तो फिर पण करो।' सुन कर वे सब चुप हो गये। राजाने रुष्ट हो कर उनको प्राणदंड देनेकी आज्ञा दे दी। इस बातको सुन कर नगरके लोगोंके साथ सब महाजन एकत्र हुआ। उसने उनको प्राणदण्डसे मुक्त करनेकी प्रार्थना की, परंतु राजाने नहीं सुनी। तब उन लडकोंके बापने राजासे कहा—'महाराज! ऐसा मत कीजिये, इनको छोड दीजिये और मेरा जो सारा घरसार है उसे ले लीजिये।' पर राजाने नहीं माना। फिर वह बोला—'अपराधके दण्डस्वरूप किसी एक लडकेका वध करके आप अपने कोपका प्रशमन करें, और दूसरे पांचको मुक्त करनेकी कृपा करें।' इस तरह उसने फिर चारके, तीनके और दो पुत्रोंके छोडनेकी प्रार्थना की। पर राजा कुछ नहीं सुनना चाहता है। तब वह करुणविलाप करता हुआ उसके पैरोंमें चिपक गया और बोला कि—'महाराज, मेरा ऐसा सर्वथा कुलनाश न करिये। एकको तो किसी तरह छोडिये।' इसपर राजाने उसके ज्येष्ठ पुत्रको मुक्त किया। इत्यादि।

आचार्य इस '**वणिक्पुत्र दृष्टान्त**'का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि—इसमें राजाके स्थान पर श्रावकको समझना चाहिये। पुत्रोंके स्थान पर षट्काय जीव और पिताके स्थानके तुल्य साधु लेना चाहिये। जैसे पिताको अपने किसी भी पुत्रका वध इष्ट नहीं है, इसलिये वह उस वधकार्यमें इच्छापूर्वक अपनी अनुमति नहीं देता है। इसीतरह साधुओंकी भी वधकार्यमें कोई अनुमति नहीं समझना चाहिये। यतिजन हैं सो पहले तो साधुधर्मका ही उपदेश करते हैं। उसके ग्रहण करनेमें जो असमर्थ होते हैं उनके लिये पौषध, सामायिक आदि व्रतोंका उपदेश देते हैं। उनके करनेमें भी जो असमर्थ होते हैं उनके लिये जीवहिंसा भी केवल शुभ-अध्यवसायके निमित्तसे हो तो ठीक है, इसलिये द्रव्यस्तवरूप जिनभवन आदि करवानेका उपदेश करते हैं। क्यों कि उससे भी विशुद्ध सम्यक्त्व आदि गुणोंका लाभ होता है, और क्रमसे मोक्षप्राप्ति होती है। जिनमन्दिरमें जनबिंबकी पूजा, स्नात्र आदि प्रवृत्तिको देख कर भव्यजनोंको सम्यक्त्व आदि गुणोंका लाभ होता है। वे भी उससे प्रतिबुद्ध हो कर फिर विरति ग्रहण करते हैं; जिससे जीवोंकी रक्षा होती है। जो जीव मोक्ष जाते हैं वे संसारके अस्तित्वपर्यन्तके सब जीवोंको अभयदान देते हैं। इसलिये उस निमित्त किया गया जीववध उनको फल नहीं देता। अतएव वह जीवघात भी शुभ-अध्यवसायका निमित्त होनेसे स्व-पर दोनोंको मोक्षका हेतु होता है। और यदि सर्वप्रथम ही जिनमन्दिरादिका उपदेश दिया जाता है तो उसमें जीवनिकायके वधकी स्पष्ट अनुमति होगी और उससे अशुभ बन्ध होगा। इसलिये महाराज! उस कालके साधुओंने जो जिन मन्दिरादि बनानेका उपदेश दिया था वह विधिपूर्वक नहीं दिया गया था। अतः शास्त्रोंमें यह कहा है कि संयममें शिथिलयोगी बन जानेसे उन्होंने अपने

निर्वाहके योग्य वसति बनवानेका निमित्त बना कर वे मन्दिर बन्धवाये, न कि गुण-दोषका सम्यक् निरूपण करके परोपकारकी दृष्टिसे बन्धवाये थे।

यहां फिर बीचमें, विक्रमसेन राजाने आचार्यसे पूछा कि—'जो श्रावक सामायिक ले कर बैठा है उसकी पुष्पादिसे जिनमूर्तिकी पूजा करनी योग्य है या नहीं?'—इसके उत्तरमें आचार्यने कहा कि नहीं।

तब राजाने पुनः प्रश्न किया कि—'क्यों नहीं? क्यों कि उसने सामायिक व्रत लेते समय सावद्ययोगका प्रत्याख्यान किया है और जिनपूजा तो सावद्य नहीं है। यदि ऐसा न होता तो फिर **साधुवन्दनासूत्रमें "वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए"** इस प्रकारका विधान कैसे किया गया है?

उत्तरमें समाधान करते हुए सूरिने कहा—'महाभाग, उसका तो भावार्थ यह है कि साधुओंका वचनमात्रसे ही द्रव्यस्तव करनेका अधिकार है, न कि शरीरसे। और यह वचनमात्रका अधिकार भी देशनाके समयमें; न कि "तुम बाडी(बगीचे)में जा कर फूलोंको चिन लाओ, स्नान-पूजा करो, धूप दो, आरती उतारो" इस प्रकारका क्रियाविधिके समयमें, साक्षात् आदेश करनेका अधिकार है। धर्मोपदेश करते समय द्रव्यस्तवका सविस्तर निरूपण करना ही उनका कर्तव्य है।

इस प्रकारका और भी कितनाक शंका-समाधान निदर्शक वर्णन यहां पर आचार्यने किया है जिसे सुन कर राजा विक्रमसेनको संतोष हुआ और वह फिर आचार्यसे, उस सावद्याचार्यकी कथाका आगेका भाग सुनानेके लिये प्रार्थना करते हुए बोला—'हां भगवन्, यह सब ठीक ही है। अब आप आगेकी प्रस्तुत कथा कहिये।'

तब आचार्यने कथाके सूत्रको आगे चलाते हुए कहा—'तब फिर वहां पर जिस यतिजनके जितने श्रावक आये उनको बुला कर मन्दिरके बनवानेमें नियुक्त किये। परंतु उन्होंने अपनी साधनसंपत्ति और शक्तिका कोई खयाल करके उसका प्रारंभ नहीं किया था जिससे वह कार्य शीघ्र समाप्त हो जाय। उन्होंने तो अपने उपकारक ऐसे गुरुओंके हितके अनुरोधसे कार्य शुरू किया था। इसलिये सिर्फ जिनबिम्बके बैठाने मात्र जितने स्थानवाले मन्दिरका भाग बनवा कर, उसके पास अपने निवासके लिये, बडे पक्के और मजबूत मठ बनवाये और उनमें वे सुखसे रहने लगे। इतनेमें, जिनागममें बतलाई हुई क्रियाओंमें निरत और स्व-परके शुभ-अध्यवसायोंके कारणभूत ऐसे कुलप्रभ नामके आचार्य, साधुधर्मके नियमानुसार विचरण करते हुए, अपने पांच सौ शिष्योंके साथ, उस गाँवमें आ पहुंचे। गाँवके श्रावक उनका बहुमान करने लगे। उन स्थानस्थित साधुओंको इसकी खबर मिली, तो उन्होंने सोचा कि यह आचार्य क्रियानिष्ठ है, अतः लोगोंको बहुमान्य होगा और लोग इसके कहनेमें चलेंगे। इसलिये इसको अपने अनुकूल बनाना चाहिये—ऐसा विचार करके वन्दनादि द्वारा उनका आदरोपचार करने लगे। इस प्रकार वहां रहते हुए कुलप्रभ सूरिका जब मासकल्प पूरा होने आया तो वहांसे वे विहार करनेको उद्यत हुए। तब उन गाँवनिवासी साधुओंने कहा कि—'भगवन्, आप यहीं वर्षाकालीन चातुर्मास व्यतीत करें।' सूरिने उत्तरमें कहा—'मुझे यह कल्पनीय (आचरणीय) नहीं है। यहां रहनेका मुझे प्रयोजन क्या है?'

उन्होंने कहा—'न भगवन्, ऐसा मत कहिये। ये श्रावक लोग आपमें अनुरक्त हैं। आपके वचनसे ये जो अधुरे पडे हुए जिनमन्दिर हैं जल्दीसे पूरे हो जायंगे; और अन्य भी नये मन्दिर बनेंगे। इसलिये कल्पातिक्रमसे अर्थात् समय हो जाने पर भी अधिक ठहरने में आपको यह निमित्त है ही।'

सूरिने कहा—'साधुओंको सावद्य वाणी बोलना कल्प्य नहीं है।'

उन साधुओंने पूछा—'इसमें सावद्य वाणीका कहां प्रसंग है?'

सूरिने कहा–'उद्दिष्ट करके चैत्यादिका बनवाना सावद्य वचन है। द्रव्यस्तवके उपदेशके समय द्रव्यस्तवकी प्ररूपणा करना अनवद्य कर्म है।'

तब उन साधुओंने कहा–'अहो, ये तो चैत्य भवनोंका बनवाना भी सावद्य कर्म बतला रहे हैं। सलिये इन्हें तो **सावद्याचार्य**के नामसे संबोधन करना अच्छा होगा।'

फिर तो सर्वत्र उनकी वैसी ही प्रसिद्धि हो गई और वे वहांसे अन्यत्र चले गये।

इस कथनको लक्ष्य करके समुद्रदत्त सूरि उस विक्रमसार राजासे कह रहे हैं कि–'हे राजन्, तुम जो ह प्रश्न कर रहे हो कि क्या कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा जो जिनवचनका बहुमान न करना चाहेगा; ो इस प्रसंगसे समझ सकते हो।'

तब फिर राजाने पूछा कि–'भगवन्, क्या वे सूरि फिर वहां कभी आये या नहीं?'

आचार्यने कहा–'अन्य किसी समय उन शिथिलाचारियोंमें परस्पर विवाद खडा हो गया। कोई हने लगे कि इन गृहस्थोंको जो पहले हमने आग्रहपूर्वक पूजादिमें नियुक्त किया है ये प्रमत्त भावसे या धर्ममें मन्दोत्साहसे चैत्योंके रक्षण और पूजादि कार्यमें ठीक प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं, इसलिये यदि ये र्य स्वयं हम नहीं देखेंगे या करेंगे तो मार्गका (अपने मतका) नाश हो जायगा। शक्ति और मर्थ्यके रहते हुए चैत्योंकी उपेक्षा करना युक्त नहीं है। इसलिये कालोचित जो कार्य हैं वे साधु-को स्वयं ही करने चाहिये। तब दूसरे उनके कथनका विरोध करने लगे और कहने लगे कि नहीं यं ऐसे कार्य नहीं करने चाहिये। इत्यादि।

इस तरहकी पक्षापक्षीसे उनके बीचमें बडा भारी विवाद खडा हो गया और वह किसी तरह भी टता हुआ नहीं दिखाई देने लगा। तब किसीने कहा–'वह सावद्याचार्य बहुश्रुत हैं, उनको यहां ाना चाहिये। वे आगम जानते हैं। आगमके ज्ञानके विना इस प्रकारका विवाद नहीं मिट सकता।' विचार सबको संमत हुआ। उन्होंने दो साधुओंको उन आचार्यके पास भेजा। वे वहां यथासमय चे और आचार्यसे कहने लगे कि 'हमको अपने संघने आपके पास भेजा है।' आचार्यने पूछा–स लिये?' तो उन्होंने कहा–'इस इस प्रकार हमारे वहां परस्पर बडा विवाद उत्पन्न हो गया है सो ाके आनेसे मिट जायगा।'

इस पर सूरिने कहा–'मेरे एक विचारको सुन कर तो तुमने मुझे **सावद्याचार्य** बना दिया है; और जो मैं वहां गया तो न मालूम कैसा क्या करो, जिसको मैं जीवनतक भी न भूल पाऊं। इससे ारे वचनसे वहां पर हमको जानेकी क्या जरूरत है। और फिर हमारे वहां जाने पर भी कोई कार नहीं होगा। क्यों कि वे साधु प्रवचनकी भक्तिसे शून्य हैं। जिनके मनमें जिनवचन पर मान हो उनके ऐसे उल्लाप नहीं होते। यदि प्रसंगवश वर्णन करते हुए कथकके वचनमें, किसी तत्त्वके यका, कोई संशय उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण पूछना चाहिये और उसको भी अपने कथनके र्थनमें जिनवचन बताना चाहिये; और वैसे जिनवचनको 'तथेति' कह कर स्वीकार करना चाहिये। ाकी नीति ऐसी नहीं है उनके बीचमें जा कर मैं क्या कर सकता हूं?'

यह सुन कर उन आगंतुक साधुओंने कहा–'भगवन्, ऐसा आप मत कहिये। आपके आगमनसे वहां नों पर अनुग्रह होगा इसलिये अवश्य चलिये।'

सूरि बोले–'भाई अनुग्रहमें तो कर्मका क्षयोपशम ही कारणभूत है। आचार्य तो उसके निमित्त मात्र और वह भी भवितव्यताके योगसे ही किसीको होता है। किं तु उपकारभावके सन्दिग्ध होने पर भी ी-न-किसीको संबोधिभाव प्राप्त हो जाय इस उद्देशसे छद्मस्थको देशना तो करते ही रहना चाहिये।'

इस विचारको लक्ष्य करके 'वर्तमान-योग' हुआ और शरीरादिका कोई कारण बाधक न हुआ तो विहार करते हुए हम वहां पर आनेका प्रयत्न करेंगे।'

सुन कर वे आवाहक (आमन्त्रण करनेवाले) साधु चले गये। बादमें सावद्याचार्य भी विहारक्रमसे चलते हुए यथासमय वहां पहुंचे। वहांके निवासी साधुओंने उनके आनेकी खबर सुनी तो, वे बडे ठाठ-पाठसे गाँवके चतुर्विध संघको साथ ले कर उनका स्वागत करनेके लिये सम्मुख गये।

उस गाँवमें एक मुग्ध आर्यिका (संयतिनी) रहती थी जो यह देख कर सोचने लगी कि–यह कोई तीर्थंकरके जैसा महात्मा आ रहा है, जिसका स्वागत करनेके लिये संघ इस प्रकारके ठाठसे निकल रहा है। इससे बडी उत्कट भक्तिके साथ आचार्यके समीप जा कर, उसने वन्दन किया। वैसा करते समय उसके सिरके बाल आचार्यके पैरोंको लग गये। आचार्यने यह देखा। औरोंने भी देखा, परंतु वे न जान सके कि यह अच्छा है या बुरा। आचार्यका बडे उत्सवके साथ गाँवमें प्रवेश कराया गया और ठहरनेके लिये योग्य वसति दी गई।

विश्रान्ति लेनेके बाद उन यतियोंने कहा–'हमारे बीचमें इस इस प्रकारका वाद-विवाद चल रहा है। इसका निर्णय देनेमें आप हमें प्रमाण हैं।'

सूरिने कहा–'हम आगमका व्याख्यान करेंगे इसमें युक्तायुक्त क्या है इसका विचार तुम स्वयं करना। अन्यथा किसीएक पक्षकी मुझ पर अप्रीति होगी।' आचार्यके इस वचनको सबने बहुमानपूर्वक स्वीकार किया।

अच्छे मुहूर्तवाले दिनमें व्याख्यानका प्रारंभ हुआ। वे सभी यति आ कर सुननेको बैठने लगे। आचार्य अपने कंठगत सूत्रोंका उच्चारण करके फिर उनका व्याख्यान करते थे। क्यों कि उस समय तक पुस्तक लिखे नहीं गये थे। इस प्रकार व्याख्यान करते हुए, एक समय एक गाथा सूत्रका आचार्यने उच्चारण किया, जिसका भावार्थ यह था कि "जिस गच्छ (साधुसमुदाय) में कारणके उत्पन्न होने पर भी यदि साधु, चाहे वह फिर केवली ही क्यों न हो, स्वयं अनन्तरिक रूपसे (अर्थात् सीधा) स्त्रीका करस्पर्श करे तो वह गच्छ मूल गुणसे भ्रष्ट हुआ समझना चाहिये।"

इस गाथाका उच्चारण करनेके बाद आचार्यको उसका अर्थ समझानेके वक्त खयाल हुआ कि इसको न समझाना ही ठीक है। क्यों कि इसका मतलब समझ लेने पर ये लोक दुर्बुद्धिवाले होनेसे उस दिन मेरे पैरोंका उस साध्वीके केशोंसे जो संघट्ट स्पर्श हो गया था उसका स्मरण करते हुए, मेरा उड्डाह करेंगे। इसलिये इसको नहीं पढूं तो कैसा? अथवा नहीं ऐसा नहीं करना चाहिये। क्यों कि आगमका छिपाना अनन्त संसारमें भवभ्रमणका कारण होता है। इससे जो कुछ होना हो सो हो, मुझे गाथा तो पढनी ही चाहिये–ऐसा विचार करके उन्होंने वह गाथासूत्र पढा और उसका व्याख्यान किया।

गाथाका व्याख्यान सुनते ही वहां पर बैठे हुए वे सब यति एक साथ बोलने लगे कि–'तुम्हारा उस दिन उस संयतिनीके केशोंसे पादसंघट्ट हो गया था इसलिये तब तो तुम मूलगुणभ्रष्ट सिद्ध होते हो। अतः या तो इसका ठीक समाधान करो या इस आसनसे फिर नीचे उतरो। नहीं तो फिर पैरोंसे पकड कर घसीटते हुए तुमको हमें बहार निकालना पडेगा।'

उन शठोंका यह आलाप सुन कर वह आचार्य भयभीत हो कर खिसाना बन गया और उसके शरीरमें पसीना-पसीना हो गया। उससे कोई ऐसा उत्तर देते नहीं बना, कि–'अरे, इसमें तुम्हारे कथनका कहां कोई अवकाश है? क्यों कि इसमें जो यह कहा गया है कि **'जो स्वयं करता है'** इसका तात्पर्य यह

है कि जो किसी उद्देशपूर्वक स्पर्श करता है। हमारा उसके केशोंके साथ संस्पर्श होनेमें कोई उद्देश नहीं था। उद्देशपूर्वक स्पर्श होनेमें इस सूत्रका संबंध है; न कि अनाभोग यानि अनजानपनसे संघट्ट होनेमें। साधु भिक्षा लेने जब जाता है उस समय, यदि किसी श्राविकाका हाथ भिक्षा देते समय साधुको स्पर्श कर लेता है तो उससे कोई थोडा ही मूलगुण-नाश होता है। हां यदि उसमें किसी प्रकारका रागभाव कारणभूत होगा तो वह अवश्य दोषका निमित्त होगा। हमारा उसमें वैसा कोई भावदोष सर्वथा नहीं था। तथापि अनाभोगसे जो संघट्ट हो गया उसके दोषके निवारणके लिये हमने तप आदिका प्रायश्चित्त कर ही लिया है। इसलिये तुम्हारे इस कथनका कोई अर्थ नहीं है।' इत्यादि प्रकारका कुछ समाधायक उत्तर उस आचार्यसे देते नहीं बना और डर कर उसने उनसे कहा कि–'अरे भाई, आगममें जो उत्सर्ग-अपवाद मार्ग बतलाया गया है तुम उसे नहीं जानते।' ऐसा कह कर उस आचार्यने एक अन्य गाथासूत्र सुनाया जिसका अर्थ यह है कि–"जिनेश्वर भगवान्ने न तो किसी प्रकारके कर्मके करनेकी अनुज्ञा दी है और न किसीका निषेध ही किया है। उनकी तो यही आज्ञा है कि जो भी कार्य किया जाय वह सत्यपूर्वक हो।" आचार्य द्वारा पढे गये इस गाथासूत्रको सुन कर, जिस तरह मेघकी गर्जनासे मयूरोंको आनन्द होता है उसी तरह, उन सबके हृदयको निर्वृति हुई। वे सब अपने अपने पक्षमें दृढ हो गये। सावद्याचार्यको भी उत्सूत्रका प्ररूपण करनेसे अनन्त-संसारका अशुभ बन्ध प्राप्त हुआ।

इसलिये [समुद्रदत्तसूरि उस विक्रमसार राजासे कहते हैं कि–] 'हे महाराज, जो अभव्य और दीर्घसंसारी होते हैं उनको जिनवचन यथार्थस्वरूपमें परिणत नहीं होता। जो आग्रही होते हैं वे अपने अपने अभिप्रायके पोषण निमित्त उस वचनके उतने अंशका उपयोग कर लेते हैं; शेष अंशको छोड देते हैं।'

सुन कर विक्रमसार राजाने कहा कि–'भगवन्, आप जैसा कहते हैं वैसा ही है।' उस अन्ध पुरुषने भी कहा कि–'यदि आप जानते हों कि मैं आराधना कर सकूंगा तो मुझे अनशन व्रत कराइये।' सूरिने अपनी ज्ञानशक्तिसे उसकी योग्यता जान कर उसे अनशन कराया। वह उसका आराधन करके अपना आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गलोकको प्राप्त हुआ।

इसलिये यह गाथा कही गई है कि–

**अदिट्ठसमयसारा जिणवयणं अण्णहा परूवेंता।**
**धवलो व्व कुगइभायण तह चेव हवंति ते जीवा॥**

इस गाथाका अर्थ इस कथाके आरंभमें दिया हुआ है। इस प्रकार यह धवलकी कथा समाप्त होती है।

*

इस प्रकार, इस ग्रन्थमें जिनेश्वर सूरिने जो कथानक आलेखित किये हैं वे अपने अपने ढंगसे विशिष्ट वस्तुस्वरूप और भावबोधके वर्णनात्मक हो कर तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितिके विशेष निर्देशक हैं धवलके इस कथानकके पढनेसे ज्ञात होता है कि इस कथानकके गुम्फन करनेमें मुख्य उद्देश जिनेश्वर सूरिका, यह बात बतानेका रहा है, कि जैन यतिवर्गमें किस तरह चैत्यवास रूपी संस्थाकी उत्पत्ति हुई और किस तरह उस प्राचीन कालमें जैन साधुओंका एक वर्ग अपने आचारमें शिथिल हो कर, अनियत रूपसे सदा–सर्वत्र परिभ्रमण करते रहनेकी–अर्थात् वनोंमें और निर्जन प्रदेशोंमें इधर उधर घूमते फिरते रहने स्वरूप परिव्राजक धर्मका पालन करनेकी–अपेक्षा वसतिनिवासी हो कर रहनेकी अभिलाषासे जैन मन्दिरोंकी सृष्टिका निर्माण करने-करानेमें प्रवृत्त हुअ

यह सावद्याचार्यका कथानक संकलित किया गया है वह एक पुराना कथानक है। कुन्तला रानीका कथानक भी शायद पुरातन हो। क्यों कि इस कथानकका उल्लेख अन्य ग्रन्थकारोंने भी किया है†। इस कथानककी वस्तुसे जिनमन्दिरोंके बनवानेके विषयमें जिनेश्वर सूरिका कैसा अभिमत था और उनके समयमें जैन मन्दिरोंकी क्या व्यवस्था चल रही थी तथा जैन श्रावकोंमें मन्दिरोंके बारेमें कैसा ममत्वभाव और पक्षापक्षीका संघर्ष होता रहता था, इसका चित्र हमें देखनेको मिलता है। इसमें कहा गया सावद्याचार्यका कथानक बहुत सूचक है। सावद्याचार्यवाली घटना किस समय घटी थी इसका कोई ज्ञापक समय जिनेश्वर सूरिको ज्ञात नहीं था; तथा जिस **कालिकश्रुत**के आधार पर उन्होंने इस कथानकका संकलन किया है उसमें भी इसके समयका कोई सूचक निर्देश न होनेसे इस घटनाको अतीतकालीन किसी अवसर्पिणीकालमें होनेवाली बतलाई गई है। परंतु हमारी ऐतिहासिक दृष्टि हमें स्पष्ट बतलाती है कि यह घटना किसी अनन्तकाल पहलेके अवसर्पिणीकालकी नहीं है परंतु इसी वर्तमान अवसर्पिणी-कालकी है। जिनेश्वर सूरिने यद्यपि कालिकश्रुतोक्त कथानकका अविकल भावानुवाद ही अपने वर्णनमें ग्रथित करनेका प्रयत्न किया है, तथापि अज्ञातरूपसे—या अपने कथनको अविसंवादी बनानेकी दृष्टिसे—उनके कथनमें, एक ऐसा ऐतिहासिक विसंवादी उल्लेख निबद्ध हो गया है जो हमको इस घटनाका ऐतिह्य तथ्य सूचित कर देता है। यह उल्लेख वह है जिसमें जिनेश्वर सूरिने यह कहा है कि कुवलयप्रभ सूरि अर्थात् सावद्याचार्यने, उन वसतिवासी साधुओंको आगमका व्याख्यान सुनाना प्रारंभ किया, तब उन्होंने अपने कंठस्थ सूत्रपाठ ही का उच्चारण कर उसपर अपना व्याख्यान करनेका क्रम रखा था—**'क्यों कि उस समयतक पुस्तक लिखे नहीं गये थे।'** इस कथनमें पुस्तकलेखनविषयक जो यह सूचन है वह स्पष्ट रूपसे—देवर्द्धिगणी द्वारा वलभीमें वि. सं. ५१० के आसपास जो वर्तमान जैनागम पुस्तकारूढ किये गये, और उसके पहले जैन श्रमणोंमें आगमका सूत्रपाठ प्रायः कण्ठस्थ रूपसे ही परंपरागत चला आता रहता था—यह जो जैन इतिहासकी सर्वमान्य और सर्वविश्रुत श्रुतपरंपरा है, उसीका निर्देश करता है। जिनेश्वर सूरिके मनमें तो यही ऐतिहासिक तथ्य रममाण हो रहा था, लेकिन कालिकश्रुतोक्त कथनका अविकल अनुवाद करनेकी दृष्टिसे उनको इस घटनाका वर्णन, किसी अतीतानन्तकालीन अवसर्पिणीमें होनेका निबद्ध करना पडा। इस विषयमें बहुत कुछ विचार-विमर्श करने जैसा है, लेकिन उसका यहां पर विशेष अवकाश नहीं है, अतः सूचनमात्र करके ही 'इत्यलं प्रसंगेन' कहना उचित होगा।

*

## संप्रदायभेद होनेके सूचक कथानक

यति–मुनियोंमें जो संप्रदायभेद होते रहते हैं उनमें प्रायः मुख्य कारण तो परस्पर व्यक्तिगत ईर्ष्या ही बनती रहती है। किसी आचार्य या गुरुजन द्वारा, किसी समर्थ व्यक्तिका, किसी-न-किसी कारणसे, कुछ अपमान हो गया या स्वकीय अपेक्षित कार्य सिद्ध न हुआ, तो वह व्यक्ति फिर उस आचार्य या गुरुजनमें दोषारोपण करनेकी और उसके द्वारा अपना विशेषत्व या महत्त्व ख्यापन करनेकी चेष्टा करना प्रारंभ करता है और उसके लिये किसी-न-किसी सैद्धान्तिक भेदकी सृष्टि करके अपना पक्ष बनाना चाहता है। कुछ भक्त लोग, चाहे जिस कारणसे जब उसके पक्षके पोषक बन जाते हैं, तब वह फिर अपने पक्षको नये संप्रदाय, समुदाय, गच्छ या गण इत्यादिके रूपमें संगठित करके, पुराने शास्त्रोंके कुछ अस्पष्ट कथनोंका अथवा परस्पर साधकबाधक प्रमाणोंका, अपने अभीष्ट विचारानुसार संदर्भ बिठा कर एवं अपने विपक्षके

† देखो, सन्देह दोलावलि प्रकरण-जिनपतिसूरिकृत, पृ. ७

विचारोंका खण्डन करें, स्वकीय पक्षके शास्त्रोक्त होनेकी और अन्य पक्षके अशास्त्रीय होनेकी प्ररूपणामें प्रवृत्त होता है। और इस तरह समाजमें एक नये पक्ष या मतकी स्थापना हो कर, उसके स्थापकका जैसा प्रभाव और सामर्थ्य होता है उसके अनुसार, उसका प्रवाह आगे बढता है और स्थापक व्यक्तिके 'अहंत्व' या 'ममत्व' को सन्तुष्ट करता है। जैन धर्मानुयायियोंमें जितने भी भिन्न-भिन्न संप्रदाय उत्पन्न हुए हैं उन सबकी उत्पत्तिमें मूल तो कोई ऐसा ही 'अहंत्व' 'ममत्व'सूचक काषायिक भाव ही प्रायः मुख्य कारण है। स्वयं श्रमण भगवान् श्री महावीरके साक्षात् जामाता राजकुमार जमालिके चलाए हुए पक्ष या मतसे ले कर आज पर्यंतके जैन इतिहासमें न जाने ऐसे कितने पक्ष और विपक्ष चले हैं और उनमेंसे कितने कालके प्रवाहमें बहते बहते विलीन हो गये हैं – इसकी गिनती कौन कर सकता है?।

जिनेश्वर सूरिने प्रस्तुत ग्रन्थमें, ईर्ष्यावश हो कर अपने गुरु-धर्माचार्यके विरुद्धमें एक मुनिचन्द्र नामक साधुने किस तरह गुरुके उपदेशको अशास्त्रीय बतलानेका प्रयत्न किया और किस तरह उनके भक्तोंको श्रद्धाविमुख बनानेका उपदेश दिया उसका अच्छा चित्र अंकित किया है। उसका कुछ सार इस प्रकार है –

## गुरुविरोधी मुनिचन्द्र साधुका कथानक

एक धर्मघोष सूरि नामके आचार्य थे जिनके अनेक शिष्योंमेंसे मुनिचन्द्र और सागरचन्द्र नामक दो प्रधान शिष्य थे। इनमें मुनिचन्द्र ज्येष्ठ शिष्य हो कर सूरिका स्वयं भागिनेय था लेकिन बहुत आत्मगर्विष्ठ था और सूत्रोंके अक्षर मात्रको रटते रहने वाला हो कर भावार्थके विचारकी दृष्टिसे शून्य था। सागरचन्द्र एक राजकुमार था और आंतरिक विरक्तिसे भावित हो कर उसने संसार त्याग किया था और सूरिका अत्यंत विनम्र विनेय था। धर्मघोष सूरि जब बहुत वृद्ध हो गये और उनको अपना जीवन-पर्याय पूर्ण होनेके निकट दिखाई दिया तो उन्होंने अनशन करनेका विचार प्रकट किया। उस समय मुनिचन्द्रने मनमें सोचा कि – मैं सूरिका भाणेज हूं, शास्त्रोंका ज्ञाता हूं और मेरे बहुतसे स्वजन भी हैं; इसलिये मृत्युके समय सूरि मुझे ही अपना उत्तराधिकारी आचार्य बनावेंगे। लेकिन सूरि तो बडे महानुभाव थे; मध्यस्थ चित्त हो कर केवल गुणोंका बहुमान करनेवाले थे। उन्होंने सागरचन्द्रको ही विशेष योग्य समझ कर उसे अपने पदपर स्थापित किया और सब गीतार्थ साधुओंने भी उसका बहुमान किया। फिर आचार्य तो अनशन कर स्वर्गको प्राप्त हुए।

मुनिचन्द्र अपने गुरुके इस प्रकारके व्यवहारसे असन्तुष्ट हो गया। वह अपने स्वजनोंको बहकाता हुआ और सूरिपर प्रद्वेषभाव धारण करता हुआ पृथक् हो कर विचरने लगा। बादमें, सूत्रमात्रके शब्दोंको पकड कर और उसके विषयविभागको लक्ष्यमें न रख कर, लोगोंको अपनी इच्छानुसार उसका उपदेश देने लगा। वह परिभ्रमण करता हुआ एक समय साकेत नगरमें पहुंचा जहां उसके गुरुके प्रतिबोधित किये हुए बहुतसे भक्त श्रावकजन रहते थे। वह सागरचन्द्र राजकुमार भी वहींका निवासी था। वहां पर कितनेक ऐसे लोग भी थे जो पहले जैन शासनसे विरोधभाव रखते थे। उनको धर्मघोष सूरिने निम्न प्रकारका माध्यस्थभाव सूचक धर्मोपदेश दे दे कर अपने धर्मके अनुरागी बनाये थे। वे सूरि अपने उपदेशमें श्रोताओंको कहा करते थे कि – 'देखो, जिसको इस लोकमें भी फलकी कुछ आकांक्षा होती है वह ठाकुर वगैरह राजपुरुषकी सेवा करता है। इसी तर[illegible] [illegible]लोक और [illegible]
इच्छा रखने वालेको किसी देवकी सेवा करनी चाहिये। [illegible]
नहीं हो सकता – जैसे कोई घडा सामने न होनेसे

तो निश्चित है कि परलोक अवश्य है और पुण्य-पाप भी अवश्य हैं। इसलिये इनकी प्ररूपणा करने वाला भी कोई देव अवश्य होना चाहिये। परंतु वह देव अपने जैसे स्थूलदृष्टि वालोंको प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। अतः जो कोई भी देवरूपसे हमें ज्ञात हों उसको प्रणामादि करते रहना चाहिये। उसके आयतन अर्थात् स्थानकी सार-संभाल लेते रहना चाहिये और पूजादि कार्य करते रहना चाहिये। ऐसा करते हुए इनमें जो कोई देवाधिदेव होगा उसकी पूजासे हमारा निस्तार हो जायगा। इसके विपरीत जो कोई पाखंडीविशेषके वचनोंमें विश्वास रख कर, किसी एक ही देवकी उपासना करनेमें आग्रहबद्ध हो जाता है और अन्य देवोंकी तरफ अवज्ञाभाव धारण कर लेता है वह तत्त्वदर्शनसे वंचित रहता है। अतः तत्त्वदर्शनकी इच्छा रखने वाले मनुष्यको सर्वत्र समदृष्टि होना चाहिये'—इत्यादि।

धर्मघोष सूरिका ऐसा निरपेक्ष उपदेश उन लोकोंके हृदयमें ठंस गया। उन्होंने समझा कि ये मध्यस्थ दृष्टि वाले हैं और सच कहनेवाले हैं। इससे उन लोगोंका जो जैनधर्मके प्रति विरोधभाव था वह हट गया वे 'भद्रभाव' वाले बन गये। उनमेंसे जिनको जैन प्रवचन पर विशेष विश्वास हो गया वे सूरिके पास 'दर्शनप्रतिमा'का स्वीकार कर, 'दर्शनश्रावक' बन गये। जिनको देशविरति लेनेकी इच्छा हुई उन्होंने एकविधादि 'विरतिभाव' ग्रहण किया। इस प्रकार धर्मघोष सूरिके उपदेशसे जो धर्मानुरागी बने थे वे लोक, मुनिचन्द्रका अपने नगरमें आगमन जान कर और अपने धर्मगुरुके ये भागिनेय एवं ज्येष्ठ शिष्य हैं इस भावसे उनको वंदन करने आये।

उन लोकोंमें जो 'भद्रभाव' वाले मनुष्य थे उनको मुनिचन्द्रने पूछा कि—'तुम्हारा धर्मानुष्ठान कैसा चलता है?' तो उन्होंने कहा कि—'आपके गुरुने जो सर्व देवोंको प्रणामादि करते रहनेका उपदेश दिया है वह ठीक चल रहा है।' तब उस साधुने कहा—'तुमको तो मेरे गुरुने ठग लिया है। उन्होंने तुमको और अपनेको—दोनोंको संसारमें भटकते रहनेके योग्य बना दिया है। तुमको मिथ्यात्वमें चिपका कर संसारमें भटकाना चाहा है और उन्मार्गका उपदेश करके अपनेको भी भवकूपमें गिराया है। ऐसे धर्मानुष्ठानसे कुछ कार्यसिद्धि नहीं होती'—इत्यादि। इस प्रकारके उसके वचन सुन कर वे 'भद्रभावी' मनुष्य वापस जैनधर्मके प्रति अश्रद्धावान् बन गये। चैत्य और साधुओंको बाधा करने वाले बन गये। फिर इस प्रकार वे मिथ्याभाव प्राप्त कर संसारगामी बने।

जिन्होंने 'सम्यक्त्वव्रत' ग्रहण किया था उनको वह कहने लगा कि—'तुम्हारेमें गुरूने वैसी कौनसी योग्यता देखी जिससे तुमको 'सम्यक्त्वव्रत' दिया गया है? सम्यक्त्वके योग्य तो वह होता है जिसमें औदार्य, दाक्षिण्य, पापजुगुप्सा, निर्मलबोध और जनप्रियत्व आदि गुण होते हैं। इनमेंसे तुममें कौनसे गुण हैं? किसानोंको और गरीबोंको चूसने वाले तुम बनियोंमें 'औदार्य' कैसा? कौडी-कौडीके लिये पिता माता भाई और पुत्रादिके साथ भी लडाई झघडे करते रहने वालोंमें 'दाक्षिण्य' कैसा? हमेशां दूसरोंकी संपत्तिको हर लेनेकी इच्छा रखने वालोंको 'पापसे जुगुप्सा' कैसी? जिनमें ये दोष भरे हुए हों उनमें 'निर्मलबोध' कहां और जो अपने स्वजनोंसे लडते रहते हैं उनकी 'जनप्रियता' भी कैसी? इस तरह तुम्हारा व्यवहार तो ऐसा आमूल हीन स्वरूपका है; इसलिये मैं तुम्हारी धर्मप्रवृत्तिके विषयमें क्या पूछताछ करूं?' उसके इस प्रकारके दोषदर्शक वचनोंको सुन कर उनके मनमें आया कि यह जो कहते हैं वैसा ही ठीक होगा। सो इस प्रकार वे 'सम्यक्त्वव्रत'से पतित हो गये।

इसी प्रकार जिन लोकोंके दिलमें प्रव्रज्या लेनेकी कुछ इच्छा हो रही थी, उनसे उसने कहा कि—'प्रव्रज्या लेनेके लिये तुम्हारी क्या योग्यता है? जिस प्रव्रज्याका आराधन चक्रवर्ती, बलदेव, महामांडलिक

दिने किया है उसका तुम्हारे जैसे तुच्छ बनिये कैसे आराधन कर सकते हैं? प्रव्रज्याकी विराधना से तो संसारभ्रमणके सिवा और कोई फल मिल नहीं सकता और इसीलिये यह कहा है कि विधिकृताद् वरमकृतम्।' अर्थात् अविधिपूर्वक काम करनेकी अपेक्षा न करना अच्छा है। इसीलिये त्रोंमें यह भी कहा है, कि कुरुड-उकुरुड नामक साधु दुष्कर तपश्चरण करते हुए भी श्रमणभावका धन करनेसे सातवीं नरकमें गए। इसलिये पहले श्रावककी जो ११ प्रतिमाएं हैं उनका पालन करके पीछे प्रव्रज्या लेनी चाहिये। क्यों कि इस प्रव्रज्याका पालन करनेमें तो बडे बडे महारथी भी भग्न हो ते हैं, तो फिर तुम्हारे जैसे बनियों मात्रकी क्या दशा हो सकती है?' इन बातोंको सुन कर वे प्रव्रज्याकी च्छा रखने वाले लोक भी गृहवास ही में रहनेकी दृढ भावना वाले बन गये।

इस प्रकार उसके अविधिपूर्वक धर्मविचार प्रकट करनेसे, बहुतसे जन धर्मवासनासे रहित हो गये और न्य साधुजनोंके द्वेषी एवं धर्मविमुख बन गये। और जो मूढ धार्मिक जन थे वे उसको 'यह भगवान् द्ध मार्गकी प्ररूपणा करते हैं' ऐसा मान कर उसकी खूब पूजा करने लगे।

साकेत नगरमें मुनिचन्द्रके द्वारा इस तरह लोकोंको बहकाने वाले धर्मविचारका प्रचार सुन कर वे गरचन्द्रसूरि भी अपने बहुतसे शिष्योंको साथ ले कर वहां पहुंचे। नगरके बहार उद्यानमें ठहरे। स मुनिचन्द्रके बहकाए हुए जनोंको छोड कर बाकीके सब जन उनको वन्दनादि करनेके लिये उद्यानमें हुंचे। उन्होंने मुनिचन्द्र और उसके भक्तजनोंको भी बुलाया लेकिन वे पहले यों तो नहीं गये। दमें किसी देवताके उपद्रवकी आशंकासे भयभीत हो कर वे फिर सूरिके पास पहुंचे। सूरिने उन बके सामने मुनिचन्द्रके विचारोंका अच्छी तरह खण्डन किया और शास्त्रोंके उत्सर्ग-अपवादात्मक थनोंका मर्म समझाते हुए कहा कि-'इस प्रकार मुनिचन्द्रने जो क्रियामार्गके लोपके विचार प्रकट किये वे भ्रान्त हैं। क्रियावादका निषेध करनेसे जैन शासनका अपराध होता है और उसके पापसे जीव गतिको जाता है'। अपने सन्मुख बैठे हुए श्रोता जनोंको संबोधन करते हुए उन्होंने कहा कि-'अहो नदत्त, जिनवल्लभ, जिनरक्षित, जिनपालित, अर्हद्दत्त-(जिनेश्वर सूरिने अपने श्रोता श्रावकोंका जो मकरण किया है वह खास ध्यान देने लायक है) आदि श्रावको! तुम धन्य हो, जो तुम्हारे हृदयरूपी गनमें मोक्षफलका देने वाला सम्यक्त्वरूप वृक्ष वृद्धि पा रहा है। क्यों भाई मुनिचन्द्र! हमारे गुरुने या ऐसा अनुचित आचरण किया था जो तुमने इनको और गुरुको भी उपालंभ देनेका प्रयत्न किया है? मने जो विचार प्रदर्शित किये हैं वे न तो किन्हीं 'अंग-उपांग' आदि सूत्रोंमें देखे जाते हैं न 'प्रायश्चि-ादि' ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। और तुमने इनको बनिये कह कर एवं किसान आदिकोंको लूटने वाला तला कर, इनमें जो क्षुद्रताके दोषोंका आरोप किया है वे दोष क्या औरोंमें नहीं होते हैं? तुम्हारे चारसे तो फिर दूसरोंके पास याचना करने वाले ब्राह्मणोंमें भी उदारता कैसी हो सकती है?। इसी कार पराए देशोंको लूटने वाले और निरपराधी धनिकोंका धनापहरण करने वाले क्षत्रियोंकी भी क्या दारता हो सकती है? वैश्य जितने हैं वे तो सब बनिये ही हैं। और जो शूद्र हैं वे तो सब हल और ाडी चलाने वाले हो कर, सदैव करके भारसे दंडाक्रांत होने वाले, और प्रजाजनोंके सभी प्रकारके पमानको सहन करने वाले पामर होते हैं। इसलिये उनमें भी औदार्यका गुण कैसे संभवित हो सकता ?। इसी तरह तुम्हारे विचारसे तो बाहुबली जैसे भाईके साथ लडने वाले भरतमें भी 'दाक्षिण्यता'के णकी संभावना कैसे की जा सकेगी?। फिर जो राजादि लोक हैं वे तो प्रायः मांसाहारी होने ... र उनमें 'पापसे जुगुप्सा' करने वाले गुणका आविर्भाव कैसे संभवित हो सकता है? और

वल्लभ'के गुणकी बात कही सो तो तीर्थंकरमें भी संभव नहीं हो सकता । क्यों कि तीर्थंकरका सर्वजनवल्लभ होना शक्य नहीं है । तब फिर अन्य जनोंकी तो बात ही क्या है ? इसलिये केवल सूत्र शब्दोंको पकड कर नहीं बैठना चाहिये, लेकिन उसके विषयविभागकी विचारणा करनी चाहिये । तुमने यह विचार प्रकट किया, कि बनियोंका प्रव्रज्या पालन कैसा – इत्यादि । सो भी तुम्हारा भ्रमजनक है । शालिभद्र, धन्ना, सुदर्शन, जंबू, वज्रस्वामी, धनगिरि आदि बडे बडे मुनि हो गये जो जातिसे वणिक् थे । तुमने अपने ये सब भ्रान्त विचार प्रकट करके तीर्थंकरोंकी आशातना की है और उस आशातनाका फल है दीर्घकाल तक संसारमें परिभ्रमण करते रहना' – इत्यादि ।

इस प्रकार सागरचन्द्र सूरिके कथनको सुन कर उस मुनिचन्द्रके मनमें बडा रोष उत्पन्न हुआ लेकिन सागरचन्द्र राजपुत्र होनेसे भयके मारे उसको कुछ वह प्रतिउत्तर नहीं दे सका और वहांसे कुपित हो कर चला गया । उसके जो कुछ भक्तजन बन गये थे वे सागरचन्द्र सूरिके धर्मोपदेशसे पुनः अपने मार्गमें स्थिर हो गये और मुनिचन्द्रके विचारोंकी निन्दा करने लगे । मुनिचन्द्र अपने उन्मार्गदर्शक विचारोंके कारण मर कर दुर्गतिको प्राप्त हुआ । इत्यादि ।

*

जिनेश्वर सूरिने इस कथाको खूब विस्तारके साथ लिखा है । हमने तो यहां पर इसका केवल सारार्थ मात्र दे दिया है । पाठक इस कथानकके वर्णनसे यह जान सकेंगे कि उस समयमें भी जैन साधुओंमें कैसे कैसे विचारोंका ऊहापोह होता रहता था । इसी तरहके विलक्षण विचारोंका ऊहापोह आज भी जैन साधुओंमें वैसे ही चलता रहता है जिनका दिग्दर्शन समाजको भिन्न भिन्न मतोंके स्थापक उत्थापक वर्गोंके परस्परके खण्डन-मण्डनसे अनुभूत हो रहा है । ये सब मतवादी परस्पर एक दूसरेको मिथ्यावादी और जैनशासनके विराधक कहते रहते हैं ।

*

जिस प्रकार इन उपर्युक्त कथानकोंमें श्वेतांबर जैनसाधुओंके परस्परके मतभेदोंके और पक्षापक्षीके संघर्षसूचक विचारोंका चित्र अंकित किया गया मिलता है इसी प्रकार कुछ अन्य कथानकोंमें दिगंबर जैन संप्रदाय एवं बौद्ध और ब्राह्मण संप्रदायके अनुयायियोंके साथ भी जैन साधुओंका कैसा संघर्ष होता रहता था इसके चित्र भी अंकित किये गये मिलते हैं ।

## श्वेताम्बर-दिगम्बर संघर्षसूचक कथानक

२५. इस कथानक एक दत्त नामक साधुका है जिसमें यह बताया गया है कि किस तरह दिगंबरानुयायी उपासकोंने एक श्वेतांबर भिक्षुकको लोकोंमें निन्दित बनानेकी चेष्टा की और कैसे उस साधुने अपने बुद्धिचातुर्यसे उस चेष्टाको विफल बना कर उलटमें उन्हींको लज्जित बनानेका सफल प्रयत्न किया । इस रोचक कथानकका सार पढिये ।

जिनेश्वर सूरिने लिखा है कि – भगवान् महावीरके निर्वाण बाद, कुछ शताब्दियोंके व्यतीत होने पर, बोटिक नामका एक निन्हव संप्रदाय उत्पन्न हुआ । उस समय एक संगम नामक स्थविर (श्वेतांबर) आचार्य थे जिनके ५०० शिष्य थे । उन शिष्योंमें एक दत्तक नामका साधु था जो बडा घुमक्कड था । किसी प्रयोजनके लिये आचार्यने उसको एक दफह एकाकी ही किसी ग्रामान्तरको भेजा । वह चलता [illegible] समय किसी एक छोटेसे गांवमें पहुंचा और वहां रात रहनेके लिये अपने योग्य कोई

वसतिकी तलाश करने लगा; पर वह न मिली। तब वह वहां पर जो एक बौटिक चैत्यालय ( दिगंबर जैनमन्दिर ) था उसमें चला गया। यह मेरे लिये योग्य एषणीय स्थान है, ऐसा समझ कर वहीं उसने रात्रिवास व्यतीत करना चाहा। इसका पता जब बौटिक श्रावकोंको लगा, तो द्वेषवश उन्होंने उसका उड्डाह करनेकी दृष्टिसे, कुछ पैसे दे कर एक वेश्याको रातको उस साधुके पास भेजा। फिर उन्होंने मन्दिरके दरवाजे बन्ध करके उसको बाहरसे ताला लगा दिया। प्रहरभर रात्रिके बीतने पर वह गणिका ( वेश्या ) उस साधुको हैरान करनेको उद्यत हुई। पर दत्त विरक्त था इसलिये वह निष्प्रकंप हो कर बैठ रहा। साधुकी वैसी निष्प्रकंपताको देख कर वह गणिका उपशान्त हो गई और विनम्र हो कर कहने लगी कि – 'तुमको क्षुब्ध और भ्रष्ट करनेके लिये मुझे इन दिगंबर उपासकोंने पैसे दे कर यहां पर भेजी है।' साधुने कहा – 'अच्छा है, एक किनारे जा कर सो जा। तुझे तो पैसेसे मतलब है और किसीसे तो नहीं।' फिर उस साधुने उस वेश्याके सामने ही, उस मन्दिरमें जो दिया जल रहा था उसकी ज्वालासे अपने जितने वस्त्र और रजोहरण आदि उपकरण थे उन सबको जला दिया और मन्दिरमें जो एक पुराना मोरपिच्छ पडा हुआ था उसको उठा लिया। सवेरा होने आया तब उन दिगंबर श्रावकोंने लोगोंको इकट्ठा करके कहना शुरू किया कि – 'देखो, इस मन्दिरमें रातको एक श्वेतपट साधु वेश्याको ले कर आ कर घुस गया है।' तब सूर्योदय होने पर उन्होंने मन्दिरका दरवाजा खोला, तो वह दत्त उस वेश्याके कंधेपर अपना हाथ रखे हुए बहार निकलने लगा। लोगोंने देखा तो वह तो सर्वथा नग्न क्षपणक था। लोक कहने लगे – 'अरे, यह तो निर्लज्ज क्षपणक है, जो वेश्याके साथ यहां आ कर रहा है और अब भी इसके गलेमें विलग कर इसको ले जा रहा है!' तब दत्तने कहा – 'अरे, तुम मेरी अकेलेकी क्यों हंसी उडा रहे हो। ऐसे तो बहुतसे क्षपणक हैं जो इसी तरह रातको वेश्याओंके साथ रहा करते हैं।' तब फिर वे लोग बौटिक श्रावकोंकी हंसी उडाने लगे और कहने लगे कि – 'बस, ऐसे ही तुम्हारे गुरु हैं। ठीक ही है, जो ऐसे भांडजैसे नंगधडंग होते हैं उनकी तो ऐसी ही गति होती है। मालूम देता है कि इसीलिये श्वेतांबरोंने वस्त्र ग्रहण किया है; और उन्हींका पक्ष सत्य मालूम देता है तुम्हारा नहीं।' इत्यादि।

*

यह कथानक इस बातका चित्र उपस्थित करता है कि दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायके बीचमें किस तरहका परस्पर द्वेषभाव रहा करता था और एक संप्रदाय वाले दूसरे संप्रदाय वालोंको नीचा दिखानेके लिये कैसे कैसे क्षुद्र और उपहसनीय प्रयत्न किया करते थे। मालूम देता है यह सांप्रदायिक प्रद्वेष और संघर्ष बहुत प्राचीन कालसे ही चला आ रहा है और अब भी वह शान्त नहीं हुआ है। दिगंबरों द्वारा श्वेतांबरोंका उपहास किये जानेकी ऐसी ही एक जुगुप्सनीय घटनाका उल्लेख, वादी देवसूरिके प्रबन्धोंमें मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि सुप्रसिद्ध दिगंबराचार्य वादी कुमुदचन्द्रके भक्तोंने, कर्णावतीमें एक श्वेतांबर वृद्धा आर्याको, रास्तेके बीचमें निर्लज्ज भावसे नचानेका निंद्य प्रयत्न किया था और उसी द्वेषमूलक प्रयत्नके परिणाममें वादी देवसूरिको सिद्धराज जयसिंहकी सभामें भट्टारक कुमुदचन्द्रके साथ वादमें उतरना पडा और उसमें दिगंबर पक्षको बडा भारी पराजय सहना पडा, इत्यादि।

*

## जैन और बौद्ध भिक्षुओंके संघर्षकी कथा

इसके बादके २६ वें जयदेव नामक कथानकमें एक सुचन्द्रसूरि नामक जैन श्वेतांबर आचार्यका जयगुप्त नामक बौद्ध भिक्षुके साथ वादविवादमें उतरनेका वर्णन दिया गया है जिसमें :

साथ श्वेतांबर साधुओंका कैसा संघर्ष होता रहता था इसका चित्र हमें देखनेको मिलता है। कथ
कुछ सार इस प्रकार है–

इस भारतवर्षके साकेत नामक नगरमें यदु नामक राजा राज्य करता था, जो तच्चनिक अर्थात् ब
मतका भक्त था। उसके मनमें भिक्षुमत यानि बौद्धमत ही तत्त्वभूत पदार्थका उपदेश देनेवाला मत
और अन्य कोई मत वैसा नहीं है, –ऐसी मान्यता ठंसी हुई थी और इसलिये वह साधुओंका अर्थात् ज
साधुओंका कभी बहुमान नहीं करता था–प्रत्युत इस प्रकार उपहास किये करता था कि–ये साधु
उस स्याद्वाद मतको मानने वाले हैं जिससे किसी प्रकारका लोकव्यवहार सिद्ध नहीं होता है। इ
'स्याद्वाद'के सिद्धान्तानुसार माता भी अमाता, पिता भी अपिता, धर्म भी अधर्म, मोक्ष भी अमोक्ष औ
जीव भी अजीव सिद्ध होता है। इस तरह इस सिद्धान्तसे कोई बात घट नहीं सकती। इसीलिये ज
अरिहंत है वह भी सर्वज्ञ नहीं सिद्ध हो सकता; –इत्यादि प्रकारके विचार वह अपने सभास्थानमें प्र
प्रकट किये करता था।

उस राजाका मंत्री सुबन्धु नामक था जो जैन श्रमणोपासक था। राजाद्वारा किये जाने वाले अपने धर्मके उपहासवचनोंको सुन कर, उसके मनमें खेद होता रहता था। एक समय वहां पर सुचन्द्र नामक जैन श्वेतांबर आचार्य आये तो उनको मंत्रीने वह सब बात सुनाई और कहा कि–'इस इस प्रकार राजा [ अपने धर्मके विरुद्ध ] बोलता रहता है।" सुन कर सूरिने कहा–'भाई, जो बाडीमें ताडते रहते हैं वैसे बैल तो घर घरमें होते हैं। परंतु जिसके सिरपर बडे तीक्ष्ण सींग होते हैं और जिसका स्कन्ध खूब मांसल हो कर कठोर टक्कर लेनेमें बडा मजबूत होता है वैसे वृषभ ( मत्त सांड )के आगे दहाडना कठिन होता है। इसलिये इसमें कुछ तथ्य नहीं है' इत्यादि। अपने गुप्त चरोंद्वारा राजाको यह बात ज्ञात हुई तो उसने अपने धर्मगुरु जयगुप्त भिक्षुको कहा कि–'वाद-विवादका आव्हान सूचन करनेवाला श्वेतांबर साधुओंको 'पत्र' ( चेलेंज ) देना चाहिये।' तब उस भिक्षुने वह पत्र तैयार किया और उसे सिंहद्वारपर लगा दिया गया। सुचन्द्रसूरिने उसको ले लिया और फाड कर फेंक दिया। फिर सूरि राजद्वारमें गये और जयगुप्तको विवाद करनेके लिये बुलानेकी खबर दी। सूरिने पत्रकी व्याख्या की और वादविषयक अपनी प्रतिज्ञा समझाई। वादका विषय और उसके प्रतिपादनकी शैलीका निर्णय किया गया। सूरिने कहा–'इस शैलीके मुताबिक या तो हम पूर्वपक्ष करें और उसका उत्तर जयगुप्त भिक्षु दें; या फिर भिक्षु पूर्वपक्ष करें और हम उसका उत्तर दें। इसमें कहीं एक भी दोष आया तो उसका सबमें पराजय माना जाय।' इस प्रतिज्ञाके अनुसार, जयगुप्त भिक्षुने 'क्षणिकवाद'को मुख्य करके अपना पूर्वपक्ष उत्थापित किया। सूरिने उसका अनुवाद करते हुए उसे 'दूषित' सिद्ध किया। भिक्षुसे उसका ठीक उत्तर देते नहीं बना। परंतु राजा उसका पक्षपाती होनेसे उसने 'जयपत्र' देना नहीं चाहा और कहा कि–'वाद अभी और होना चाहिये।' ऐसा कह कर उस दिन सभा बन्ध कर दी गई। भिक्षु उठ कर चले गये और सब लोकोंको कहने लगे कि–'हमारी जीत हुई है।' लेकिन राजा मनमें तो समझ गया था कि मेरे गुरुओंकी हार हुई है। इससे उसके मनमें उलटा द्वेष बढा और वह जैन साधुओंके छिद्र ढूंढने लगा। सूरिको यह ज्ञात हुआ। उधर जो बौद्ध मती थे वे राजाको कहने लगे कि–'इन श्वेतांबरोंको देशसे बहार कर देना चाहिये।' तब राजाने कहा कि–'प्रसंग आने पर ऐसा किया जायगा। इनके बहुत लोक भक्त हैं, इसलिये सहसा कुछ करनेमें कहीं प्रजाका विरोध भाव न हो जाय।' उधर सूरिने अपने शिष्योंमें जो सबसे अधिक बडा तपस्वी था

उसको कहा कि - 'देवताका स्मरण करो।' तब उसके कायोत्सर्ग ध्यान करने पर देवता आई, तो उसको तपस्वीने कहा - 'राजा हमारा अनिष्ट करना चाहता है; इसलिये इसको कुछ शिक्षा देनी चाहिये।' उत्तरमें देवताने कहा - 'जब यह कोई अपराध करेगा तब वैसा किया जायगा; तुम सब अभी निरुद्विग्नभावसे शान्त रहो।'

इधर उस जयगुप्त भिक्षुने एक चरिका (जारण-मारण जादू-टोना आदि करते रहनेवाली दुःशील परिव्राजिका)को बुला कर कहा कि - 'इस सुचन्द्रको अपने फंदेमें फसा कर उसपर कुछ कलंक लगाओ।' उसने स्वीकार किया। वह फिर एक समय, बे वक्त साधुओंके स्थानमें आई। सूरिने उसे कहा - 'एकाकी स्त्रीका साधुओंके उपाश्रयमें इस तरह आना निषिद्ध है।' तब उसने कहा - 'मैं धर्म-श्रवण करनेके लिये आई हूं।' तो सूरिने कहा - 'इसके लिये साध्वियोंके स्थानमें जाओ।' उसने फिर कहा - 'मेरे यहां आनेसे तुम्हारा क्या अपराध होता है? तुम्हें अपनी चित्तशुद्धिको ठीक रखना चाहिये। तुम जब राजमार्गमें, चैत्यालयमें अथवा भिक्षाके लिये लोगोंके घरोंमें जाते हो तब क्या आंखों पर पट्टी बांधके जाते हो? इस प्रकारका चक्षुरिन्द्रियका निरोध करनेसे कुछ थोडा ही लाभ होता है। अन्तरकरणका निरोध करना चाहिये। अन्तरका निरोध होनेसे ही ब्रह्मचर्यका स्थैर्य होता है। मेरे यहां आनेसे तो तुम्हारी लोकोंमें उलटी पूजा बढेगी। इसलिये वृथा ही तुम मुझे रोकना चाहते हो।' सुन कर सूरिने कहा - 'इसका विचार लोगोंके सामने किया जाना चाहिये। अभी तुम अकेलीके साथ यहां पर हमें कोई बातचीत नहीं करनी है।' सुन कर वह रुष्ट हुई और उठ कर चली गई। लोगोंके सामने जा कर कहने लगी - 'ये साधु तो ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हैं। अपने व्रतको छोड कर इन्होंने मेरे साथ दुराचार किया। मैंने इनको संतुष्ट करके किसी तरह फिर व्रतमें स्थिर किया है' - इत्यादि। उसकी ये बातें सुन कर, अन्य लोक श्रावकोंको देख कर तालियां देते और हंसते हुए कहने लगे - 'क्यों भाई, सुनी है न अपने गुरुओंकी यह बात?' तब श्रावकोंने उस स्त्री को फटकारते हुए कहा कि - 'अरे पापिनी, महामुनियोंके बारेमें ऐसा कहती हुई तूं नरकमें जायगी। तेरे इन झुलसे हुए गाल, लटकते हुए स्तन और शोभाहीन शरीरको देख कर, अन्य भी कोई मनुष्य तुझसे विषयसेवा करना नहीं चाहेगा तो फिर हे निर्लज्ज नारी, ये मुनि जो नित्य स्वाध्यायमें निमग्न रह कर कामका जिन्होंने उन्मूलन कर दिया है और जिनके चित्तको देवियां भी चलायमान नहीं कर सकतीं, वे तेरे साथ कामसेवाकी इच्छा करेंगे? इनको वन्दन करनेके लिये, विविध प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत हो कर राजा, अमात्य, पुरोहित, क्षत्रिय, सेठ और सार्थवाह आदिके घरानोंकी बहु-बेटियां आती रहती हैं, परंतु उनकी तरफ इनका कभी किंचित् भी वैसा दृष्टिनिपात होते किसीने नहीं देखा और तूं निर्लज्ज, इस प्रकार इन पर दोषारोपण कर रही है?' तब वह बोली - 'अरे इस बातको तुम क्या जानो? वह तो मैं ही जानती हूं जिसके आठों अंगोंका इन्होंने उपभोग किया है।' श्रावकोंने कहा - 'जानेगी जब राजकुलमें (राजाके दरबारमें) घसीटी जायगी।'

ऐसी बातें करते हुए वे सब श्रावक इधर-उधर चले गये। फिर सुबन्धुमंत्रीके साथ सलाह करके वे सुचन्द्रगुरुके पास पहुंचे। उन्होंने गुरुसे वह सब हाल कह सुनाया। गुरुने कहा - 'वह यहां पर ऐसी ऐसी बातें करती हुई आई थी। हमने उसको सर्वथा फटकार दिया था। मालूम देता है कि उसका इस प्रकार प्रलाप करनेके पीछे राजाका भी कुछ कारस्थान है। तब मं
बांहसे पकड कर राजकुलमें घसीट ले जाओ। इसमें कुछ भी विलंब मत करो। अन्तम

फिर उन श्रावकोंने उसको लोगोंके बीचमें जब ऐसा बकती हुई देखी तो उसे बांहसे पकड़ कर सुबन्धुके पास ले गये। उसने भी कहा कि—'पापे, चल राजकुलमें।' तो वह झटसे चलनेको तैयार हो गई। तब श्रावकोंने समझ लिया कि निश्चय ही इसमें राजाका कुछ कारस्थान है। लेकिन शासन-देवता सत्यकी जरूर रक्षा करेगी। सुबन्धुने फिर कहा—'राजा प्ररुष्ट हुआ है और उसीने इससे ऐसा करवाया है। तब भी राजकुलमें जाना ठीक है।' बादमें वे सब राजाके पास पहुंचे।

उन श्रावकोंका अग्रणी एक यक्ष नामक श्रेष्ठी था उसने पहले राजासे निवेदन किया कि—'महाराज, तपोवन तो राजरक्षित सुने जाते हैं। और शास्त्रोंमें भी कहा है कि—'राजा न्यायपूर्वक प्रजाका परिपालन करता हुआ प्रजाके किये हुए धर्मकर्मका षष्ठांश भाग प्राप्त करता है। राजाके लिये सब दानोंसे अधिक दान प्रजाका परिपालन करना है।' यह रंडा जो इस प्रकार अपने बिगडे हुए गाल, पडे हुए स्तन आदिक विरूप अंगोंके कारण, देखने पर भी उद्वेग उत्पन्न करती है और अपने जन्मांतरमें उपार्जित अशुभ कर्मके फलको इस प्रकार भुगतती हुई भी, साधुओं पर द्वेषभाव धारण कर उनके बारेमें असमंजस बातें बकती रहती है। इसलिये महाराजको इस विषयमें उचित उपाय करना चाहिये।'

सुन कर राजाने उस रंडाको लक्ष्य करके कहा—'हे हताशे, यदि तैंने धर्मनिमित्त अपना आत्मा समर्पित किया है तो फिर उसके लिये विवाद (झगडा) किस बातका है? अगर तैंने उसका भाडा (किराया) लिया है तो उसके लिये भी विवादकी क्या जरूरत है? अगर तुझे भाडा नहीं मिला है तो समझ तुझे धर्म होगा, इसलिये इस विवाद (झगडा)का कोई अर्थ नहीं है। अथवा जो तुझे भाडा चाहिये, तो ये श्रावक दे देंगे—फिर इसमें झगडेकी बात कहां रही? अगर ये श्रावक न देना चाहेंगे तो यह धर्म मुझे ही हो; मैं वह दे दूंगा। इसलिये चले जाओ; इस झगडेका तो कुछ भी अर्थ नहीं है।' सुन कर वह यक्ष श्रावक बोला—'महाराज, क्या वे साधु ब्रह्मचर्यभ्रष्ट हैं जो आप ऐसा कह रहे हैं?' राजाने कहा—'मैंने अपना जो राजकीय लगाव है उसको छोड कर, और कुछ दान भी दे कर, तुम्हारा झगडा मिटाना चाहा है। यदि तुमको यह रुचिकर नहीं है तो फिर वे साधु अपनी 'शुद्धि' करें।' यक्षने उत्तरमें कहा—'महाराज, यदि जो कोई किसीका दुश्मन बन कर, अंधे, पंगु, कोढी आदि जीवितनिरपेक्ष मनुष्योंद्वारा किसीको सताना चाहे और उसके लिये सताये जानेवाले मनुष्यको ही अपनी 'शुद्धि' बतलानी पड़े, तब तो हगने-मूतनेके लिये भी 'शुद्धि' करनी होगी। ऐसा करने पर, फिर किसी कार्यविशेषकी कोई महत्ता ही नहीं रहती है और कोई 'दिव्य' प्रयोगके लिये स्थान ही नहीं रहता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जो रक्षक समझा जाता है वही विलुंपक (भक्षक) बन रहा है।' सेठके वचन सुन कर राजाको क्रोध हो आया और वह बोला—'अहो देखो, इन बनियोंके ये बचन! बोलो फिर तुम ही कहो, इसमें और क्या किया जाय? यदि ऐसी 'शुद्धि' नहीं की जायगी तो फिर तुम्हारी स्त्रियों, बहुओं और पुत्रियोंकी विटजनोंसे रक्षा कैसे की जा सकेगी?'

यह सुन कर सोम नामक सेठने कहा—'देव, समान धन और साधन वाले किसी व्यक्तिके द्वारा, किसी व्यक्ति पर, कुछ कलंक लगाया जाता है तो उस प्रसंगमें 'दिव्य' आदिके प्रयोग द्वारा 'शुद्धि' की जाती है। परंतु कलंक लगाने वाला 'हीन' कोटिका होता है तो उसका तो निग्रह किया जाता है।' तब राजाने कहा—'अखण्ड ब्रह्मचारी तो भिक्षु (बौद्ध साधु) ही होते हैं। श्वेतांबर (जैन साधु) वैसे नहीं है। इसलिये यदि वे 'दिव्य' द्वारा अपनी 'शुद्धि' नहीं करना चाहें, तो भी मैं तुम्हारे दाक्षिण्यके कारण उनका जीवित हरण करना नहीं चाहूंगा; और नाक काटलेने आदिकी शिक्षा करने पर भी तुमको बड़ा

दुःख होगा। इससे तो यही अच्छा है कि यह नारी ऐसा बकती हुई रहे। मैं उन साधुओंको भी नाक-काटने की शिक्षा नहीं करता। बस तुम अपने घरों पर चले जाओ।'

यह सुन कर यक्षने कहा - 'इसका क्या इतना ही दंड है जो इस प्रकार बोलती है? इसके दंडमें तो उसीकी जमानत लेनी चाहिये जो ऐसा बुलवाता है!' राजा - 'सो (जमानत देनेवाला) कैसे जान पडेगा? और वह न्यासक (जमानत देनेवाला) भी तुम्हें स्वीकार्य होगा या नहीं?' तब दत्तने कहा - 'जो आपको स्वीकार्य होगा वह हमको भी स्वीकार्य्य होगा।' तब राजाने कहा - 'ऐसी कोई जमानत लेना हमारे दण्डका विषय नहीं है। इसमें फिर क्या किया जाय?' तब यक्षने कहा - 'महाराज तब तो आप ही को यह पसन्द है और इसीलिये इसको कोई शिक्षा नहीं दी जाती है। लेकिन यह अच्छा नहीं है। बांसको विनाशके समयमें फल लगता है। इसी तरहकी तुम्हारी मति हो रही है। इसमें हम और क्या कहें?।' सुन कर राजा रुष्ट हो गया और बोला - 'अरे, उन दुराचारी साधुओंको कैदमें डाल दो। और इन बनियोंका सब सर्वस्व छीन कर इनको देशसे बहार निकाल दो।' सुन कर श्रावक वहांसे उठ खडे हुए। उन साधुओंको भी राजाके कर्मचारियोंने पकड कर कैदमें डाल दिये।

तब वह तपस्वी साधु कायोत्सर्ग करके खडा हो गया। वह देवता आई और बोली - 'तुम सब निरुद्विग्न हो कर रहो। मैं सब अच्छा कर दूंगी।' फिर उस देवतासे अधिष्ठित हो कर राज्यके जो हाथी थे वे पागल हो गये। उन्होंने अपने महावतोंको उठा कर दूर फेंक दिया और जो घुडशाल थी उसको उध्वस्त कर दिया। राजमहलोंके आंगनमें जो कोई मनुष्य चलता नजर आता था उसे मार डालने लगे और राजमहलोंकी भींतोंको गिराने लगे। बडा कोलाहल मच गया। राजके कोटार तोड डाले गये। हाथियोंको वश करनेवाले मनुष्य आये तो उनको भी पिस दिया गया। फिर वे हाथी उन बौद्ध भिक्षुओंके विहार (स्थान) तरफ लपके। मोतके डरसे भिक्षु इधर-उधर भाग निकले। बुद्धके विहारोंको [illegible] कर दिया गया; परंतु सन्मुख आनेवाले श्रावकोंका कुछ नहीं किया गया। फिर उन हाथियोंने [illegible]ारको तहस-नहस कर डाला। लोगोंकी खूब भाग-दौड होने लगी। सारे नगरमें महाकोलाहल मच [illegible]या। यह सब देख कर राजा बहुत भयभीत हुआ। फिर गीला पटशाटक ओढ कर, हाथमें धूपका कडछा ले कर और अपने प्रधान सामंतादिकोंको साथमें रख कर बोलने लगा - 'मैंने कोपका प्रभाव अच्छी तरह देख लिया है। जिस किसीका मैंने अपराध किया हो वह मुझे क्षमा करें। मुझ पर कृपा की जाय - मैं शरण आ रहा हूं।' तब अंतरिक्षमें रहनेवाली उस देवताने कहा - 'अरे दास! तूं मरा समझ। अब कहां जा सकता है?' तब राजाने प्रार्थना की - 'स्वामिनी, अनजानपनमें मैंने जो कोई अपराध किया हो उसे कहिये। मैं उसकी क्षमायाचना करूं।' तब देवताने कहा - 'पापिष्ठ, जब साधुओंको कलंक दे रहा था तब तो तूं बुद्धिमान् था और अब अनजान बन गया है। क्यों तैंने देवेन्द्रोंको भी वन्दनीय ऐसे साधुओंकी अवमानना की? क्यों न्याय्यकथन करते हुए भी श्रावकोंको तिरस्कृत किया? कहां वे भिक्षु गये जो साधुओंको देशनिकाला दिलवाना चाहते थे?। तूं तो अब अपने इष्टदेवताका स्मरण कर। तेरा जीवित नहींसा समझ ले।' राजा भयभीत हो कर कहने लगा - 'स्वामिनी ऐसा मत करो! मुझे प्राणभिक्षा दो। मैं किये हुएका प्रायश्चित्त करूंगा।' तब देवताने कहा - 'तूं तो अभव्यसा दिखाई देता है। तो भी अभी छोडे देती हूं। यदि फिर कभी साधुओंका अथवा श्रावकोंका द्वेष किया है तो वैसा करूंगी जिससे भाग भी नहीं सकेगा।' राजाने कहा - 'जो स्वामिनी कहेंगी वह सब करूंगा।' देवी - 'यदि ऐसा है तो फिर जा उन साधुओंका सत्कार कर और श्रावकोंको सन्मान दे।'

तब 'तथेति' कह कर उस यदुराजाने वह सब संपादित किया। वैसा करने पर फिर वे सब हाथी अपने अपने स्थान पर जा कर खडे हो गये और उपद्रव शान्त हो गया। लेकिन साधुओंका द्वेषकरनेवाले कर्मके फलसे, वह राजा अनन्तकाल तक अनेक दुःखोंकी परंपराको अनुभवता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता रहेगा।'

इस प्रकार बौद्ध पक्षपाती और जैनद्वेषी जयदेवकी कथा समाप्त होती है।

*

## ब्राह्मणधर्मीय सांप्रदायिकोंके साथ जैनसाधुओंका संघर्ष

जिस तरह उपर्युक्त कथानकमें बौद्ध सांप्रदायिकोंके साथ जैन साधुओंके संघर्षका चित्र आलेखित किया गया है, इसी तरह ब्राह्मण धर्मीय त्रिदंडी, संन्यासी, शैव आदि मतोंके अनुयायी जनोंके साथ, श्वेतांबर साधुओंका किस प्रकारका संघर्षण आदि चलता रहता था, इसके चित्रणके भी कुछ कथानक जिनेश्वर सूरिने दिये हैं। उदाहरणके रूपमें, इनमेंके एक त्रिदंडीभक्त कमल वणिकके कथानकका (क्रमांक ३०) सार देते हैं।

## त्रिदंडीभक्त कमल वणिकका कथानक

कौशांबी नगरीमें एक कमल नामक वणिक रहता था। वह त्रिदंडी (संन्यासी) संप्रदायका भक्त था। अपने मतके सिद्धान्तोंको ठीक जान कर वह जैन साधुओंका आदर नहीं करता था। एक दिन बहुतसे लोगोंकी सभामें बैठा हुआ उसका गुरु त्रिदंडी (संन्यासी) जैन साधुओंका कुछ अवर्णवाद करने लगा कि – 'ये **श्वेतपट** (श्वेतांबर साधु) तो ऐसे हैं वैसे हैं' इत्यादि। सुन कर कमल उसको अच्छा मानता था और उसका कुछ विरोध नहीं करता था। इतनेमें एक जिनदत्त सेठका पुत्र अर्हद्दत्त उस तरफसे निकला और उसने वह कथन सुना। अपने साधुओंकी निंदाको न सहन करता हुआ वह वहां पर जा कर बैठ गया। कहने लगा – 'कमल! तुम इस तरह साधुओंकी निन्दा करवा रहे हो सो क्या तुम्हारे जैसोंके लिये यह ठीक कहा जाय? ये त्रिदंडी तो सदा मत्सरदग्ध होते हैं – साधुओंके तपस्तेजको सहन न करते हुए अंडसंड बकते रहते हैं। परंतु तुम तो मध्यस्थ हो, तो क्या इनको ऐसा बकनेसे रोक नहीं सकते? यों ही यहां बीचमें बैठे रहते हो? क्या तुमको भी इनका कथन अच्छा लगता है?' सुन कर कमलने कहा – 'भाई, वस्तुस्वभावके सुननेमें क्या दोष है? ईख मीठा है, निंब कडुआ है – इस प्रकारका कथन सुननेमें क्या कुछ विरोध भाव होता है जिससे रोष किया जाय? क्या 'निंब मधुर नहीं होता' ऐसा नहीं कहना चाहिये? किसीको दोषके लिये कुछ उपालंभ नहीं देना चाहिये क्या? श्रेष्ठि पुत्र, तुम अपने साधुओंको कुछ सिखामण दो।' सुन कर अर्हद्दत्तने कहा – 'हमारे साधु ऐसा कौनसा बुरा आचरण करते हैं?' कमलने कहा – 'वे तो लोकाचारसे रहित होते हैं। लोकाचारकी बाधासे धर्मकी सिद्धि नहीं होती। इसीलिये कहा है कि –

**तस्माल्लौकिकाचारान् मनसाऽपि न लंघयेत्।**

अर्थात् लौकिक आचारोंका मनसे भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये।'

अर्हद्दत्त – 'यह लोक कौन है? क्या पाषंडी जन लोक हैं या गृहस्थ जन लोक हैं? यदि पाषंडी जन लोक हैं, तो वे तो परस्पर सभी एक दूसरेके आचारको दूषित कहते रहते हैं। यदि गृहस्थ जन लोक हों, तो वे तो इस प्रकार ६ तरहके कहे जाते हैं – १ उत्तमोत्तम, जैसे चक्रवर्ती, दशार आदि। २ उत्तम

राजा आदि। २ मध्यम, सेठ सार्थवाह आदि। ४ विमध्यम, अन्य कुटुंबी (किसान) आदि। ५ अधम, श्रेणिगत (सुवर्णकार, कुंभकार, लोहकार आदि शिल्पकर्मकर) समुदाय। ६ अधमाधम, चंडाल आदि। इनमेंसे चक्रवर्ति आदिका आचार उत्तम माना जाय तो वह साधुओंको हो नहीं सकता। क्या ये तुम्हारे गुरु चक्रवर्तीकी ऋद्धि-समृद्धिके आचारसे युक्त हैं? यदि कहो कि उत्तम जन हैं वे लोक हैं, तो क्या ये तुम्हारे त्रिदंडी गुरु राजाओंकेसे आचारोंका—जैसे कि परकीय देशोंका भंग करना, धनापहार करना, मृगया खेलना, मांसादि भक्षण करना—इत्यादि बातोंका आचरण करते हैं? यदि कहो कि लोकसे मध्यम जनोंका तात्पर्य है, तो उनको भी व्यापार करना, जहाज चलाना, खेती करना, ब्याज-बट्टेसे धनकी वृद्धि करना, पुत्र-पुत्रियोंका ब्याह करना, गाय, भेंस, ऊंट, घोडा आदिका संग्रह करना—इत्यादि प्रकारके आचार अभिमत हैं; इसीतरहसे विमध्यम जनोंका आचार पात्रमें दान देना आदि है। यदि तुम्हारे गुरु भी इन्हीं आचारोंका पालन करते हैं, तो फिर इन लोकोंमें और तुम्हारे गुरुओंमें फर्क ही क्या रहा? यह तो बडा अच्छा गुरुस्थान प्राप्त किया—ऐसा कहना चाहिये! यदि शेष कुटुंबी (किसान आदि) जन लोक शब्दसे अभिप्रेत हैं तो क्या ये उनके जैसे कूट तोल मापका व्यवहार करने वाले और खेत बोना, ईख लगाना, पानी सींचना, क्यारे बनाना—इत्यादि प्रकारका कृषिकर्म करने वाले हैं? यदि ऐसा ही करते हैं, तो इनका गुरुपद बहुत ही ठीक समझना चाहिये! अगर कहो कि अधम जन लोक शब्दसे लेना चाहिये, तो फिर कुंभार, धोबी आदिके आचारोंका अनुसरण करना होगा; सो क्या तुम्हारे गुरु वैसे ही आचार वाले हैं? यदि अधमाधमजन लोक शब्दसे लेना कहोगे, तो फिर चांडाल आदि जनोंके आचारोंका श्रेष्ठत्व मानना पडेगा। सो ही यदि ठीक है, तो फिर तुम्हारे गुरु भी धन्य ही हैं, जिनके ऐसे आचार हैं!'—इत्यादि प्रकारका अर्हद्दत्तका वैतंडिक विचार सुन कर, कमल खीज गया और बोला कि—'अरे, तूंने यह सब कहां सीखा था?' लोक-समाचार वह कहा जाता है जिसमें कहा गया है कि **'नित्यस्नायी नरकं न पश्यति'** अर्थात् जो नित्य स्नान करता है वह नरकको नहीं जाता। इसीतरह शौच करनेके विषयमें ऐसा कहा है कि **'एका लिंगे गुदे तिस्र'** इत्यादि। यही लोक-समाचार है और ऐसा समाचार श्वेतांबरोंमें नहीं है।'

सुन कर अर्हद्दत्तने कहा—'भाई कमल! यह आचार अव्यापक है। कोई श्रुतिवादी (ब्राह्मण) इस प्रकारसे शौचविधि नहीं करता। सब कोई राखका व्यवहार करते हैं। तो क्या फिर वे लोक बाह्याचारी सिद्ध नहीं होते? फिर लोकमें तो यह आचार भी नित्य नहीं है। क्यों कि अतिसारादिके होने पर इस विधिका भी पालन नहीं किया जाता। तथा तुम्हारे घरोंमें जो बच्चे होते हैं वे तो सबको छूते फिरते हैं। जो यौवन-धन-गर्वित हैं वे अनजानी वेश्याओंका मुंह चाटते फिरते हैं—उनका अधरपान करते रहते हैं। वे वेश्याएं धोबन हैं, रंगारिन हैं, या डूंबनी हैं यह कौन जानता है। उनके मुंहकी लाळाको चाटने वालोंकी शौच शुद्धि क्या होगी? वे फिर अपने घरमें जब आते हैं तब बासन-बरतनोंको छूते ही हैं। ऐसे जनोंके घरों पर भोजन लेने वाले त्रिदंडियोंके आचार कैसे शुचिवान् समझे जांय? फिर ये त्रिदंडी जब राजमार्गमें हो कर निकलते हैं तब, उस समय पनिहारियों आदिके वर्णशंकर समूहका संघट्ट होने पर, स्पर्शास्पर्शका विचार कहां किया जाता है? इसलिये यह शौचवादीपना निरर्थक है। और जो यह कहा कि नित्य स्नान करने वाला नरकको नहीं जाता, इसमें तो त्रिदंडीयोंकी अपेक्षा मगर, मच्छ, कछुए आदि जलचरोंकी अधिक जीत होगी। इसलिये भाई कमल! अच्छी तरह सोच विचार कर मनुष्यको बोलना चाहिये। जिसमें भी तुम्हारे जैसोंको तो विशेष रूपसे।' तब कमलने कहा—'इसके लिये तुम लोगोंको मना करो, हमको

उसमें कोई आपत्ति नहीं होगी।' तब अर्हद्दत्तने कहा—'क्या तुम अनीतिको रोकना पसन्द न
यदि करते हो तो फिर तुमको भी लोगोंको ऐसे निंदात्मक कथनसे रोकना चहिये। और फिर
इन भागवतोंके विरुद्धमें भी कुछ कहते नहीं रहते हैं?' कमलने उत्तरमें कहा—'क्या हमारे
**श्वेतांबरों**की तरह विरुद्ध लोकाचरण करते हैं?' उत्तरमें अर्हद्दत्तने कहा—'सो मैं नहीं
लोगोंको पूछो।'

इस तरह वह कमल वणिक, त्रिदंडियों द्वारा जो साधुओंकी निंदा की जाती थी उसको पस
करता था, लेकिन रोकता नहीं था। उसके पापसे वह मर कर दुर्गतिमें गया और
जन्म-जन्मांतरोंमें भयंकर दुःख भोगता रहा।

बादमें, किसी पुण्यके उदयसे महाविदेहमें एक अच्छे कुलवान सेठके वहां पुत्ररूपसे उसने जन्म
लेकिन जब वह पांच वर्षका हुआ तो महामारीकी बिमारीके सबबसे उसके घरके सब मनुष्य म
वह अनाथ हो कर घर-घरसे भीख मांगने जैसा हो गया। अन्य किसी समयमें वहां पर के
महात्मा आये तो अन्यान्य लोगोंके साथ वह भी उनको वंदन करनेको गया। अवसर पा क
केवलीसे पूछा कि—'भगवन्! मैंने किसी पूर्व जन्ममें ऐसा क्या अशुभ कर्म किया है जिसके फ
बडे अच्छे धनवान् कुलमें जन्म ले कर भी मैं इस प्रकारकी दुःखित अवस्थाको प्राप्त हुआ? बा
ही माता-पिता मर गये, धन जो जिसके पास था वह उसीके पास रह गया, जो भी जमीनमें कुछ
वह जमीनमें ही दबा रहा और मैं वैसे बापका बेटा हो कर भी भीख मांगता फिरता हूं और
अच्छी तरह नहीं पा रहा हूं—घर-घर पर कठोर वचन सुननेको मिलते हैं। तो मेरे कौनसे
यह फल है?।

तब केवलीने कहा—'भद्रमुख, प्रायः जीर्णशेष ऐसे पुरातन कर्मका यह फल है।' ऐसा क
उन्होंने उसके उस पूर्वजन्मका सब हाल कह सुनाया और कहा कि—'साधुजनोंकी निंदामें अ
देनेवाले उसी कर्मका यह फल तूं भोग रहा है।' तब उस लडकेने पूछा कि—'अब इसकी शु
लिये कोई प्रायश्चित्त भी है?' उत्तरमें केवलीने कहा कि—'साधुजनोंका सम्मान—बहुमान—सत्कार
कार्य करनेसे ये अशुभ कर्म दूर हो सकते हैं। तब वह श्रावक बना और यह अभिग्रह किया कि 'जब
साधुजन विचरते हुए इस शहरमें आवेंगे तो मैं उनका अभिगमन-वंदन-नमन आदि किया करूंगा
शक्तिके मुताबिक उन्हें अन्न और वस्त्रका दान दूंगा। यदि प्रमादके वश किसी दिन मैं यह न कर
तो उसदिन मैं अन्नका त्याग करूंगा।' इस प्रकारका अभिग्रह ले कर वह अपने घर पर गया। उ
भावविशुद्धिसे फिर उन आवरक कर्मोंका क्षयोपशम होने लगा और उसके परिणाममें उसकी वह
हुई संपत्ति प्रकट होने लगी। वह फिर बडी उत्कट भक्तिसे साधुओंका अभिगमन-वंदनादि स
करने लगा और उनको अन्नादिका दान देने लगा। वस्त्र-पात्र-कंबल आदि वस्तुएं दे कर साधुअ
सम्मानित करने लगा। इस तरह बहुत समय तक श्रावक धर्मका पालन करके और फिर उत्तरावस्थ
श्रमणव्रत ग्रहण करके उसका आराधन करने लगा। अन्तमें मर कर सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ
फिर वहांसे च्युत हो कर मोक्ष गतिको प्राप्त हुआ।

इस कथानकगत वर्णनसे यह ज्ञात होगा कि शौचाचारप्रधान ब्राह्मणधर्मीय त्रिदंडी संन्यासी आ
परिब्राजकों द्वारा, जैन साधुओंके शौचाचार विषयक विचारोंके बारेमें कैसे आक्षेप किये जाते थे औ
जैनों द्वारा उसके किस तरह प्रत्युत्तर दिये जाते थे।

*

## शौचवादी ब्राह्मणभक्त कौशिक वणिकका कथानक

ऐसा ही एक और कथानक जिनेश्वर सूरिने लिखा है जिसमें यह सूचित किया गया है कि सामान्य ब्राह्मण भी अपनी जातिके गर्वका कैसा अहंकार रखता है और जैनोंके शौचाचारकी कैसे निन्दा किये करता है। यह कथानक २९ वां, कौशिक वणिक कथानक है। पाठकोंके मनोरंजनार्थ एवं ज्ञानार्थ इसका भी सार यहां दे देते हैं।

पाटलिपुत्र नामक नगरमें एक कौशिक नामक जन्मदरिद्री वणिक रहता था। उसी नगरमें वासव नामक एक धनवान् श्रमणोपासक (श्रावक) था जो कौशिकका बालमित्र था। वह कौशिक वणिक् ब्राह्मणोंका भक्त था। उसके पडोसहीमें एक सोमड नामक ब्राह्मण रहता था जो अपनी जातिके लिये बडा गर्व रखता था। सोमड और कौशिक दोनोंका उठना-बेठना एक साथ रहा करता था।

एक दफह वे दोनों साथ बैठे हुए थे। उस समय वह डोड्डा† (ब्राह्मण) जैन साधुओंकी निन्दा करने लगा। कौशिकने उसको कुछ मना नहीं किया और चुप हो कर बैठा रहा। इतनेमें वह वासव वहां पर आ पहुंचा। उसे देख कर सोमड बोलता हुआ चुप हो गया। वासवने पूछा–'कौशिक, क्या करते हुए बैठे हो? कुछ भी खुशी होने जैसा कोई प्रसंग मिला है क्या?' कौशिकने कहा–'नहीं, वैसा तो कुछ नहीं है।' वासव–'क्यों वैसा क्यों नहीं है? साधुनिन्दासे बढ कर भले आदमियोंके लिये खुशी होनेका और क्या प्रसंग हो सकता है?' कौशिक बोला–'मैंने क्या अपराध किया?' वासव–'यदि इस डोड्डे (ब्राह्मण) को निन्दासे रोक नहीं सकता है, तो क्या उठ कर दूसरी जगह चले जाना भी नहीं बनता है?' क्या तुझे इस नीतिवाक्यका पता नहीं है कि–'जो महापुरुषोंके विरुद्ध बोलता है वह ही नहीं बल्कि जो वैसा सुनता रहता है वह भी पापका भागी बनता है। इसलिये तूं तो इस डोड्डेसे भी अधिक पापी है। और अरे डोड्ड! तूं खुद कैसा है जो साधुओंको निंद रहा है?' डोड्ड–'वे शौच धर्मसे वर्जित है इसलिये।' वासव–'बता तो वह कौनसा शौच धर्म है जिससे हमारे साधु वर्जित है?। सोमडने कहा–'शास्त्रोमें कहा है कि–"मनुष्यको शौच शुद्धिके निमित्त, लिंगको एक वार, गुदाको तीन वार, एक हाथको दश वार, और दोनों हाथोंको सात वार मिट्टीसे साफ करना चाहिये। यह शौचविधि गृहस्थोंके लिये हैं। ब्रह्मचारियोंको इससे दुगुनी, वानप्रस्थोंको तिगुनी और यतियोंको चारगुनी शौचशुद्धि करनी चाहिये।" इत्यादि।

सुन कर वासवने कहा–'अरे भाई, तब तो तूं मर गया समझ। क्यों कि तुम्हारे मतमें तो मधुसूदन (विष्णु)को सर्वगत बतलाया है। जैसा कि नीचेके श्लोकमें कहा है–

**अहं च पृथिवी पार्थ! वाय्वग्निजलमप्यहम्। वनस्पतिगतश्चाहं सर्वभूतगतोऽप्यहम्॥**
**यो मां सर्वगतं ज्ञात्वा न हनिष्यति कदाचन। तस्याहं न प्रणस्यामि स च न मे प्रणस्यति॥**

इस कथनानुसार पृथ्वी भी वासुदेव है, जल भी वासुदेव है। उन्हींसे शौच किया जाता है! तो फिर इस तरह अपने; देवद्वारा आपका धावन आदिकी क्रियाएं करना संगत है क्या?। और जो तूं यह कहता है कि साधु तो शूद्र है; सो तूंने वह श्लोक पढा है या नहीं? जिसमें कहा गया है कि जो ब्राह्मण हो कर तिलमात्र प्रमाण भी भूमिका कर्षण करता है वह इस जन्ममें शूद्रत्व प्राप्त करता है और मर कर नरकमें जाता है।"

**तिलमात्रप्रमाणां तु भूमिं कर्षति यो द्विजः। इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतो हि नरकं व्रजेत्॥**

† जिनेश्वर सूरिने जैन निन्दक ब्राह्मणके लिये यह नया शब्द प्रयोग किया है जो शब्दकोशवालोंको विचारने लायक है।

फिर तुम तो ब्राह्मण हो कर स्वयं हल–जोत्र आदि देते दिलाते हो। अरे डोड्ड! यह तो जीभसे दाभका काटना जैसा तुम्हारा व्यवहार है; इसलिये हठ, यहां से दूर हो। और तूं कौशिक, हमारा बालमित्र हो कर भी हमारे गुरुओंकी निन्दा सुन कर दुगुना खुश हो रहा है और हमारे सन्मुख भी तूं इसे मना नहीं कर रहा है! इसके लिये हम तुझे क्या कहें?' कौशिक–'क्या मैं लोगोंका मुह बन्ध कर सकता हूं? इसमें मेरा क्या अपराध है?' ऐसा कह कर वे डोड्ड और कौशिक दोनों दूसरी तरफ चले गये।

एक दिन फिर वह डोड्ड दुकानमें बैठा हुआ साधुओंकी निन्दा करने लगा और कौशिक उसमें अपना अर्धहास्य मिलाने लगा। इतनेमें उसके सिर परके आकाशमार्गसे एक विद्याधर मिथुन उड कर निकाला। विद्याधरीने उस डोड्डकी बातें सुनी और वह अपने पतिको कहने लगी कि–'यह बहुत ही साधुनिन्दा कर रहा है इसलिये इसे कुछ शिक्षा करनी चाहिये।' तब विद्याधरने अपने विद्याबलसे उसके शरीरमें १६ भयंकर रोग पैदा कर दिये और कौशिकको भी ज्वर और सांसके दो दुष्ट रोगोंसे आक्रान्त बना दिया। उनसे पीडित हो कर वे दोनों मृत्युको प्राप्त हुए और नरकगतिमें गये। इत्यादि।

*

इस प्रकार ब्राह्मणोंके साथ होते रहने वाले जैन साधुओंके आक्षेप-प्रतिक्षेप और वाद-विवादरूप संघर्षणके चित्र कुछ अन्यान्य कथानकोंमें भी अंकित किये गये दृष्टिगोचर होते हैं। इन कथानकोंके वर्णन परसे ऐसा ज्ञात होता है, कि जैन साधुओं पर ब्राह्मणोंका आक्षेप, मुख्य करके शौच धर्मको लक्ष्य कर होता रहता था और ब्राह्मणों पर जैन साधुओंके आक्षेप, खास करके वेदविहित हिंसाधर्मके एवं ब्राह्मण जातिके महत्त्व विरुद्ध होते रहते थे। ब्राह्मणों और जैनोंका यह पारस्परिक संघर्ष केवल शाब्दिक या वाचिक वाद-विवाद तक ही सीमित नहीं रहता था; कभी कभी तो वह शारीरिक शिक्षा और पीडाके रूपमें भी परिणत होता रहता था। ब्राह्मणों द्वारा जैन श्रमणोंको सताये जानेके अनेक दृष्टान्त जैन कथाओंमें मिलते हैं। जिनेश्वर सूरिने भी ऐसे कुछ कथानक इस ग्रन्थमें ग्रथित किये हैं, जिनमें ब्राह्मणों द्वारा जैन साधुओंको शारीरिक कष्ट पहुंचानेके प्रसंग चित्रित मिलते हैं। नीचे एक ऐसा ही कथानकका भावार्थ दिया जाता है जिससे यह ज्ञात होगा कि किस तरह एक ब्राह्मण जैन साधुओंको कष्ट देना चाहता है और उसके प्रतिकार रूपमें किस तरह जैन श्रावक अपने पक्षके राजा द्वारा ब्राह्मणोंको दण्ड दिलाता है। धनदेव नामक ३१ वें कथानकमें इसका चित्र अंकित किया गया है जिसका सार निम्न प्रकार है।

## ब्राह्मणके उपद्रवसे जैनसाधुकी रक्षा करनेवाले धनदेव श्रावकका कथानक

कुशस्थल नामक नगरमें हरिचंद नामका राजा राज्य करता था। वहां पर धनदेव नामक सेठ रहता था जो जैनधर्मका दृढ उपासक था। वह जीवाजीवादि तत्त्वोंका जानने वाला पुण्य-पापको समझने वाला और सम्यक्त्वमूलादि अणुव्रतोंका पालन करने वाला था। चैत्यपूजा करनेमें वह रत रहता था और साधर्मिकोंमें वात्सल्यभाव रखता था। वह नगरके सेठ, सार्थवाह, आदि धनिक जनोंका नेत्र स्वरूप हो कर, बहुतसे कार्योंमें लोक उसकी सलाह लेते थे। इस प्रकार वह सब जनोंका सम्मानित, बहुमानित और श्रद्धास्पद हो कर श्रावक धर्मका परिपालन करता रहता था।

एक दिन वहांके विष्णुदत्त नामक ब्राह्मणने निष्कारण ही कुपित हो कर देशान्तरसे आये हुए सुव्रतसूरिके साधुओंको भिक्षानिमित्त फिरते देख कर, अपने छात्रों द्वारा उनको कडी धूपमें खडे करवा कर अटकमें रखा। धनदेव सेठने उनको देखा और वन्दन करके पूछा कि – 'भन्ते, आप क्यों इस तरह धूपमें खडे हैं?' तब उनमें गुणचन्द नामक जो एक ज्येष्ठ साधु था उसने कहा – 'विष्णुदत्त ब्राह्मणने अपने छात्रों द्वारा हमको रोक रखा है और जाने नहीं देता है?' वह ब्राह्मण अपने मकानमें उपर बैठा हुआ था उसको पुकार कर धनदेवने कहा कि – 'भाई, किसलिये साधुओंको सता रहा है?'

उसने कहा – 'इन्होंने मुझ पर कोई कार्मण प्रयोग कर रखा है, इसलिये ऐसा किया जा रहा है।'

सुन कर सेठने साधुओंसे कहा – 'जाईये भन्ते, आप अपने वसतिस्थानमें।'

फिर उसने अपने मनुष्य द्वारा उन छात्रोंको गलेसे पकडवाया तो वे चिल्लाने लगे। विष्णुदत्त मकानमें उपर रहा हुआ सेठको धमकाने लगा कि – 'अरे किराट! (वणिकजनोंको कुत्सित भावसे सम्बोधन करना होता है तब इस निन्दासूचक किराट शब्दका व्यवहार किया जाता है) क्यों वृथा मौत मांग रहा है?' सुन कर सेठने उत्तरमें कुछ नहीं कहा। साधु अपने स्थानमें चले गये और सेठ भी अपने घर गया। फिर सेठने मनमें सोचा, शास्त्रोंका उपदेश है कि – "सामर्थ्यके होने पर, आज्ञाभ्रष्टके कार्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। और यदि अनुकूल साधन हो तो उसको शिक्षा देनी-दिलानी चाहिये।" सो इस वचनका स्मरण करता हुआ वह राजकुलमें गया; और राजासे कहने लगा कि – 'देव, पूर्वर्षियोंके ऐसे वचन हैं कि – अनार्य और निर्दय ऐसे पापी मनुष्यों द्वारा यदि तपस्वीजन सताये जायं, तो राजा पिताकी तरह उनकी रक्षा करे। ज्ञान, ध्यान, तपसे युक्त और मोक्षाराधनमें तत्पर ऐसे साधुओंकी रक्षा करता हुआ राजा, उनके धर्म-कर्ममेंसे छठवां भाग प्राप्त करता है' – इत्यादि।

सुन कर राजाने पूछा – 'सेठ! क्या बात है?'

सेठने कहा – 'देव! विष्णुदत्त ब्राह्मणने अपने छात्रों द्वारा साधुओंको कडी धूपमें खडा करवा कर उनको कष्ट पहुंचाया है। ऐसा तो किसी अराजक तंत्रमें हो सकता है। महाराजके राजशासनमें तो आज तक ऐसी कोई नीति नहीं देखी गई है। इसमें अब आप जो करें सो प्रमाण है।'

सुन कर राजाने कोटवालको बुलाया और आज्ञा की कि – 'उस डोड्डु को (जिस तरह वणिकके लिये उपर्युक्त 'किराट' कुत्सावाची शब्द है इसी तरह ब्राह्मणके लिये यह 'डोड्डु' कुत्सावाची शब्द है) जल्दी बुला कर लाओ।'

इसी बीचमें वह विष्णुदत्त भी बहुतसे डोड्डुओंको साथमें ले कर राजकुलके द्वार पर आ कर खड हो गया। प्रतिहारके निवेदन करने पर वे सभाभवनमें गये। **'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्ध श्रवा'** इत्यादि प्रकारका आशीर्वाद देते हुए राजाको अक्षत (चावल) समर्पित करने लगे। राजाने उनका स्वीकार नहीं किया। फिर वे ब्राह्मण जमीन पर बैठ गये।

राजाने कहा – 'क्या राजा तुम हो या मैं हूं?'

ब्राह्मणोंने कहा – 'किसलिये यह प्रश्न किया जा रहा है?'

राजाने कहा – 'तुम राजाकी तरह व्यवहार कर रहे हो इसलिये।'

ब्राह्मणोंने पूछा – 'किसने और कहां?'

तब राजाने पूछा कि – 'किसलिये तुमने साधुओंको क्लेशित किया है?'

तब उस डोड्डेने कहा – 'साधुओंने मुझ पर कार्मण प्रयोग किया है इसलिये उनको अटकमें रखा था। धनदेव सेठने एक लाख दीनारोंकी हमारी थापण (धरोहर) रख छोडी है।'

तब राजाने कहा – 'उन्होंने जो कार्मण किया है तो मुझसे आ कर कहना था। मैं उसका दण्ड देता। लेकिन तुम शिक्षा करनेवाले कौन?'।

और सेठने कहा – 'तुम अपनी थापण (धरोहर) उठा ले जाओ।' तो डोड्डेने कहा – 'हमारे पास लाख दीनार नहीं है।'

फिर राजाने कहा – 'यदि यह सही निकला कि उन साधुओंने यंत्रादि (कार्मण) कर्म किया है तो मैं उनके हाथ कटवा डालूंगा, और यदि उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया है और तुमने असत्य बात बना कर कही है तो फिर तुम्हारी जीभ कटवाई जायगी। इस लिये अपनी 'शुद्धि' करके दिखाओ।'

ब्राह्मणोंने कहा – 'महाराज! क्या ब्राह्मणोंके सन्मुख ऐसा उल्लाप करना उचित है? शास्त्रकारका आदेश है कि – "ब्राह्मण यदि सब पापोंसे लिप्त हो, तब भी उसको किसी तरह मारना न चाहिये। अपराधी ब्राह्मणको उसके सब धनके साथ, विना शारीरिक हानि पहुंचाये, राष्ट्रसे बहार कर देना चाहिये।" – इत्यादि।

सुन कर राजाने कहा – 'ब्राह्मण कहते किसको हैं? जो जितेन्द्रिय हैं, क्षान्तिमान् हैं, श्रुतिपूर्ण कर्णवाले हैं, प्राणिहिंसासे निवृत्त हैं, और परिग्रहसे संकुचित रहते हैं वे ब्राह्मण हैं; और वे ही मनुष्योंके पूज्य समझे जाते हैं। अकार्यमें प्रवृत्त होनेवाला जातिमात्रसे ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं कहा जाता। इसलिये या तो 'शुद्धि' करो अथवा फिर देश छोड कर बहार चले जाओ। तुम्हारे लिये और कोई गति नहीं है।

इस बीचमें एक अन्य डोड्डेने कहा – 'महाराज! यह तुम्हारा अन्याय है। ऐसा कहते हुए तुम्हारे सन्मुख ही मैं गलेमें फांसा खा कर लटक मरूंगा।'

सुन कर, भ्रूकुटी चढाते हुए, राजाने अपने मनुष्योंको सूचना दी। उन्होंने एकसाथ सब ब्राह्मणोंको पकड लिया। राजाने कहा – 'तुम स्वयं क्यों मरोगे? – मैं ही तुम्हें मरवाऊंगा।'

तब ब्राह्मणोंने कहा – 'महाराज! क्या इन अधम शूद्रोंके लिये ब्राह्मणोंके उपर इस प्रकार निर्दय होना उचित है?'

राजा – 'क्या सूतके डोरे (धागे) से [यज्ञोपवीतके सूतको लक्ष्य कर यह कथन है] तुम ब्राह्मण हो या क्रियासे? यदि सूत्रमात्रसे ब्राह्मणत्व आ जाता है, तब तो अब्राह्मण कोई नहीं रहेगा। यदि क्रियासे ब्राह्मणत्व है, तो साधुओंकी हत्या करनेमें निरत और उन्मार्गमें प्रवृत्त ऐसे तुम्हारी क्रिया कौनसी है? साधुओंकी हत्या करनेरूप क्रियासे तो ब्राह्मण बन नहीं सकते। इससे तो फिर डोंब और चंडाल आदि भी ब्राह्मण माने जाने चाहिये। यदि कहो कि होम-यागादि क्रियाके कारण ब्राह्मणत्व है, तब भी साधुओंको क्लेशित करनेवाले तुम ब्राह्मण नहीं हो।'

ब्राह्मणोंने (धनदेव सेठको उद्देश करके) कहा – 'अरे किराट! तुझे ब्रह्महत्याका पाप लगेगा। इससे तेरा कहीं छुटकारा न होगा।'

राजा – 'मैंने तुमको अन्याय करनेवाले समझ कर पकडा है और बन्दी बनाया है, फिर इस किराटको क्यों शाप दे रहे हो? यदि तुममें कुछ भी शक्ति है तो मुझसे कहो। अथवा नीतिसे वर्तो।

खाली वाणीके आडंबरसे कुछ नहीं होनेवाला है। यदि तुम जा कर उन साधुओंकी और सेठकी क्षमा नहीं मांगो तो मैं तुमको छोडनेवाला नहीं हूं।'

राजाके कथनको ब्राह्मणोंने मान्य किया। साधुओंकी और सेठकी उन्होंने क्षमायाचना की। सेठकी इससे सर्वत्र प्रशंसा हुई कि – अहो! सेठने साधुओंका कैसा प्रभाव बढाया है। इत्यादि। इस तरह श्रावक धर्मका पालन कर वह सेठ मर कर स्वर्गमें गया।

*

## जिनेश्वर सूरिका विविध विषयक शास्त्रोंका परिज्ञान

इस प्रकार प्रत्येक कथामें जिनेश्वर सूरिने किसी-न-किसी विषयको उद्दिष्ट करके अपना बहुशास्त्रपरिज्ञान और सांप्रदायिक सिद्धान्त प्रकट करनेका प्रयत्न किया है। इन कथाओंमें जो प्रासंगिक वर्णन किये गये हैं उनसे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारको अपने सैद्धान्ति ज्ञानके विषयोंके सिवाय आयुर्वेद, धनुर्वेद, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, धातुवाद, रसवाद, गारुड और तांत्रिक शास्त्र आदिके विषयोंका भी बहुत कुछ परिज्ञान था।

सूरसेना-कथानकमें ( पृ. २७–२८ ) गर्भवती स्त्रीको अपने गर्भकी ठीक परिपालना करनेके लिये किस तरहका अपना आहार विहार आदि रखना चाहिये इसका वर्णन **आयुर्वेद** शास्त्रके कथन मुताबिक किया गया है।

जिनदत्तके कथानकमें ( पृ. २४ ) राजकुमारने **धनुर्वेद** शास्त्रके अनुसार जो शिक्षा प्राप्त की थी उसका उल्लेख किया है। इस शास्त्रमें धानुष्ककलाके आलीढ, प्रत्यालीढ, सिंहासन, मंडलावर्त आदि जिन प्रयोगोंका वर्णन आता है उनका संक्षिप्त निर्देश भी इस कथानकमें किया गया है।

सिंहकुमारके कथानकमें ( पृ. ४०–४१ ) **गान्धर्व** कलाका परिचायक कुछ वर्णन करते हुए, तंत्रीसमुत्थ, वेणुसमुत्थ और मनुजसमुत्थ नादोंका वर्णन किया है। नादका उत्थान कैसे होता है, उसके स्थानभेदसे कैसे स्वरभेद होते हैं, और फिर उसके ग्राम, मूर्च्छना आदि कितने प्रकारके रागभेद आदि होते हैं – इसका सूचन किया गया है। इसमें यह भी सूचित किया गया है कि यह शास्त्र तो बहुत बडा कोई लाख श्लोक परिमित विस्तारवाला है।

इसी कथानकमें आगे ( पृ. ४५ ) **भरतके नाट्यशास्त्र**का उल्लेख है। सिंहनामक राजकुमारके सन्मुख एक कुशल नर्तिका जब नृत्य करने लगी और उसने नृत्यका प्रयोग करते समय यथास्थान ६४ हस्तक और ४ भ्रूभंगोंके साथ तारा, कपोल, नासा, अधर, पयोधर, चलन आदिक भंगोंका अभिनय किया और फिर राजकुमारकी परीक्षाके लिये कपोलभंगके स्थानमें ताराभंग करके विपर्यय अभिनय किया, तो राजकुमारने उसके उस विपर्यय भावके लिये पूछा कि – 'यह किस शास्त्रके विधानानुसार अभिनय किया जा रहा है?।' इसके उत्तरमें उसने कहा कि – '**भरत**शास्त्रके अनुसार।' तो प्रत्युत्तरमें राजकुमार कहता है कि – 'भरत शास्त्र तो सूत्र और विवरणके साथ सारा ही मेरे कंठस्थ है। उसमें तो कहीं ऐसा विधान नहीं है।' इत्यादि।

सुन्दरीदत्त कथानकमें ( पृ. १७२–७३ ) **धातुवाद** और **रसवाद** शास्त्रका उल्लेख है। रसशास्त्रमें रसके कितने प्रकार हैं और उससे किन पदार्थोंकी निर्मिति आदि होती है इसका संक्षिप्त सूचन है। सुन्दरीदत्त, सागरदत्त नामक सेठका इकलौता पुत्र था। उसको विविध प्रकारकी विद्या-शिक्षा दिलानेके

लिये पिताने कलाचार्यो द्वारा उसका विद्याध्ययन करवाया। पुत्रने यद्यपि गांधर्व, नाट्य, अश्वशिक्षा, शस्त्रसंचालन आदि कई कलाएं सीखी थीं तथापि सेठको उसमें अनुराग नहीं था। सेठ 'अर्थशास्त्र'के महत्त्वको अधिक समझता था इसलिये उसने पुत्रसे कहा, कि 'गांधर्व, नाट्य आदि सब कलाएं तो परोपजीविनी कलाएं हैं। अर्थात् इन कलाओंके ज्ञाताओंका जीवन दूसरोंकी कृपा और सहायताके उपर निर्भर रहता है। हमको इनकी आवश्यकता नहीं। हमें तो जिससे 'त्याग, भोग, और धर्म' सिद्ध होता है उस 'अर्थ'से प्रयोजन है। वह 'अर्थ' जिसके द्वारा प्राप्त होता हो वही कला हमारे लिये महत्त्वकी कला है।' इसलिये उस सेठपुत्रने 'धातुवाद' और 'रसवाद' की शिक्षामें प्रावीण्य प्राप्त किया। इत्यादि। इससे हमें यह संकेत मिलता है कि जिनेश्वरसूरिके समयमें भी विपुल अर्थोपार्जनका उपाय 'धातुविज्ञान' और 'रसविज्ञान' समझा जाता था। आजके हमारे इस युगमें भी अर्थोपार्जनका सबसे बडा सहायक 'विज्ञान' यही हो रहा है।

इसी सुन्दरीदत्त कथानकमें एक जगह (पृ. १७६) राज्यपालनके कार्यकी दुष्करताका वर्णन किया गया है जिसमें कौटल्यके अर्थशास्त्रगत विचारोंका ठीक अनुवाद दिया गया प्रतीत होता है। इसमें राजाको अपना राज्यपालन करते हुए किस तरह सब प्रकारसे सावधान रहना चाहिये, इसका जो वर्णन है उसमें कहा गया है कि—राजाको अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं करना चाहिये। अपने पुत्रोंकी एवं अमात्य और सामन्तोंकी विश्वस्तताका भी सदा परीक्षण करते रहना चाहिये। हाथी, घोडे, वैद्य, महावत, महाश्वपति, दूत, सांधिविग्रहिक, पानीहारक, महानसिक, स्थगिकावाहक, शय्यापालक और अंगरक्षक आदि सब पर शंकाकी नजर रखनी चाहिये।

इस प्रकार, राजतंत्रकी रक्षाके लिये राजाओंको कैसे कैसे छल-कपट आदिके प्रयोगोंका उपयोग करना पडता है—इसका जो वर्णन दिया गया है वह कौटल्यके अर्थशास्त्रमें राजपुत्ररक्षण, निशान्त-प्रणिधि, अमात्यशौचाशौचज्ञान आदि प्रकरणोंमें जो विधान मिलता है ठीक उसीका सूचन करनेवाला है।

नागदत्त कथानकमें (पृ. १२–१३) एक राजकुमारको कालसर्पके डसनेका प्रसंग आलेखित है जिसमें यह बताया गया है कि किस तरह गारुडिकोंने गारुडशास्त्रोक्त मंत्र-तंत्र आदिका प्रयोग करके मृत राजकुमारको जीवित करनेका निष्फल प्रयत्न किया—इत्यादि।

इस तरह इस ग्रन्थमें कहीं पुत्रजन्मोत्सव, कहीं विवाहोत्सव, कहीं चैत्यपूजा-उत्सव आदि भिन्न भिन्न प्रकारके सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक विषयोंके वर्णनके जहां जहां प्रसंग प्राप्त हुए वहां वहां, जिनेश्वर सूरिने अपने लौकिक और पारलौकिक बहुविध परिज्ञानका विशिष्ट परिचय करानेकी दृष्टिसे, अनेक प्रकारकी विचार-सामग्रीका संचय ग्रथित करनेका सफल प्रयत्न किया है, और इसलिये जैन कथासाहित्यमें इस ग्रन्थका अनेक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

* *
*